
Durga Sah Municipal Library
NAINI TAL
Class no. 891.4
Book no. P13P
Reg no. 324

हिन्दी-गौरव-ग्रंथमाला—२६वाँ ग्रंथ

प्रबन्ध-पारिजात

लेखक

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए०

प्रकाशक

साहित्य-भवन लिमिटेड,

प्रयाग।

थम संस्करण] सम्वत् १९८९ [मूल्य डेढ़ रुपया

प्रकाशक

साहित्य-भवन लिमिटेड,

प्रयाग।



मुद्रक

शारदाप्रसाद ख

हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्र

भूमिका

जब साहित्य भवन लिमिटेड के मैनेजर साहब ने मुझे अपने निबन्धों के संग्रह में प्रबन्ध-रचना पर भी कुछ लिखने के लिए कहा तब मैंने उनके प्रस्ताव को बड़े हर्ष से स्वीकार कर लिया। प्रबन्ध लिखने की अपेक्षा प्रबन्ध लिखने की शिक्षा दूसरों को देना सचमुच सरल काम है। दूसरों को उपदेश देना सदैव सुलसाध्य है। उसमें हम लोग शीघ्र ही कुशलता प्राप्त कर लेते हैं अथवा यह कहिए कि कौशल न रहने पर भी उस काम में हम लोग अपनी कुशलता प्रकट ही कर डालते हैं। इसी लिए इस पुस्तक के आरम्भ में मैं एक लम्बा चौड़ा प्रारम्भिक वक्तव्य लिखने का लोभ न रोक सका। उसमें मैं सभी बातें लिख चुका हूँ (अगर कोई बात छूट गई हो तो पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि वह छोड़ने योग्य ही बात थी!) पर एक बात लिखना भूल गया हूँ, उसी के लिए यह भूमिका है। लिखते समय कागज़, कलम, दावात और स्याही, ये चीजें ज़रूर ही रख लेनी चाहिए और ब्लाटिंग पेपर को तो बिलकुल अपनी आँखों के सामने अच्छी जगह पर रखना चाहिए, जिसमें मौका आने पर उसे ढूँढ़ने में तकलीफ़ न हो। मुझे इसका अच्छा अनुभव है। कभी कभी ब्लाटिंग पेपर खोजने में मुझे इतना समय लग गया कि तब तक मेरे लिखे कागज़ ही कहीं उड़ गये। जब लेख ही गायब हो गया तब मुझे ब्लाटिङ्ग पेपर मिला। उदीयमान लेखकों को मैं अच्छी तरह चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि सब भूल जाइए, पर ब्लाटिंग पेपर न भूल जाइए। इसके बाद आप यह देख लीजिए कि आप

के अक्षर सुवाच्य हैं या नहीं। कहीं ऐसा तो न हो कि लेख पढ़ने के लिए जगह जगह आपको ही दौड़ कर आना पड़े। इसका सबसे अच्छा उदाहरण मैं हूँ। मुझे गर्व है कि मेरे लेख को सौ में निन्नानवे लोग नहीं पढ़ सकते। प्रेस में कम्पोजिटर का ट्रायल लेने के लिए (और उसे अयोग्य सिद्ध करने के लिए!) मेरा ही लेख काम में लाया जाता है। पर मेरी इस योग्यता का फल यह हुआ कि मेरे इस प्रबन्ध-पारिजात में ही कीड़े लग गये, इसमें ऐसी ऐसी भूलें रह गई हैं कि कुछ कहते ही नहीं बनता। बात यह है कि मैं रहता हूँ राजनांदगाँव में और किताब छपी इलाहाबाद में। प्रूफ-संशोधक महोदय मेरे मित्र तो हैं, पर मेरी हस्त-लिपि से तो उन्होंने मैत्री की नहीं थी। शायद इसीलिए मैंने लिखा कुछ और उन्होंने पढ़ा कुछ। उदाहरण के लिए कुछ भूलें यहाँ लिखे देता हूँ।

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१३	५	हम	हमें
”	६	हम	हमें
”	११	लिये	लिए
१४	१५	गवा	गया
१६	६	भरडार	भाण्डार
१८	१०	बनगी	बनेगी
२०	५	पलग	पलंग
२९	१७	सन्यासी	संन्यासी
५७	३	औदाय	औदार्य
७७	१३	तुम्हारी	तुम्हारा
७७	१४	कमल !	कमल।
९७	२	द्रष्टि	दृष्टि

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१४५	११	राडाङ्ग	पैराडाइज
१५२	१५	दीप शिश	दीपशिखा
१५३	१७	दीपशिखेव	दीपशिखेव
”	”	भयं	यं सं
”	”	पाय	याय
”	१८	नरेन्द्र	नरेन्द्र
”	”	मार्गाह	मार्गाह
२१५	३	कालीन्दास	कालिदास
२१८	५	बिशाल	पिशल
२७७	२०	कोलहाने	कोलहार्न
२७७	२०	सामूयता	सहायता
२७२	१	विष्ठ	विष्ट
२७५	६	अस्तित	अस्तित्व
८७	१	आकृष्ठ	आकृष्ट
९१	३	रक्षिति	रक्षति
१५३	१८	प्रपंदे	प्रपेदे
”	”	विवर्णो भावं	विवर्णोभावं
”	”	ससं	सस
१५८	६	जभी	तभी
”	७	कृत्तिम	कृत्रिम
”	१५	उन्नति	उन्नति
१५८	९	दें जार्ट	रे जाट
१९१	११	भ य	भव

अधिक भूलें दिखलाने से अब लाभ ही क्या है। सम्भव है कि कुछ का कारण असावधानता भी हो। पर मैं उदीयमान लेखकों

से प्रार्थना करता हूँ कि कम से कम वे सुवाच्य लिपि में लिखने की चेष्टा करें।

मैंने अपने निबन्धों में कितने ही विद्वानों के भावापहरण और अर्थापहरण किये हैं। दो एक निबन्ध अनुवाद-मात्र हैं। कुछ भावानुवाद हैं और अधिकांश में उन्हीं के विचार प्रकट किये गये हैं। उन्हें धन्यवाद देने की जरूरत नहीं है। परन्तु मैं पण्डित देवीदत्त जी शुक्ल को अवश्य धन्यवाद दूँगा। उन्होंने सभी कामों में मुझे सदैव सहायता दी है और इसमें भी दी है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

परिशिष्ट

निबन्ध लिखते समय व्याकरण के साधारण नियमों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। अतएव यहाँ हिन्दी व्याकरण की कुछ मुख्य बातें दी जाती हैं।

निबन्धों में वाक्य होते हैं और वाक्यों में शब्द। वाक्य में प्रयोग के अनुसार शब्दों के आठ भेद होते हैं---संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, संबंध-सूचक, समुच्चय-बोधक और विस्मयादि-बोधक।

किसी वस्तु, स्थान, भाव और काम या धर्म बतलाने वाले शब्द संज्ञा कहलाते हैं। जैसे पुस्तक, मनुष्य, घर, नगर, काशी भोपाल, विचार।

संज्ञा की विशेषता बतलाने वाले शब्द विशेषण कहलाते हैं। जैसे सुन्दर, काला, मीठा।

संज्ञा के बदले आने वाले शब्द सर्वनाम कहलाते हैं। जैसे मैं, जो, वह।

संज्ञाओं के विषयों में विधान करने वाले शब्द क्रिया कहलाते हैं। जैसे सोता था, खाता हूँ।

क्रियाओं की विशेषता बतलाने वाले शब्द क्रिया-विशेषण कहलाते हैं। जैसे झटपट, धीरे धीरे।

क्रिया से संज्ञाओं का सम्बन्ध बतलाने वाले शब्द सम्बन्ध-सूचक कहलाते हैं। जैसे सहित, समेत।

दो शब्दों या वाक्यों को मिलाने वाले शब्द समुच्चय-बोधक कहलाते हैं। जैसे और, या।

मनोविकार बतलाने वाले शब्द विस्मयादि-बोधक कहलाते हैं। जैसे हाय, ओह, वाह।

वाक्यों में प्रयोग के अनुसार शब्दों के भिन्न-भिन्न भेद होते हैं। अतएव किसी भी शब्द का भेद जानने के लिए हमें वाक्य में उसके प्रयोग पर ध्यान देना चाहिए। निम्नलिखित वाक्यों में चिन्हित शब्दों पर ध्यान दो। ये सभी शब्द संज्ञा हैं।—

उसके बड़ों का यह संकल्प है।

उसका भीतर बाहर एकसा है।

तुम उसके हां में हां मिलाते हो।

यहां की भूमि अच्छी है।

वहां हाय हाय मची है।

उनकी बड़ी वाह वाह हुई।

तुम्हारे लेख में कई बार फिर आया है।

नीचे थोड़े से ऐसे उदाहरण दिये जाते हैं जिनमें प्रयोग के अनुसार एक ही शब्द भिन्न भिन्न शब्द भेदों में आते हैं।

अच्छा—संज्ञा। अच्छों से मिलिए।

"—विशेषण। राम ने अच्छा काम किया।

"—क्रिया-विशेषण वह अच्छा दौड़ता है।

आगे—संज्ञा। पुस्तक आप के आगे में है।

"—क्रिया-विशेषण। आगे आया।

"—सम्बन्ध सूचक। वाटिका मन्दिर के आगे है।

और—विशेषण। और लड़कों ने क्या कहा।

समुच्चय-बोधक। राम और श्याम पढ़ने गये।

इसलिए—क्रिया-विशेषण। वह इस लिए नहाता है कि ग्रहण लगा है।

" समुच्चयबोधक। तू दुर्दशा में है, इसलिए मैं दान देना चाहता हूँ।

एक—विशेषण। एक दिन ऐसा हुआ।

"—सर्वनाम। एक आता है एक जाता है।

" क्रि॰ वि.। एक तुम्हारे ही दुःख से हम दुःखी हैं।

कुछ—सर्वनाम। घी में कुछ मिला है।

" विशेषण। कुछ पानी।

" क्रि. वि.। लड़की कुछ छोटी है।

केवल—विशेषण। राम को केवल प्रेम प्यारा है।

"—क्रि. वि.। तू केवल चिल्लाता है।

"—समुच्चयबोधक। वह अब तक चला गया होता, केवल एक तुम्हारी आशा से वह अटका हुआ है।

कोई—सर्वनाम। कोई गया है या नहीं।

"—विशेषण। तुम्हारी कोई पुस्तक अच्छी नहीं है।

"—क्रि. वि.। इसमें कोई दो सौ पृष्ठ हैं।

क्या—सर्वनाम। राम ने आप को क्या कहा।

"—विशेषण। वहां क्या बातें हुईं।

"—क्रि. वि.। घोड़े दौड़े क्या हैं उड़ आए हैं।

जो—सर्वनाम। बाघ जो बैठा था, मारा गया।

"—विशेषण। जो किताब चाहो ले लो।

दोनों—विशेषण दोनों लड़के चले गये।

"—सर्वनाम। दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम।

पत्थर—संज्ञा। पत्थर मत फेंको।

"—क्रि. वि.। तुम मेरी मदद पत्थर करोगे।

साथ—संज्ञा। विपत्ति में कोई साथ नहीं देता।

"—सम्बन्ध बोधक। मैं आप के साथ गया।

"—क्रि. वि.। वे लड़के साथ-साथ खेलते हैं।

यह—सर्वनाम। यह किसका घर है?

"—विशेषण। यह किताब किसकी है?

"—क्रि. वि.। लीजिए, महाराज मैं यह चला।

हां—क्रि. वि.। हां, मैंने यह काम किया।

"—संज्ञा। उसने हां में हां मिलाया।

क्रिआओं से जो संज्ञा या विशेषण बनाये जाते हैं उन्हें कृदन्त कहते हैं :—

लूटना—लूट
भड़ना—भाड़
चलना—चाल
पीना—पियक्कड़
घेरना—घेरा
मिलना—मेला
लड़ना—लड़ाई
टिकना—टिकाऊ
लड़ना—लड़ाकू
बनना—बनावट
पीना—प्यास
बांधना—बँधना
खाना—खवैय्या
मारना—मरक्कहा

संज्ञा-शब्दों में प्रत्यय लगाकर जो नए संज्ञा-शब्द या विशेषण-शब्द हम बनाते हैं उन्हें हम तद्धित कहते हैं :—

भूख से भूखा
बोझ " बोझा

भला	"	भलाई
राजपूत	"	राजपूताना
खेल	"	खिलाड़ी
मीठा	से	मिठास
झगड़ा	"	झगड़ालू
देश	"	देशी
नेक	"	नेकी
अँगूठा	"	अँगूठी
सांप	"	संपेरा
काला	"	कालापन
टोपी	"	टोपी-वाला

क्रियाओं से भूत कालिक कृदन्त विशेषण, वर्तमान कालिक विशेषण और अव्यय भी बनते हैं। जैसे पढ़ा, खाया, पढ़ता, बैठता, बैठे-बैठे, दौड़ते-दौड़ते। संस्कृत के कितने ही तत्सम शब्द हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं। ऐसे शब्दों में तद्धित-प्रत्यान्त शब्द भी हैं। अतएव उनका रूप जानना आवश्यक है।

ता—प्रभु—प्रभुता
त्व— " —प्रभुत्व
अ—सुहृद—सौहार्द
य—दिति—दैत्य
इ—दशरथ—दाशरथि
एय—कुन्ती—कौन्तेय
क—रेवती—रैवतिक
विन्—तेजस—तेजस्विन्
इन्—ज्ञान—ज्ञानिन्
मय—स्वर्ण—स्वर्णमय

इन—कुल—कुलीन

ग्राम—ग्रामीण

दो या दो से अधिक शब्दों को मिला कर समास बनाते हैं।

समास छः प्रकार के होते हैं। तत्पुरुष, अव्ययीभाव, कर्मधारय, द्विगु, द्वन्द्व और बहुव्रीहि।

तत्पुरुष में अन्तिम खण्ड प्रधान होता है और उसमें कर्म, करण, अपादान, सम्प्रदान, सम्बन्ध और अधिकरण कारकों की विभक्तियों का लोप किया जाता है।

जिस समास में पहला शब्द प्रधान होता है और जो समूचा शब्द क्रियाविशेषण होता है उसे अव्ययीभाव समास कहते हैं।

जिस समास में विशेष्य और विशेषण रहते हैं उसे कर्मधारय कहते हैं।

जिस समास में पहला शब्द संख्या-वाचक रहता है और जिससे समुदाय का बोध होता है उसे द्विगु कहते हैं।

जिस समास में दोनों शब्द प्रधान होते हैं और जिसमें और का लोप होता है उसे द्वन्द्व समास कहते हैं।

अपने पदों से भिन्न जो किसी दूसरी संज्ञा का विशेषण होता है उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं।

तत्पुरुष—स्वर्ग-प्राप्त, देश-गत, ईश्वर-दत्त, तुलसी-कृत भक्ति-वश, राज-पुत्र, प्राण-पति, देवालय ग्राम-वास।

अव्ययीभाव—यथाविधि, प्रतिदिन, यथास्थान, आजन्म, यावज्जीवन।

कर्मधारय—नराधम, श्यामकुमार, नीलकमल।

द्विगु—त्रिभुवन, त्रैलोक्य, षट्पदी, पंचवटी, नवग्रह।

द्वन्द्व—राधाकृष्ण, सेठ-साहूकार, फल-पुष्प।

बहुव्रीहि—जितेन्द्रिय, कृतकार्य, दत्तधन, उपहृतपशु, दशानन, सहस्रबाहु, चन्द्रमौलि, प्रफुल्लकमल।

वाक्य-रचना में कर्त्ता और क्रिया तथा विशेष्य और विशेषण के लिंग-वचन की समानता पर विशेष ध्यान देना चाहिए। चिन्ह-रहित कर्त्ता की क्रिया कर्ता के अनुसार रहती है। यदि वाक्य में एक ही लिंग, वचन, और पुरुष के कई चिन्हरहित कर्त्ता 'और' से संयुक्त हों तो क्रिया उसी लिङ्ग में बहुवचन में होगी। परन्तु यदि वाक्य में दोनों लिंगों और वचनों के कर्त्ता हों तो क्रिया बहुवचन के सिवा लिंग में अन्तिम कर्त्ता के अनुसार होगी। कर्त्ता में ने चिन्ह लग जाने से यदि कर्म चिन्ह रहित हैं तो क्रिया कर्म के अनुसार होगी। परन्तु यदि दोनों चिन्ह-युक्त हों तो क्रिया सदा एक वचन, पुल्लिंग और अन्यपुरुष में रहती है। सामासिक शब्दों के लिंग अन्तिम शब्दों के अनुसार होते हैं। विशेषण के लिंग और वचन विशेष्य के अनुसार होते हैं। विशेषण शब्दों और पूरक शब्दों में अन्तर अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। पूरक शब्दों के लिंग वचन उन्हीं के अनुसार होते हैं। वह स्त्री अच्छी है। यहां अच्छी विशेषण है। इसका लिंग वचन, स्त्री के अनुसार होगा। वह स्त्री रानी है। यहां रानी पूरक है और उसका लिंग वचन उसी के अनुसार है। रघुवंश एक अच्छी रचना है। यहां रचना पूरक है और स्त्री-लिंग है यद्यपि रघुवंश पुल्लिंग है। वह स्त्री क्षमा का पात्र है—क्षमा की पात्र लिखना ग़लत है।

रचना में साधारणतः व्याकरण के यही नियम काम में आते हैं और इन्हीं में प्रायःभूलें होती हैं। शब्दों के अर्थ न जानने के कारण भी उनके प्रयोग में भूलें होती हैं। नीचे लिखे शब्दों के अर्थ-भेद पर ध्यान देना चाहिए—अज्ञान,

अनभिज्ञ, अलौकिक, अस्वाभाविक, आधि, व्याधि, उपकरण, उपादान, दया, सहानुभूति, भ्रम सन्देह, द्वेष स्पर्धा, प्रकृत, प्राकृत। नीचे कुछ शब्दों के शुद्ध और अशुद्ध रूप दिये जाते हैं—

(१) उच्चारण, संयोग और अक्षरसम्बन्धी अशुद्धियाँ–

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
गर्द्धव	गर्दभ	भागवत्	भागवत
आधीन	अधीन	दर्शण	दर्शन
हिरणमयी	हिरण्मयी	सिंघ	सिंह
अनिष्ठ	अनिष्ट	दुर्णाम	दुर्नाम
घनिष्ठ	घनिष्ट	विष्मर्न	विस्मरण
पुष्कर्नी	पुष्करिणी	ब्रिहष्पति	बृहस्पति
उज्वल	उज्ज्वल	उत्पात्	उत्पात
द्वारिका	द्वारका	गगण	गगन
विषयिनी	विषयिणी	तड़ित	तड़ित्
फाल्गुण	फाल्गुन	स्मसान	स्मशान
निरिह	निरीह	नीरिक्षन	निरीक्षण
जागृत	जागरित	पैत्रिक	पैतृक
प्रवर्त्त	प्रवृत्त	भरथ	भरत
भागिरथी	भागीरथी	अहिल्या	अहल्या

(२) प्रत्ययसम्बन्धी अशुद्धियाँ—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
आवश्यकीय	आवश्यक	सम्बन्धीय	सम्बन्धी
उत्कर्षता	उत्कर्ष	साम्यत्व	साम्य
दारिद्रता	दरिद्रता	सिञ्चन	सेचन

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
धैर्यता	धैर्य	सिञ्चित	सिक्त
पार्वतीय	पर्वतीय	सौन्दर्यता	सौन्दर्य
बाहुल्यता	बाहुल्य	मान्यनीय	मान्य, माननीय
भाग्यमान	भाग्यवान्	बुद्धिवान्	बुद्धिमान्
महानता	महत्ता	सौजन्यता	सौजन्य
मैत्रता	मित्रता	अकाट्य	अखण्डनीय
विद्यमान्	विद्यमान्	अजानित	अज्ञात
विद्यामान्	विद्यावान	सराहनीय	श्लाघनीय
व्यवहारित	व्यवहृत	षष्ठम	षष्ठ
व्याकुलित	व्याकुल	सख्यता	सख्य
श्रीवान्	श्रीमान्	लक्ष्मीमान्	लक्ष्मीवान्

(३) समाससम्बन्धी अशुद्धियाँ—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
कृतघ्नी	कृतघ्न	निराशा	नैराश्य
गुणीगण	गुणिगण	पक्षीशावक	पक्षिशावक
महात्मागण	महात्मगण	शशीभूषण	शशिभूषण
निर्दोषी	निर्दोष	निर्धनी	निर्धन
निर्लज्जा	निर्लज्ज	दिवारात्रि	दिवारात्र
सक्षम	क्षम	नीरोगी	नीरोग
सतोगुण	सत्त्वगुण	निरपराधी	निरपराध
पितामक्ति	पितृभक्ति	भ्रातागण	भ्रातृगण

(४) सन्धिसम्बन्धी अशुद्धियाँ—

अत्योक्ति	अत्युक्ति	पित्रीण	पितृण
इतिपूर्व	इतःपूर्व	अक्षोहिणी	अक्षौहिणी

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
उपरोक्त	उपर्युक्त	प्रोढ़	प्रौढ़
जगबन्धु	जगद्बन्धु	अन्तस्पुर	अन्तःपुर
पश्वाधम	पश्वधम	अधस्पतन	अधःपतन
बारम्बार	बारंबार	पुरुस्कार	पुरस्कार
मनोकष्ट	मनःकष्ट	महद्उपकार	महोपकार
सदोपदेश	सदुपदेश	सन्मान	सम्मान
जगधात्री	जगद्धात्री	सन्मुख	सम्मुख
दुस्कर	दुष्कर	मनहर	मनोहर
मृण्मय	मृन्मय	गमनान्तर	गमनानन्तर
		रजोतम	रजस्तम

(५) पुनरुक्तिसम्बन्धी अशुद्धियाँ—

अशुद्ध	शुद्ध
पूज्यास्पद	पूज्य, पूजास्पद
ग्राह्ययोग्य	ग्राह्य, ग्रहणयोग्य
यौवनावस्था	यौवन, युवावस्था
पूज्यनीय	पूज्य, पूजनीय
अपने स्वाधीन	स्वाधीन
समतुल्य	समतुल्य
सुगन्धसौरभ	सुगन्ध,सौरभ
अधीनस्थ	अधीन

जानवरों और पक्षियों में उल्लू, कौआ, भेड़िया, चीता, खटमल और केंचुआ, पुल्लिंग में प्रयुक्त होते हैं पर चील, कोयल, बटेर, मैना, गिलहरी, जोंक, तितली और मक्खी स्त्रीलिंग में। झुंड, कुटुम्ब पुल्लिंग है पर भीड़, फौज, प्रजा, सरकार स्त्रीलिंग है।

सोना, ताँबा, पीतल, लोहा, सीसा, टिन पुल्लिंग है पर चाँदी स्त्रीलिंग है। पीपल, बड़, सागौन पुल्लिंग हैं पर नीम स्त्रीलिंग है। गेहूँ, चावल पुल्लिंग है पर मूंग और अरहर स्त्रीलिंग है। घी, दही, शर्बत पुल्लिंग है पर छाछ स्त्रीलिंग है। लौंग, केसर सुपारी स्त्रीलिंग है, पर कपूर और तेजपात पुल्लिंग है। खीर, दाल स्त्री-लिंग है पर भात, रायता पुल्लिंग है।

(६) विशेषण और विशेष्यसम्बन्धी अशुद्धियाँ—

अशुद्ध	शुद्ध
सन्तोषचित	सन्तुष्ट चित्त
साध्य को प्रमाण किया	साध्य को प्रमाणित किया
निश्चयपदार्थ	निश्चितपदार्थ
आश्चर्यदृश्य	आश्चर्यजनक दृश्य
गोपनकथा	गोपनीयकथा
वह खुशी हुआ	वह खुश हुआ
सावकाश नहीं	अवकाश नहीं है
सविनयपूर्वक	विनयपूर्वक, सविनय
सावधानपूर्वक	सावधान, अवधानपूर्वक
वास्तविक में	वास्तव में

विशेषण में लिङ्गसम्बन्धी अशुद्धियाँ—

अशुद्ध	शुद्ध
श्रीमान् रानी	श्रीमती रानी
गुणवान् स्त्री	गुणवती स्त्री
बुद्धिमान् बालिका	बुद्धिमती बालिका
जलवाही नदी	जलवाहिनी नदी
मूर्त्तिमय करुणा	मूर्त्तिमयी करुणा

हिन्दी में लिङ्ग की ही भूलें अधिक होती हैं। यहाँ हम विद्यार्थियों के लाभार्थ कुछ शब्दों की तालिका दे देते हैं—ये शब्द स्त्री-लिंग में प्रयुक्त होते हैं—

अहेर	अकड़	अचकन	अटक
अबेर	अक्ल	अफ़्यून	(अफीम)
अफ़वाह्	अमावस	अनबन	अपील
अरहर	आग	आमद	आब
आवाज़	आस्तीन	आह	आपद्
आंट	आड़	आन	आँख
आँच	आवभाव	आशीस	आसिख
इस्म	ईंट	ईख	उठ बैठ,
उड़ान	उतारन	उलझन	उम्मीद्
उम्र	ऊख	एड़	एवज़
ऐंठ	ओट	ओझल	औलाद्
औषध	क़दर	कन्दील	कमर
कमान	कल	कलक	कलम
कचकच	कच	पच	कतरन,
कमर	कसर	कमीज़	कसम
कानफरेंस	कांग्रेस	काँख	काटकूट
किमख़ाब	किताब,	किशमिश	किरण
कूक	कोयल	कोशिश	कौम
क्षेम	ख़रीद्	ख़बर	ख़स
ख़ख़ार	खटखट	खटक	ख़ाज
ख़ातिर	खाज	खाल	खाट
ख़ान	खिम्क	खीर	खीज
खींच	खुशामद्	खैर	खेंच

ख्वाहिश	गप	गपल	गपशप
ग़रज़	गर्ज	गर्द	गर्दन
गर्दिश,	गलबाँह	गवर्नमेन्ट	गाज
गाँठ	गाजर	गुजर	गेंद
गोंद	गोलमिर्च	गंध	गंधक
घाल	घास	घिन	घूस
चलन	चपरास	चपेट	चमक
चकाचक	चकाचौंध	चटक	चट्टान
चहलपहल	चाय	चाह	चाट
चाल	चालचलन	चाबुर	चालढाल
चिट	चीज़	चुहल	चुरुट
चूक	चैन	चोट	चोंच
चौंक	चौक	चौखट	चंग
छटांक	छड़	छलक	छलाँग
छाँछ	छींट	छींटन	छाँह
छान	छाप	छींट	छींक
छूट	छेंक	जगह	जमीन
जबान	जड़	जलन	जान
जायदाद	जाँघ	जाँच	जीभ
जेब	जोश	झनार	झकोर
झलक	झाँक	झाँझ	झाड़न
झालर	झाड़	झिझक	झिड़क
झील	झूमक	झूल	टक
टकसाल	टक्कर	टंकोर	टर
टसक	टाँक	टाँग	टाप
टाल	टेक	टेम	टेव

टोक	टोकटाक	ठसक	ठिठक
ठोकर	ठौर	ठाढ	ठरडक
डकार	डाढ	डाल	डाँट
डींग	डीठ	डोर	ढाल
ढील	तड़क	तड़प	तमक
तरँग	तरफ़	तलवार	तलछट
तहसील	तरह	तकरार	तकलीफ़
तद्बीर	तफ़सील	तर्ज़ तलब	तलाक़
तस्वीर	तहवील	तलाश	तनख़्वाह
ताक़	तान	तातील	तारीख़
तारीफ़	तालीम	तोंद	तोल
थाह	दख़ल	दलील	दपट
दरगाह	दस्तावेज़	दाल	दाढ़
दाग़	दाब	दाद	दिक
दीठ	दीवार	दुम	दूर
दूकान	देह	देखरेख	देर
दोज़ख़	दोहर	दौड़	दौड़धूप
धड़क	धमक	धरहर	धरोहर
धाँयधाँय	धाक	धुन	धूर
धूल	धूप	धूम	धौल
नकेल	नस	नक़ल	नख़र
नज़ीर	नब्ज़	नक़्श	नस्ल
नाक़	नाव	नालिश	निकल
निछावर	निगाह	निमाज़	नींद
नोकझोंक	पकड़	पलटन	परेड
परवरिश	परवाह	पलक	पहुँच

पहचान	पतल	परख	पहू
पछाड़	पतवार	पागुर	पाँत
पिस्तोल	पीठ	पुलीस	पसिंशा
पुस्तक	पुकार	पूछ	पूँछ
पैठ	प्यास	फड़	फतह
फख	फांक	फिक्रि	फीस
फूँक	फूट	फोज	बक
बम	बहर	बन्दूक	बकबक
बदन	बवासीर	बहस	बखशिस
बर्फ	बगल	बाँह	बाढ़
बाल	बार	बारूद	बास
बागबार	बिकाव	बुहारन	बुनियाद
बूँद	बूझ	बैठक	बोतल
बौछार	बन्धेज	भगेल	भड़क
भनक	भरमार	भाँवर	भाँग
भाप	भीख	भीड़	भूख
भूल	भेंट	मटक	मरोड़
मलार	मसक	महक	मदद
मसजिद	मसनद	महताब	मलमल
मन्जिल	मजलिस	माँग	माँद
मालिस	मार	मिठास	मिर्च
मीयाद	मीजान	मीनार	मुराद
मुश्किल	मुश्क	मुहर	मूँग
मूँछ	मेंड़	मेहराब	मेज
मेख	मोजा	याद	रगड़
रपट	रसीद	रहट	रहम
रसद	रबिश	राख	राब

राल	राव	रास	राह्
राय	रिस	रिपोर्ट	रीझ,
रीढ़	रेलपेल	रोक	रोकड़
लकीर	लचक	लट	लटक
लपक	लपेट	झपेट	ललक
लहर	लहरबहर	लगाम	लाज
लाद	लार	लाश	लाग
लिम	लोक	लीख	लीर
लू	लूक	लूह	लौंग
वयस	वजह्	वारिश	वार
विध	विजय	शक्ल	शर्म
शराब	शक्कर	शरण	शाल
शिकार	सकुच	सटल	सटासट
सड़क	सड़न	समझ	समेट
सरकार	सम्हाल	सहन	सनद
सतह्	सलाह्	साँझ	साख
साध	सान	साँस	साजिश
सिफारिश	सींक	सीख	सीम
सुगन्ध	सुध	सुरङ्ग	सुलह्
सूज	सूझ	सूजन	सेन्ध
सैन	सैर	सोध	सौंठ
सौंफ	सौगन्ध	सौंह	हक
हरताल	हलचल	हद	हाँक
हाट	हिर्स	हीक	हींग
होड़	हौस		

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर जो विद्यार्थी हिन्दी में निबन्ध लिखने का प्रयास करेंगे उनसे भूलें नहीं होंगी।

प्रारम्भिक वक्तव्य

एक

मनुष्यों को सदैव अपने भाव प्रकट करने की आवश्यकता पड़ती है। भाषा के ही द्वारा वह अपना भाव अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है। जब हम लिख कर अपने विचार या अनुभव प्रकट करते हैं तब जो कुछ हम लिखते हैं वह 'प्रबन्ध' कहा जाता है। जब हम किसी एक व्यक्ति के लिए अपना अनुभव या विचार लिखते हैं तब वह प्रबन्ध 'पत्र' कहा जाता है। पत्र के रूप में प्रबन्ध लिखने की आवश्यकता सभी को पड़ती है। पत्रों में हम अपने भाव निस्सङ्कोच प्रकट करते हैं। जो कुछ हम पढ़ते हैं, सुनते हैं, देखते हैं या अनुभव करते हैं उन सब को हम अपने इष्ट मित्रों के पास लिख भेजने से जरा भी सङ्कोच नहीं करते। परन्तु यही बात उन प्रबन्धों के विषय में नहीं कही जा सकती जिन्हें सभी पढ़ सकते हैं, जो सर्व-साधारण के लिए होते हैं। ऐसे प्रबन्धों में हमें अपने विचार प्रकट करने की उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी चिन्ता यह होती है कि कहीं हमारी रचना उपहासास्पद न होजाय, उसको निस्सार समझ कर लोग उसकी निन्दा न करने लगें। इसीलिए प्रबन्ध-रचना के लिए हम विद्वानों के विचार ढूंढ़ा करते हैं और उन्हीं की शैली का अनुकरण करना चाहते हैं। प्रबन्धों का

उद्देश्य अपनी योग्यता नहीं, भाव प्रदर्शित करना है। लिखते समय हमें अपना उद्देश भूल न जाना चाहिए। भाव न प्रकट कर भाषा के विन्यास में जो लग जाते हैं उनका प्रबन्ध कभी अच्छा नहीं होगा। विद्वत्ता प्रदर्शित करने के फेर में पड़ कर हम लोग अपने प्रबन्ध को सचमुच उपहास-जनक बना डालते हैं। हमें सदैव अपनी बात अपनी भाषा में अपने ढंग से कहने का प्रयत्न करना चाहिए। सच पूछिए तो प्रबन्ध-रचना की कोई भी शैली निश्चित नहीं की जा सकती। जो लोग प्रबन्ध के लिए ढांचा बनाना चाहते हैं उनके प्रबन्धों में ढांचा रहने पर भी प्राण-शक्ति नहीं रहती है। इसलिए किसी ढांचे या सांचे के फेर में न पड़कर हमें अपने विचारों को शुद्ध भाषा में प्रकट करने की चेष्टा करनी चाहिए। भाषा की विशुद्धता के लिए हमें व्याकरण के नियमों का अनुसरण करना चाहिए और ज्ञान-वृद्धि के लिए विद्वानों की उत्तम रचनायें पढ़नी चाहिए।

प्रबन्ध-रचना का अभ्यास करने के लिए वाक्य-रचना और अनुच्छेद-रचना का अभ्यास करना चाहिए। साथ ही व्याकरण के साधारण नियमों का भी अध्ययन करना चाहिए। इसके बाद पत्र लिखने का अभ्यास करना चाहिए और पत्रों में वर्णन करने का अभ्यास होजाने के बाद प्रबन्ध लिखने का प्रयत्न करना चाहिए। विषय के अनुसार प्रबन्ध के दो भेद किये जा सकते हैं, एक विवेचनात्मक और दूसरा वर्णनात्मक।

विवेचनात्मक प्रबन्धों में हम किसी विषय की विवेचना करते हैं। जितना ही अधिक हमारा ज्ञान होगा उतनी ही अच्छी विवेचना होगी। विवेचना के लिए ज्ञान और अनुभव चाहिए। वर्णनात्मक प्रबन्धों में हम जो कुछ देखते या सुनते हैं उसी का वर्णन करते हैं। वर्णनात्मक प्रबन्धों के लिए ध्यान-पूर्वक अवलोकन और कल्पना की शक्ति चाहिए। कोई भी स्थान हो, कैसा भी मनुष्य हो, सब का वर्णन किया जा सकता है। वर्णनात्मक प्रबन्ध विशेष मनोरञ्जक होते हैं। पर कल्पना द्वारा उसे अतिरञ्जित नहीं करना चाहिए। कथा, आख्यायिका, जीवन-चरित या परिचय लिखने में भी वर्णन करने की ही योग्यता चाहिए। इसी से वर्णनात्मक प्रबन्ध लिखने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। छोटे छोटे संवादों के रूप में भिन्न भिन्न प्रकार के लोगों की बातचीत लिखना बड़ा लाभ-प्रद होता है। एकही कथा को भिन्न भिन्न पात्रों से कहलाने से कल्पना-शक्ति यथेष्ट बढ़ जाती है। पर यह ध्यान रहे कि आपका वर्णन प्रकृति-विरुद्ध, अस्वाभाविक, न हो। इसके लिए विद्वत्ता की जरूरत नहीं है। इसके लिए अवलोकन, कल्पना और सहानुभूति की ही आवश्यकता है।

अब भाषा के विषय में भी हम दो चार बातें कह देना चाहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सभी तरह के प्रबन्धों के लिए सरल और शुद्ध भाषा चाहिए। हिन्दी भाषा में

चार प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं—तत्सम, तद्भव, विदेशी और देशज। तत्सम शब्द संस्कृत भाषा के वे शब्द हैं जो हिन्दी में ज्यों के त्यों प्रयुक्त होते हैं। तद्भव शब्द संस्कृत शब्दों के ही परिवर्तित रूप हैं। विदेशी शब्द फारसी, अरबी, अंगरेजी आदि भाषाओं के हैं जो विदेशी जातियों के संसर्ग से हिन्दी भाषा में आ गये हैं। कुछ शब्द ज्यों को त्यों प्रयुक्त होते हैं और कुछ परिवर्तित होकर आ गये हैं। अवशिष्ट शब्द देशज हैं जिनका विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है। नये नये भावों और विचारों को प्रकट करने के लिए साहित्य से नये नये शब्दों की वृद्धि होती है। आज कल हिन्दी में संस्कृत और अंगरेजी भाषाओं के शब्दों की वृद्धि हो रही है। बोल-चाल में विदेशी भाषाओं के शब्द परिवर्तित हो जाते हैं, परन्तु साहित्य में जब कोई शब्द विद्वानों द्वारा प्रयुक्त होते हैं तब प्रायः वे अपने शुद्ध रूप में ही आते हैं।

स्थान, पात्र और अवस्था के अनुकूल ही भिन्न भिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। मान लीजिए, हम दो मनुष्यों की साधारण बातचीत लिखना चाहते हैं। वहां हमें बोलचाल के ही शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु यदि हमें उनके गम्भीर भावों को व्यक्त करना है तो हमें तदनुकूल शब्दों की योजना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार मुसलमानों के मुंह से उर्दू-फारसी के शब्द अधिक कहलाना चाहिए। परन्तु हमें इसका

ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ लिख रहे हैं, हिन्दी में ही लिख रहे हैं। अतएव हमें उन्हीं विदेशी शब्दों का—चाहे वे उर्दू के हों या फ़ारसी के—प्रयोग करना चाहिए जिनका प्रचार हिन्दी में हो चुका है। विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही हमें विदेशी शब्द लेना चाहिए। साहित्य, कला, इतिहास, विज्ञान आदि शास्त्रीय के विषयों की विवेचना के लिए हमें संस्कृत शब्दों की आवश्यकता पड़ती है और विदेशी शब्दों की भी। साधारण बोल-चाल की भाषा में ये सभी विषय अच्छी तरह समझाये नहीं जा सकते हैं। परन्तु ऐसी अवस्था में भी आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। सारांश, प्रबन्ध की भाषा सदैव सरल और शुद्ध होनी चाहिए।

अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि किसी विषय पर प्रबन्ध लिखने के पहले उस विषय को कुछ भागों में विभक्त कर डालना चाहिए और फिर क्रम से एक एक भाग कर लिख लेना चाहिए। प्रत्येक भाग के लिए एक संकेत वाक्य भी लिख लेना चाहिए। प्रबन्ध लिखते समय तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए—प्रस्तावना, विकास और समाप्ति। विषय को हम किस प्रकार प्रारम्भ करें, फिर उसका किस प्रकार विकास किया जाय और उसे किस प्रकार समाप्त करें, यही तीन बातें जानना आवश्यक है। यदि किसी का जीवन-चरित्र लिखना हो तो वह जिसके लिए विख्यात है उसी विषय से प्रारम्भ करना चाहिए। उदाहरण के लिए

किसी वैज्ञानिक का परिचय लिखते समय विज्ञान की चर्चा से आरम्भ करना बड़ा अच्छा है। यदि किसी स्थान-विशेष का वर्णन करना है तो उसके लिए भी यही करना चाहिए। विवेचनात्मक विषय पर प्रबन्ध लिखते समय हमें विषय को स्पष्ट करने के लिए पहले उन्हीं बातों की चर्चा करनी चाहिए जिनसे उसका मूल सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए व्यायाम पर लिखने के पहले स्वास्थ्य की आवश्यकता की चर्चा करना अनिवार्य है। विषय को विस्तृत करने के लिए अनुच्छेद-रचना का अच्छा अभ्यास होना चाहिए। जब हम किसी विषय के सम्बन्ध में कोई नया भाव प्रकट करना चाहें तब हमें एक अनुच्छेद में उक्त भाव को स्पष्ट करना चाहिए। समाप्ति में हमें परिणाम या सारांश लिख देना चाहिए। हमारे कहने का क्या अभिप्राय है, यह अन्त में अवश्य स्पष्ट हो जाना चाहिए। सच तो यह है कि अभ्यास से ही भिन्न भिन्न विषयों की प्रस्तावना, विस्तृति और समाप्ति अच्छी ढंग से की जा सकती हैं। इसके लिए हमें अच्छे लेखकों की रचनाओं पर ध्यान देना चाहिए। सब से अच्छा अभ्यास यह है कि कोई अच्छा प्रबन्ध पढ़ा जाय और फिर उसी विषय पर उसी ढंग से लिखने की चेष्टा की जाय।

प्रबन्ध में अनुच्छेद होते हैं, अनुच्छेद में वाक्य और वाक्य में शब्द। शब्द जब वाक्य में प्रयुक्त होते हैं तभी वे एक पूर्ण विचार व्यक्त करते हैं। एक पूर्ण विचार व्यक्त करनेवाला शब्द-समूह

वाक्य कहलाता है। उस विचार को स्पष्ट करने के लिए यदि हम उसी के सम्बन्ध में और भी कुछ कहना चाहते हैं तो जब तक वह पूरा भाव स्पष्ट न हो जाय तब तक हमें एकाधिक वाक्यों की रचना करनी पड़ेगी। एक भाव स्पष्ट हो जाने पर एक अनुच्छेद समाप्त होजाता है। यदि उसी के सम्बन्ध में हमें कोई नया भाव व्यक्त करना है तो उसे हम दूसरे अनुच्छेद में प्रकट करेंगे। ऐसा वाक्य-समूह जिसमें एक ही भाव स्पष्ट हो अनुच्छेद कहलाता है। प्रारम्भ में ऐसे ही प्रबन्ध लिखने का अभ्यास करना चाहिए जिसमें एक ही अनुच्छेद हो अर्थात् जिसमें एक ही भाव स्पष्ट करना हो। इस पुस्तक के प्रारम्भ में ऐसे कई निबन्ध दिये गये हैं। एक अनुच्छेद का अभ्यास कर लेने के बाद ऐसे प्रबन्ध लिखना चाहिए जिसमें दो अनुच्छेदों की आवश्यकता हो। इसमें ऐसे भी प्रबन्ध दिये गये हैं। किसी भी विषय पर दो अनुच्छेदों में प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं। जो विषय लिया जाय उसके दो विभाग कर दिये जायं—पहलेमें प्रस्तावना और दूसरे से विवरण। प्रस्तावना में विषयका आरम्भ किया जाय और फिर विवरण देकर उसकी समाप्ति कर दी जाय। कभी कभी विषयके दो भाग स्पष्ट रूपसे किये जासकते हैं—पहला भाग पहले अनुच्छेद में लिखा जाय और दूसरा भाग दूसरे में।

प्रस्तावना और समाप्ति का अभ्यास कर लेने के बाद विषय को कई अनुच्छेदों में विस्तृत करने का अभ्यास करना चाहिए।

यहां हम उदाहरण के लिए कुछ अनुच्छेद लिखते हैं जिनका विस्तार इसी पुस्तक के भिन्न भिन्न पाठों में दिया गया है।

१

एक हीरा अज्ञात रूप से वर्षों पड़ा रहा। इसके बाद एक संन्यासी ने उसे उठा लिया। कई वर्ष तक वह उसी के पास पड़ा रहा। इसके बाद वह एक किसान के हाथ लगा। किसान से उसे एक जौहरी ने बहुत कम मूल्य में खरीद लिया। जौहरी उसे पहचानता था। इसलिए उसने उसे बड़े आदरपूर्वक रक्खा। परन्तु हीरे के लिए यही सब से बढ़कर दुःखदायक बात हुई कि उसका मूल्य जानने वाले जौहरी ने ही उसका मूल्य घटा दिया। सन्यासी और किसान ने तो अज्ञान के कारण उसका अपमान किया। परन्तु जान-बूझ कर जौहरी ने उसे कम मूल्य में लिया। इसी से हीरे के टुकड़े टुकड़े होगये।

२

एक दिन किसी गरीब किसान के लड़के ने एक पुत्र-हीन धनी के घर में सैकड़ों सोने-चांदी के बर्तन और रत्न देखे। वह सोचने लगा कि यदि मेरे घर में एक भी ऐसा रत्न होता तो घर की सब दरिद्रता दूर हो जाती। इस बात को उस धनी ने सुन लिया। धनी जानता था कि पुत्र से बढ़ कर मूल्यवान् कोई रत्न नहीं है। इसीसे उसने लड़के से कहा—तेरी माता के पास तो एक बहुत ही मूल्यवान रत्न है। लड़का दौड़कर अपनी

मा के पास गया और उसे रत्न दिखाने के लिए कहा। तब मा ने कहा—बेटा, तू ही तो मेरा रत्न है, मेरा लाल है।

३

एक बार एक लड़के ने दौड़ में सब लड़कों को हरा दिया। वह दौड़ में प्रथम हुआ। सब ने बड़ी प्रशंसा की। उसे पुरस्कार भी दिया गया। एक बार ऐसा अवसर पड़ा कि वही लड़का घोड़े पर चला जा रहा था। उस समय हांफते हांफते एक आदमी आया और कहने लगा कि भेड़िये मेरे पाछे पड़े हैं। उसकी प्राण-रक्षा के लिए लड़के ने घोड़े पर उसको चढ़ा दिया और खुद पैदल चलने लगा। वह आदमी तो निकल भागा, परन्तु भेड़िए लड़के पास पहुँच आये। तब दौड़ में भेड़िये को परास्त करने के लिए उसने दौड़ना शुरू किया। भेड़िये उसे नहीं पा सके, वह गांव तक पहुँच गया। परन्तु गांव के पास पहुँचते ही वह मर कर गिर पड़ा।

४

पर्वत से नदी का उद्गम होता है। नदी तो बहकर चली जाती है, पर पर्वत वहीं खड़ा खड़ा देखता रहता है। पर्वत मानो पिता है और नदी कन्या। कन्या के चले जाने पर पिता को दुःख होता है वही दुःख पर्वत को क्या न होता होगा? उसी दुःख को यदि पर्वत प्रकट करना चाहे तो नदी से वह किस प्रकार बातचीत करेगा?

५

बाबू भूतनाथ पाल के पिता बड़े व्यवसायी थे। उनका नाम कृष्टोपाल था। उनकी जन्म-तिथि १८६६ है। बाल्य-काल से ही पिता के व्यवसाय में भूतनाथ लग गये और उसे खूब उन्नत किया। व्यवसाय के द्वारा उन्होंने सम्पत्ति पैदा की और उसे अच्छे कामों में खर्च किया। जीवन भर वे सार्वजनिक काम करते रहे। सन् १९२१ में उनकी मृत्यु हुई।

६

हार्डिंग साहब अमेरीका के प्रेसीडेंट थे। उनका जन्म सन् १८८५ में हुआ। बाल्यकाल में उन्हें अच्छी शिक्षा मिली। प्रारम्भ से ही उन्हें पत्र-सम्पादन की ओर प्रवृत्ति थी। अध्ययन समाप्त कर वे छापेखाने में काम करने लगे। उन्हें स्टार नाम का एक दैनिक पत्र में काम करने का मौका मिला। यह बिल-कुल मामूली अखबार था। परन्तु उसे उन्होंने खूब उन्नत किया। उसीसे उनका नाम भी खूब हुआ और वे अन्त में अमेरिका के प्रेसीडेन्ट हो गये।

७

बम्बई के सेठ खेमराज जी हिन्दी के बहुत बड़े पुस्तक-प्रकाशक थे। उन्होंने श्री वेङ्कटेश्वर नाम का पत्र निकला और कितनी ही धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित कीं। वे बड़े दानी भी थे। पहले उनकी अवस्था अच्छी नहीं थी। उन्होंने एक महात्मा के

कहने से पुस्तक बेचना शुरू किया। थे वे बड़े परिश्रमी। अपने परिश्रम और अध्यवसाय की बदौलत वे बड़े सम्पत्तिशाली हो गये।

८

बच्चों की खूब रक्षा की जानी चाहिए। देश की उन्नति उसी पर अवलम्बित है। हमारे देश में कितने ही बच्चों की अकाल मृत्यु हो जाती है। दूसरे देशों में बच्चों की यथेष्ट देख-रेख की जाती है। बच्चों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए व्यायाम की भी ज़रूरत है। यदि उन्हें उचित रीति से व्यायाम की शिक्षा दी जाय तो वे खूब बलवान हो जाते हैं। अमरीका के कुछ बच्चों ने असाधारण क्षमता प्रदर्शित की है।

९

कला के अनेक भेद है। उनमें एक नृत्य भी है। कला से आनन्द होता है। नृत्य से भी आनन्द होता है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में नृत्य-कला का आदर था। परन्तु अब यह कला नीचों के हाथ पड़ गई है। योरप में नृत्यकला का बड़ा आदर है। वहाँ इसकी अपूर्व उन्नति हुई है। सच्ची बात यह है कि समृद्धिशाली देशों में ही कला की उन्नति होती है।

जिन पाठों में इनका विस्तार किया गया है उन्हें एक बार पढ़ जाने से पाठक हमारे उद्देश को अच्छी तरह समझ जायंगे। सच्ची बात यह है कि विषय को विस्तृत करने में ही निपुणता की

आवश्यकता है। भिन्न भिन्न निबन्धों का सारांश लिख कर उन्हें अपनी ओर से विस्तृत करने से बड़ा अच्छा अभ्यास हो जाता है।

अब हम पत्रों के सम्बन्ध में कुछ कह देना चाहते हैं। पत्र लिखने का काम छोटे-बड़े सभी लोगों को करना पड़ता है। हम अपने दूरस्थ आत्मीय जनों को अपने सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिख कर भेजना चाहते हैं। हम जो कुछ देखते या सुनते हैं उसे भी हम अपने मित्रों को बतलाना चाहते हैं। इसी से पत्रों में दैनिक जीवन की बातों के अतिरिक्त ऐतिहासिक, दार्शनिक, सामाजिक और नैतिक विषयों की भी चर्चा कभी कभी हम किया करते हैं। प्रबन्ध-रचना के अभ्यास के लिए पत्र से बढ़ कर दूसरा कोई साधन नहीं है। विद्यार्थियों को भिन्न भिन्न विषयों पर पत्र लिखने के लिए खूब उत्साहित करना चाहिए।

हिन्दी में पत्र लिखने की प्राचीन प्रथा का लोप हो रहा है। आजकल जो प्रथा प्रचलित हो रही है वह है भी अच्छी। उसमें व्यर्थ का विस्तार नहीं होता। पत्र लिखने की साधारण रीति यह है कि पहले स्थान और तारीख या तिथि का उल्लेख कागज़ के एक कोने पर दाहिनी ओर किया जाता है। उसके बाद जिनको हम पत्र लिखते हैं उनके लिए अभिवादन-सूचक शब्द लिखना चाहिए। बड़ों को पूज्यपाद, पूज्यचरणेषु, श्रीचरणेषु लिख कर अन्त में प्रणत लिख कर अपना नाम लिखना चाहिए। बराबर

वालों के लिए हमें उन्हीं शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिनसे हम उन्हें पुकारा करते हैं। यदि हम उन्हें नाम लेकर पुकारा करते हैं तो नाम के आगे प्रिय या भाई जोड़ कर लिखना चाहिए। यदि हम उनके कुल-सूचक या उपाधि-सूचक शब्दों से पुकारा करते हैं—जैसे मिश्रजी, वर्माजी—तो हम उन्हीं शब्दों के आगे प्रिय लगा देना चाहिए। छोटों को लिखते समय हम उनके नाम या स्नेहास्पद या ऐसे ही कुछ लिख कर अन्त में शुभैषी या शुभचिन्तक लिखना चाहिए। परन्तु इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं हैं, क्योंकि हम अपने इष्टजनों के साथ व्यवहार करते समय स्नेह की जितनी चिन्ता रखते हैं उतनी शिष्टाचार की नहीं। शिष्टाचार अपरिचित जनों के लिये आवश्यक है। उन्हें लिखते समय प्रारम्भ में महोदय, महाशय, या मान्यवर लिखकर अन्त में भवदीय लिखना चाहिए।

प्रबन्ध-रचना के अभ्यास के लिए हमें विद्यार्थियों को ऐसे ही पत्र लिखने के लिए कहना चाहिए जिनमें वे निस्संकोच होकर अपनी बातें लिख सकें, जिनमें निर्भयता से किसी विषय पर वे स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने विचार प्रकट कर सकें। ऐसे पत्र वे अपने इष्टमित्रों को ही लिख सकते हैं। इस पुस्तक में हमने भिन्न भिन्न विषयों पर कुछ पत्र दिये हैं। पर विद्यार्थियों को किसी विषय की विवेचना करने की अपेक्षा किसी स्थान या संस्था का वर्णन करने से अधिक लाभ होगा।

यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि प्रबन्ध-रचना के लिए दो बातें आवश्यक हैं, भाषा और विचार। भाषा पर किसी का चाहे कितना ही अधिकार क्यों न हो, यदि उसमें विचार-शक्ति नहीं है तो उसकी रचनायें निस्सार होंगी। इसी प्रकार जिनमें विचार-शक्ति है उन्हें यदि अपने विचारों को अच्छे ढंग से प्रकट करने की शक्ति नहीं है तो उनकी रचनायें दुरूह और दुर्बोध्य हो जाती हैं और उन्हें पढ़ना बड़ा कष्ट-कारक हो जाता है। अच्छे प्रबन्ध का लक्षण यह है कि उन्हें पढ़ने से आनन्द होता है और ज्ञान की वृद्धि भी होती है। शब्द-मात्र जान लेने से या व्याकरण का अच्छी तरह अध्ययन कर लेने से भाषा पर अधिकार भले ही हो जाय, परन्तु जब तक हम उचित शब्दों का उचित रीति से प्रयोग करना नहीं जानते हैं तब तक हमारी भाषा में सौष्ठव नहीं रहेगा। यह उचित रीति या शैली ही प्रबन्ध-रचना को आकर्षक बनाती है। कितना ही कठिन विषय क्यों न हो, यदि वह अच्छे ढंग से लिखा गया है तो उसे पढ़ने में जरा भी कष्ट नहीं होता है।

शैली के लिए दो बातें चाहिए, एक तो शब्दों की उचित स्थापना और दूसरा भाषा का अविच्छिन्न प्रवाह। एक ही अर्थ के द्योतक कितने ही शब्द होते हैं। परन्तु सभी स्थानों में उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। हिन्दी में तद्भव, तत्सम और विदेशी शब्दों के प्रयोग में भी विशेष ध्यान देना चाहिए। तत्सम शब्दों

के अनुचित प्रयोगसे भाषा का सौन्दर्य बिलकुल नष्ट हो जाता है। जहां बोलचाल की भाषा आवश्यक है वहां तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ा खटकता है। 'घूमने के लिए गया' के स्थान में 'भ्रमणार्थ गया' या 'रात में नींद नहीं आई' के स्थान में "रात्रि-भर निद्रा नहीं आई" लिखना ठीक नहीं है। इसी प्रकार जहां तत्सम शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता है वहां दूसरे शब्दों का प्रयोग करने से भाषा में सुन्दरता नहीं रह जाती। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ में साधारण दृष्टि से कुछ भेद नहीं जान पड़ता, परन्तु उनमें भेद है और उस भेद पर ध्यान रख कर शब्दों का प्रयोग करने से रचना की शोभा बढ़ जाती है। भाषा का भी एक प्रवाह होता है। कभी कभी व्याकरण के अनुसार शुद्ध रहने पर भी वाक्यों की रचना खटकती है। ऐसा जान पड़ता है कि मानों भाषा का प्रवाह रुक गया है। भावों के अनुकूल भाषा होने से भाषा 'जीवित' हो जाती है।

विचारों की पुष्टि लिए ज्ञान की आवश्यकता है। परन्तु कुछ विषय ऐसे होते हैं जहां ज्ञान की अपेक्षा व्यक्ति-गत अनुभव की ही आवश्यकता है। इसलिए यदि किसी विषय पर प्रबन्ध लिखते समय हम अपने अनुभवों को ही व्यक्त करें और ज्ञान की चिन्ता न करें तो हमारे प्रबन्ध में अधिक नवीनता और मौलिकता होगी। समाज में विचारों का आदान-प्रदान होता रहता है। सच पूछिए तो ज्ञान-वृद्धि के सबसे अच्छे साधन

समाज में हैं। कुछ पढ़िए, कुछ सुनिए, कुछ देखिए और कुछ कल्पना कीजिए और उन्हींके आधारोंपर लिखिए। प्रबन्ध भी अच्छा होगा।

आगे जो प्रबन्ध दिये गये हैं उन्हें पढ़ लेने पर विद्यार्थियों को भिन्न भिन्न विषयों पर लेख लिखने में कुछ सहायता अवश्य मिलेगी। उनका शब्द-भण्डार भी बढ़ेगा और ज्ञान-वृद्धि भी होगी। शब्दों के प्रयोग और शैली का भी ज्ञान हो जायगा। इसी उद्देश से इन निबन्धों का संग्रह किया गया है। यदि इससे विद्यार्थियों को कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपने को कृत-कृत्य समझूँगा।

दो

हम लोगों में अधिकांश कुछ न कुछ लिखने की इच्छा करते ही हैं और आज कल सामायिक पत्रों का प्रचार बढ़ जानेसे सभी उनमें कुछ प्रकाशित भी कराना चाहते हैं। स्थानीय घटनाओं का विवरण लिख डालने से प्रबन्ध-रचना का बड़ा अच्छा अभ्यास होता है। ऐसे विवरण एक या दो अनुच्छेदों में अच्छी तरह लिखे जा सकते हैं। उनमें प्रस्तावना, विस्तृति और समाप्ति भी आप से आप, स्वाभाविक रीति से, हो जाती है। एक उपाय और है। हम प्रायः दूसरों से कोई असाधारण घटना सुनते हैं या कभी कभी कोई विशेष मनोरञ्जक बात पढ़ते हैं, इनको भी लिपि-बद्ध कर डालने से बड़ा लाभ होता है। विद्यार्थियों को

चाहिए कि वे ऐसे ऐसे छोटे अनुच्छेद लिखने का सतत अभ्यास करते रहें। उदाहरण के लिए यहाँ ऐसे कुछ अनुच्छेद दिये जाते हैं। प्रारम्भ में बड़े बड़े निबन्ध लिखने का लोभ संवरण करना चाहिए। इसी लिए भिन्न भिन्न विषयों पर छोटे छोटे अनुच्छेद लिखने से बड़ा लाभ होता है। बालकों में विचार-शक्ति कम रहती है। वह तो धीरे धीरे ही बढ़ेगी। पर कैसा भी विषय क्यों न हो, सभी के सम्बन्ध में वे कुछ न कुछ कहना ही चाहते हैं। उनके ये विचार परिपक्व भले ही न हों, वे असंगत ही हों, पर उन्हीं से उनका व्यक्ति-गत विशेषत्व प्रकट होता है। इसीलिए शिक्षकों को चाहिए कि वे सभी विषयों पर उनसे अनुच्छेद लिखाया करें। एक अनुच्छेद के लिए एक ही विचार की आवश्यकता है। यदि विद्यार्थी अपने उस विचार को एक अनुच्छेद में प्रकट कर सका तो वह अपनी रचना-शक्ति का परिचय दे चुका। नीचे जो अनुच्छेद दिये जाते हैं उनसे अनुच्छेद लिखने की रीति प्रकट हो जायगी।

१—गृह-शिक्षा

भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा के विरोधियों की संख्या अवश्य घट रही है। तो भी अभी ऐसे ही लोग अधिक हैं जो स्त्रियों को उच्च शिक्षा देना पसन्द नहीं करते। उनकी सम्मति में स्त्रियों का प्रधान कार्य-क्षेत्र गृह है। अतएव उन्हें उतनी ही शिक्षा

मिलनी चाहिए जितनी से वे गृह-कार्य में निपुण हो सकें। परन्तु गृह-प्रबन्ध के लिए भी उच्च शिक्षा की आवश्यकता है। इङ्गलैंड में लन्दन-विश्वविद्यालय ने गृह-प्रबन्ध-शिक्षा की महत्ता स्वीकार कर ली है। उसके लिए वहाँ अलग प्रबन्ध किया गया है। जो स्त्रियाँ गृहकार्य में निपुण होना चाहती हैं उन्हें तीन साल तक विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण करनी पड़ेगी। शिक्षा की समाप्ति पर उनकी परीक्षा ली जायगी और यदि वे उत्तीर्ण होंगी तो उन्हें बी० एस-सी० की उपाधि दी जायगी। आशा है कि ये बी० एस-सी० उपाधिधारणी स्त्रियाँ सुगृहिणी भी बनगी।

२—एक नया यंत्र

विज्ञान की आश्चर्य-जनक उन्नति हो रही है। उसके द्वारा ऐसे यंत्रों का आविष्कार हो रहा है जिससे लोगों का अनन्त उपकार हो सकता है। अभी हाल में एक ऐसा यंत्र निकला है जिससे लूले मनुष्यों को हाथों का अभाव अधिक कष्टप्रद न होगा। इसका आविष्कार किया है एडिनबरा के जी० टामसन साहब ने। आप वहाँ गैस के मिस्त्री का काम करते हैं। इस कामसे आपका अच्छा नाम हो गया है। यंत्र की बनावट साधारण है। उसे कुर्सी पर बैठकर कोई भी अपने घुटनों और टखनों के बल से चला सकता है। इसके द्वारा जिनके हाथ नहीं हैं

वे भी अब उन कामों को अच्छी तरह कर सकेंगे जो हाथों के द्वारा सम्पन्न होते हैं। इसकी बदौलत मनुष्य अच्छी तरह लिख सकता है, लिख कर लिफाफा बन्द कर सकता है। खाने-पीने में काँटे-छुरी का भी व्यवहार कर सकता है। कहाँ तक कहें, वह सिगरेट भी मजे से जलाकर पी सकता है। उसे पैरों में गरम ऊन के मोजे पहनने होंगे और पैरों को ऊनी कालीन पर रखना होगा, जिससे वह आराम से इस यंत्र को काम में ला सकें। टामसन साहब कोशिश कर रहे हैं कि यह यंत्र इतना सस्ता हो जाय कि सभी लूले, गरीब और अमीर, इसे खरीद सकें।

३—स्वप्न

स्वप्नावस्था में कभी कभी आत्मा शरीर को छोड़कर बाहर निकल जाती है। हेमले साहब का कहना है कि एक शनिवार के दिन मध्याह्न काल में भोजन करके वे अपने कमरे में पलँग पर आराम करने लगे। थोड़ी ही देर में उन्हें नींद आ गई। फिर वे जाग पड़े। उठकर उन्होंने घड़ी निकालकर देखा तो ५ बजने में १० मिनट थे। तब वे चाय पीने के लिये तैयार हुए। खिड़की खुली हुई थी। बाहर देखा तो बाय स्काउट्स (बालचर संघ) के तीन लड़के सड़क पर खड़े थे। इतने में उनकी दृष्टि अपने पलंग पर गई। वहाँ उन्होंने देखा कि वे खुद लेटे हुए

हैं। यह देखकर उन्हें भय भी हुआ और आश्चर्य भी। इतने में उन्होंने चाय पीने का ख़याल किया और बिना हिले ही रसोईघर में पहुँच गये। वहाँ उनकी बहन चाय बना रही थी, पर उसने उनकी ओर देखा तक नहीं। तब तो घबराकर वे फिर अपने कमरे में आये। वहाँ देखा कि पलँग पर उनका जो शरीर था वह प्राणहीन मालूम होता था। तब उन्हें विश्वास हो गया कि वे मर गये। कुछ देर बाद उनका वह शरीर फिर जाग पड़ा। बाहर वैसे ही तीन लड़के सड़क पर खड़े हुए थे। रसोई-घर में सब चीजें वैसी ही थीं जैसी कि उन्होंने पहले देखी थी। घड़ी देखी। उसमें पाँच बजने में आठ मिनट थे। कितने आश्चर्य की बात है।

४—अभागा हीरा

भारतवर्ष में किसी खान से एक हीरा निकला था। वह इतिहास में खूब प्रसिद्ध हो गया है। उसका दाम तीन चार लाख रुपया है। योरप के लोगों की यह धारणा हो गई है कि जिस किसी के पास यह हीरा रहेगा उसका कुछ न कुछ अनिष्ट अवश्य होगा। प्रसिद्ध यात्री टैवर्नियर ने इसे भारत से ले जाकर फ्रांस के बादशाह लुई चौदहवें को दिया। उसको अपने व्यवसाय में बड़ी हानि हुई और अन्त में वह जहाज पर ही मरा। फ्रांस-नरेश से हीरा उनकी एक प्रेमिका को मिला। हीरा ग्रहण करते ही वह बेचारी राजा के प्रेम से वंचित हो गई। उसने उसे एक

फरासासी राजपुरुष—निकोलस फोक—को दे दिया। निकोलस फोक को प्राणदण्ड हुआ। इसके बाद वह फ्रांस-नरेश लुई सोलहवें के हाथ आया। वह अपनी विद्रोही प्रजा के द्वारा मारा गया। तब इस हीरे को फ्रांस की राजमहिषी की एक सखी ने रख लिया। वह भी विद्रोहियों से मार डाली गई। जिन चोरों ने इस हीरे को चुराया उनको भी कठिन दंड भोगना पड़ा। इसके बाद यह हीरा जिसके पास गया वह इतना निर्धन हो गया कि अनाहार से उसका प्राणान्त हुआ। फिर इसके अधिकारी हुए लार्ड होप। उनकी स्त्री ने उनको त्यागकर समाज में उनका मस्तक नीचा कर दिया। तब यह हीरा एक नर्तकी को मिला। वह अपने एक हताश प्रेमी से मार डाली गई। जिसने उस स्त्री को यह हीरा दिया था वह भी गुप्त घातकों के हाथ से मरा। तब तुर्क-सुलतान अब्दुल हमीद ने इसे खरीदा। वह अपना राजसिंहासन ही खो बैठे। तब इसे एडवर्ड मेकलीन नामक एक धनी ने खरीद लिया। उनका एक मात्र लड़का मोटर से दबकर मर गया। तब से सभी लोगों को यह विश्वास हो गया है कि यह हीरा बड़ा अभागा है।

५—एक ऐतिहासिक पुरुष

राय रायान राजा रघुनाथ बहादुर ने शाहजहाँ और औरंग-जेब के शासनकाल में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इनकी

गणना प्रसिद्ध उमराओं में थी। सबसे पहले इन्हें नायब का पद मिला। उस पद पर रहकर इन्होंने अच्छा काम किया। इसीसे शाहजहाँ के राजत्व-काल के तेईसवें वर्ष इन्हें राय की उपाधि मिली। तीन वर्ष बाद इन्हें दूसरा काम सौंपा गया। सब सरकारी कागज इनके ही सिपुर्द किये गये। यहाँ तीन वर्ष काम करने के बाद इन्हें खिलअत दी गई और रायरायाँ की उपाधि भी मिली। उसी समय बादशाह ने इन्हें अस्थायी रूप से दीवाने आला का पद भी दिया। जब दाराशिकोह और शुजा के साथ औरंगजेब का युद्ध छिड़ा हुआ था तब यही औरंगजेब को सलाह दिया करते थे। औरंगजेब के सिंहासनारूढ़ होने के दो वर्ष बाद इनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ी और पद-वृद्धि भी हुई। १०१३ हिजरी तक इन्होंने समग्र साम्राज्य के मंत्री का काम सँभाला। औरंगजेब के शासनकाल के छठे वर्ष इनकी मृत्यु हुई। राजा रघुनाथ बहादुर जैसे राजनीति में विचक्षण थे वैसे ही युद्ध-कार्य में भी निपुण थे। औरंगजेब को हिन्दू-मात्र से घृणा थी। राजा रघुनाथ बहादुर के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि औरंगजेब तक ने उनकी कद्र की। प्रोफेसर यदुनाथ सरकार ने अपने औरंगजेब के इतिहास में इन्हें खत्री लिखा है। पर अब उन्होंने इन्हें कायस्थ मान लिया है। राय उमराव राजा लाल-बहादुर, सिविल सार्जन, रोहतक और राय राजगोविन्द साहब, दिल्ली, आदि इनके वंशज अभी तक वर्त्तमान हैं।

६—सब से छोटा प्रजासत्ताक राज्य

जब समग्र योरप महायुद्ध में लिप्त था तब केवल एक ही देश में शान्ति थी। वहाँ न कभी किसी सेना का पदार्पण हुआ और न कभी युद्ध की चर्चा ही हुई। सब से आश्चर्य की बात यह है कि वहाँ न कोई सेना है और न पुलिस। इस देश का नाम है अण्डोरा। यह पूर्वीय पेरीनीज में बसा है। यहाँ लोकतंत्र शासन की व्यवस्था है। यह शासन-व्यवस्था वहाँ सात सौ वर्ष से है। पश्चिम योरप का शायद सबसे दुर्गम स्थान यही है। इसका क्षेत्रफल १७५ वर्गमील है। पर इसका अधिकांश भाग पर्वतों ने ही घेर रखा है। यहाँ की आबादी पाँच और छै हजार के बीच होगी। जमीन पर ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार होता है। दूसरे पुत्रों को गांव छोड़कर अपनी जीविका के लिए फ्रान्स या जर्मनी चला जाना पड़ता है। पुत्रियों में भी जिनका विवाह अण्डोरा में नहीं हुआ उन्हें बाहर रहना पड़ता है। ऊपर कह दिया गया है कि यहाँ न तो पुलिस है और न सेना। टैक्स भी किसी तरह का नहीं लगाया जाता। एक कैदखाना बना है। पर आजतक वह कभी काम में नहीं लाया गया। यहाँ के सभी बच्चे प्रसन्न-वदन रहते हैं। रोता हुआ कोई भी बचा नहीं देखा जाता। पशु की गणना कुटुम्ब में की जाती है। उनसे वैसा ही सद्व्यवहार किया जाता है जैसा कि आत्मीय से। शासन के लिए यह देश

छै छोटे छोटे जिलों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक जिले से चार आदमी चुने जाते हैं। यही लोग साल भर में पाँच छै बार एकत्र होकर शासन की व्यवस्था करते हैं। यहाँ के निवासी बड़े परिश्रमी होते हैं। रोटी, तेल और शराब इन्हें फ्रान्स अथवा स्पेन से मँगानी पड़ती है। इनके बदले ये मांस, ऊन, कम्बल, खच्चर, और घोड़े बेचते हैं। तम्बाकू की भी यहाँ उपज होती है। ये लोग गिलास में मुँह लगाकर पानी नहीं पीते। प्रतिवर्ष ये फ्रांस को ४० पौण्ड देते हैं। इतनी ही रकम ये सिओ ब्रि अर्गेल के बिशप को भी देते हैं। पर हैं ये स्वतंत्र। युद्ध से इन्हें बड़ी घृणा है।

७—गोस्वामी तुलसीदासजी

गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिन्दी भाषा-भाषियों का जो उपकार किया है वह अतुल है। उनका रामचरित मानस हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रत्न है और हिन्दी-भाषा-भाषियों का सर्वस्व है। हिन्दू समाज में धर्म का जो भाव अभी तक विद्यमान है उसका एक मात्र कारण वही आदर्श हैं जिन्हें हिन्दू कवियों ने अक्षय रूप दे दिया है। यदि हिन्दू समाज में उन आदर्शों का लोप हो जाय तो उन्हीं के साथ समाज का अस्तित्व भी नष्ट हो जाय। निगम और आगम विद्वानों के लिए है। समाज में इनकी मर्यादा उन्हीं आदर्शों के कारण अक्षुण्य बनी रही है।

हिन्दू समाज पर आजतक कितने ही आघात-प्रत्याघात हुए हैं, परन्तु वह अपने पथ से कभी विचलित नहीं हुआ। उसकी भौतिक प्रभुता नष्ट हो गई, उसका रत्न भांडार रिक्त हो गया, उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण हो गई। परन्तु उसका गार्हस्थ्य जीवन पवित्र बना रहा, उसके धार्मिक जीवन में व्यतिक्रम नहीं हुआ। वैदिक ऋषियों की सन्तान होने पर भी कितने हिन्दू वेद-ज्ञान का गर्व कर सकते हैं ? तत्वदर्शी ऋषियों के उत्तराधिकारी होने पर भी कुछ ही लोगों में भारतीय तत्वज्ञान परिमित है। तो भी हिन्दू समाज का हिन्दुत्व नष्ट नहीं हुआ है। इसका कारण यही है कि हिन्दू समाज में रामचरित मानस के समान ग्रन्थ हैं।

जिस कवि ने हिन्दू समाज को ऐसी अक्षयनिधि दी है उसे भूल जाना घोर पाप है। यह संभव नहीं कि हिन्दू समाज कभी गोस्वामी तुलसीदास को भूल जाय। तो भी वर्ष में एक दिन उनका स्मरण करना, उनकी कृति की पूजा करना और उनका गौरव-गान करना अपनी कृतज्ञता प्रकट करना है। इससे गोस्वामीजी के यश की वृद्धि नहीं होगी, उनका माहात्म्य नहीं बढ़ेगा। हिन्दू समाज ने पहले से ही उनको अपना जीवन-धन बना डाला है। हिन्दू समाज ने अपने गृह में ही उनके लिए अक्षय कीर्ति मन्दिर स्थापित कर लिया है। ऐसा कौन हिन्दू होगा जिसके गृह में रामायण का पारायण न होता

हो। इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास को विशेष सम्मानित करने का कोई भी साधन नहीं रहा है। तो भी अपनी मनस्तुष्टि के लिए हिन्दी के प्रेमियों ने उनकी मृत्यु दिवस पर उनकी जयन्ती मनाना आरम्भ किया है।

८—केनेडी साहब

केनेडी साहब का, ७८ वर्ष की उम्र में, शरीरान्त हो गया। यह घटना गत २० जून सन् १९२० को हुई। केनेडी साहब भारतीय पुरातत्व के बड़े प्रेमी थे। उसमें आप अच्छा दखल रखते थे। आपके पिता जेम्स केनेडी थे। उत्तर भारत में जो लन्दन मिशनरी सोसाइटी है उसी में वे काम करते थे। आपने एडिनबरो के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। सन् १८६२ में आप सिविल सर्विस की परीक्षा में सम्मिलित हुए। दूसरे साल परीक्षा पास करके आप भारत आये। आप पहले संयुक्त-प्रान्त में नियुक्त हुए। सन् १८८४ में आप कलेक्टर हो गये। सन् १८९० में आपने पेंशन ले ली। आपको ऐतिहासिक विषयों से बड़ा प्रेम था। इसलिए सन् १८९१ में आप रायल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य हुए। १९०४ से १९१७ तक आप उक्त सोसाइटी में ट्रेज़रर (खजानची) रहे। इसके बाद भी आप सोसाइटी के कामों को बड़े उत्साह से करते रहे।

आपका पहला लेख सन् १८९१ में निकला। उसका विषय था सर्प पूजा। उस लेख से आपकी गवेषणा-शक्ति प्रकट होती

है। वैसे तो आपने कई अच्छे अच्छे लेख लिखे पर आपके दो लेखों की बड़ी प्रसिद्धि हुई। १८९८ में आपने "प्राचीन भारत के साथ बाबुलका व्यवसाय" शीर्षक लेख लिखा। यह लेख बड़ा महत्व-पूर्ण है। सन् १९१२ में आपने "कनिष्क का रहस्य" शीर्षक लेख लिखकर प्रकाशित किया। १९१३ में आपने इसी विषय पर एक और लेख लिखा। आपकी राय थी कि कनिष्क ईसा के पूर्व ५७ वें वर्ष गद्दी पर बैठा और उसीने विक्रम-संवत् चलाया। इस पर बड़ा वादविवाद हुआ। कुछ विद्वानों ने आपके इस सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण प्रमाणित किया है।

९—ज़ार की हत्या

जिस दिन ज़ार की हत्या हुई उसी दिन एक बजे रात को यूरोवूस्की नामक एक मनुष्य ने आकर ज़ार को सोते से जगाया और कहा "जल्दी से कपड़े पहन लो और चलो। सड़क पर शायद लड़ाई हो और संभव है इन खिड़कियों से गोलियाँ यहाँ तक आजायँ। इसलिए बेहतर होगा कि सबके सब तहखाने में जा रहें। मैं जाकर दूसरों को जगाता हूँ।" थोड़ी देर में ज़ार अपनी स्त्री और लड़कों के साथ नीचे आये। उस समय का दृश्य बड़ा करुणाजनक था। उनके साथ उनका १४ वर्ष का एक लड़का भी था। वह बीमार और शक्तिहीन था। चार लड़कियाँ भी थीं। यदि उनका जन्म किसी दूसरे घर में होता

तो उनके सौन्दर्य की सर्वत्र ख्याति होती। एक की उम्र २१ वर्ष की थी। नाम था कुमारी टाटाइना। किंवदन्ती थी कि वह इङ्गलेण्ड की राजरानी होगी। कुमारी ओल्गा १९ वर्ष की थी। मेरिया १८ वर्ष की और अनास्टासिया सिर्फ १६ वर्ष की। उन्हें देखकर किसकी इच्छा सहायता देने की न होती। जब वे लोग तंग और अँधेरी सीढ़ियों से नीचे उतर रहे थे तब एक सैनिक ने आकर लालटेन दिखाई। पर किसी ने उनको बचाने की चेष्टा न की। जार ने अपनी पत्नी को हाथ का सहारा दिया। उन्हें क्या मालूम कि अन्तिम बार वे ऐसा कर रहे हैं। तहखाने में जाकर जार और उनके बाल-बच्चे एक कोने में खड़े हो गये। कुमारी टाटाइना गोद में शिशु पेकिंगोज को लिए हुए थी। जो सैनिक वहाँ आये थे वे एक दूसरे की मुँह की ओर ताकने लगे। मचकोवस्की और यूरोवस्की ने अपने अपने पिस्तौल निकाले। तब जान पड़ता है, जार को विपद की आशंका हुई। तहखाना २६ फुट लम्बा और २० फुट चौड़ा था। उसमें एक छोटी सी खिड़की थी। दीवारों पर सम्राज्ञी और रासपुटिन के अश्लील चित्र खिंचे हुए थे। पिस्तौल खींचकर युरोवस्की ने एक कागज निकाला और उसे पढ़कर सुनाया। उसमें सोवियट रिपब्लिक अर्थात् रूस के प्रजातंत्र राज्य ने जार और उनके परिवार को प्राण-दंड की आज्ञा दी थी। सम्राज्ञी और सब बच्चे घुटने टेककर खड़े हो गये। जार खड़े ही रहे। अब यूरोवस्की जोर जोर से आज्ञा

पढ़ रहा था तब वे अपनी स्त्री और बच्चों के सामने जाकर खड़े हो गये। मानों वे अपने शरीर से उनको बचाना चाहते हों। उन्होंने कुछ कहा भी। पर यूरोवस्की की आवाज के कारण वह कोठरी गूँज रही थी। किसी ने कुछ समझा नहीं। इसके बाद उसने पिस्तौल छोड़ दिया। सम्राट गिर पड़े। फिर तो पाँच मिनट तक बराबर पिस्तौल दगते रहे। एक सैनिक का कहना है कि हत्या का वह दृश्य इतना भीषण था कि वह मुझसे भी नहीं देखा जाता था। पहले घायल होकर टाटाइना मूर्च्छित हो गई। उसका एक छोटा कुत्ता भी साथ ही आया था। वह सैनिकों की ओर देखकर खूब भूँकने लगा। एक ने उसे मार डाला। थोड़ी देर में टाटाइना की मूर्च्छा भंग हो गई। वह उठकर 'मा, मा' चिल्लाने लगी। सिपाहियों ने तुरन्त उसके शरीर में संगीन घुसेड़ दी। कुछ ने सिर पर भी चोट की। सभी हत्याकारी उन्मत्त से थे। मृत शरीरों पर भी वे संगीन चलाते थे। इस तरह एक निरपराध राज-परिवार का नाश कर दिया गया।

१०—एक ईसाई भक्त

साधु सुन्दर सिंह सन्यासी हैं। आप की जन्मभूमि पंजाब है। जब आप सोलह वर्ष के थे तभी आप ईसाई मत में दीक्षित हो गये। ईसाई हो जाने पर भी आपने अपना भारतीय वेश परित्याग नहीं किया। ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये

आपने संसार का परित्याग कर सन्यास व्रत धारण किया। आप भारतीय सन्यासियों के समान गेरुवा वस्त्र पहनते हैं। आपकी उम्र ३१ वर्ष की है। यूरोप में आजकल सभी अपने को ईसाई कहते हैं, परन्तु यदि सच पूछा जाय तो वहाँ ईसाई धर्म की पूरी अवहेलना की जाती है। साधु सुन्दर सिंह पदस्खलित ईसाई-जाति को धर्म-विहित सत्य का पथ बतलाने के लिए उसे, भगवान ईसामसीह का उपदेश स्मरण कराने के लिए, यूरोप गये। इसके पहले आप समग्र भारतवर्ष घूम चुके थे। नेपाल, तिब्बत, अफगानिस्तान में भी ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए आप गये थे। यह काम यों ही नहीं हो गया। आपको बड़ी बड़ी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। तिब्बत में एक बार आप मृत्यु के द्वार तक पहुँच गये थे। एक अलौकिक उपाय से आपकी जीवन-रक्षा हुई। जब तिब्बत के लोगों को यह मालूम हुआ कि आप ईसाई हैं तब उन्होंने आपको एक बड़े भारी गढ़े में डाल दिया। वहाँ जब किसीको प्राणदंड की सजा होती थी तब वह उसी गढ़े में डाल दिया जाता था। गढ़े के मुख पर लोहे का दरवाजा लगा था और उसकी चाबी एक लामा के पास रहती थी। वहाँ से छुटकारा पाना बिलकुल असंभव था। ऐसे अन्धकूप में फेंके जाने पर भी आप नहीं घबड़ाये। नीचे गिरने से आपके हाथ भी टूट गये, आप बिलकुल निस्सहाय हो गये। पर आप ईश्वर की ही प्रार्थना में निरत रहे। दो दिन तक आप

उसी अवस्था में पड़े रहे। तीसरे दिन रात्रि के समय, किसी ने आपको एक लकड़ी के सहारे से ऊपर खींच लिया। अँधेरे में आप उसे देख नहीं सके, पर उसके स्पर्श-मात्र से आपका दुःख दूर हो गया और हाथ भी ठीक हो गये। दूसरे दिन गाँव में फिर आप ईसाई धर्म का उपदेश देने लगे। यह देखकर सब लोग चकित हो गये। लोगों ने लामा को खबर दी। लामा ने आकर देखा कि मृत्युकूप का दरवाजा बिलकुल बन्द है। उस दिन से लोग आप पर श्रद्धा करने लगे। आप तिब्बत में निरापद् घूमने लगे।

साधु सुन्दरसिंह जी कहा करते हैं कि भक्ति, विश्वास और भगवदुपासना से मनुष्य नीरोग और निरापद् रहेगा। भगवान उस पर सदैव सदय रहते हैं और उसका कल्याण ही करते हैं। मनुष्य मोहान्ध होने से उन्हें पहचान नहीं सकता। परमेश्वर के अनन्त प्रेमस्रोत से यह समस्त संसार उद्भासित है, परन्तु जिस प्रकार नदीतल में रहकर भी पत्थर का हृदय सूखा ही रहता है उसी प्रकार मनुष्य का हृदय भी भगवान् की करुणा से वञ्चित रहता है।

११—इम्पीरियल लाइब्रेरी

सर्वसाधारण की ज्ञानवृद्धि के लिए स्कूलों का स्थापित किया जाना जितना आवश्यक है उतना ही पुस्तकालय खोलना। सभी

समय देशों में पुस्तकालयों को उन्नति करना परमावश्यक माना गया है। भारतवर्ष में महाराजा बड़ोदा ने अपने राज्य में पुस्तकालयों का अच्छा प्रचार किया है। सन् १९१८ से भारत-वर्षमें पुस्तकालय-स्थापना का आन्दोलन होने लगा है। उसी साल जनवरी में, भारतवर्ष के सब पुस्तकालयों के अध्यक्षों का एक सम्मेलन, लाहौर में हुआ था। भारतीय सरकार के शिक्षा विषयक सलाहकार उसमें सभापति हुए थे। भारत के सभी भागों में पुस्तकालय स्थापित करने, देशी भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों की खोज करने, पुस्तकालय-सम्बधी एक सामयिक पत्र निकालने, एक समिति स्थापित करने, आदि का निश्चय हुआ। पुस्तकालयों के प्रचार के लिए सम्मेलन में उपाय सोचे गये। १९११ के जून में ऐतिहासिक कागज पत्रों की जाँच के लिए नियुक्त की गई कमेटी की एक बैठक शिमला में हुई थी। उसका यह उद्देश था—लोगों को सरकारी कागजात प्राप्त करने में सुविधा करना और लोगों में इतिहास की खोज करनेकी लालसा बढ़ाना। हर्ष की बात है कि सरकार का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है। पुस्तकालयों की उपयोगिता को कौन स्वीकार न करेगा। भारतवर्ष में सबसे प्रसिद्ध पुस्तकालय कलकत्ता की इम्पीरियल लाइब्रेरी है। नीचे उसके विषय में कुछ बातें लिखी जाती हैं—

लार्ड विलियम बेंटिङ्क भारतवर्ष के गवर्नर-जेनरल थे। उनके चले जाने पर यहाँ कुछ समय तक सर चार्ल्स मेटकाफ पर

भारत का शासन-भार पड़ा। उन्होंने १८३५ ईसवी में भारतीय प्रेसों को स्वतंत्र कर दिया। इस कारण उनकी बड़ी ख्याति हुई, लोग बड़े कृतज्ञ हुए। जब सर चार्ल्स मेटकाफ भारतवर्ष से जाने लगे तब लोगों ने उनकी स्मृतिरक्षा के लिए उपाय सोचा। सबसे अच्छा उपाय यही समझा गया कि उनके नाम से एक पुस्तकालय खोल दिया जाय। कलकत्ते में एक लाइब्रेरी सर्व साधारण के लिए खोली गई। उसके लिए अलग कोई मकान न मिला। तब डाक्टर एफ० पी० स्टाक के बंगले में ही पुस्तकालय स्थापित किया गया। वहीं १८४१ तक फोर्ट विलयम कालेज से पुस्तकें ले जाकर रक्खी गईं। इसके बाद स्ट्रैंड रोड और हेयर-स्ट्रीट जहाँ मिलती हैं वहीं एक जगह, लार्ड आकलेंड की कृपा से, मिलगई। तब चन्दा किया गया। ७०००० रुपये एकत्र हो गये। १८४४ में मकान भी बनकर तैयार हो गया। पुस्तकालय की स्थापना हो गई। पर उसका प्रबन्ध अच्छा न था। १८९९ में लार्ड कर्जन ने भारतवर्ष में एक इम्पीरियल लाइब्रेरी स्थापित करने की आवश्यकता देखी। १९०२ में इम्पीरियल लाइब्रेरी ऐक्ट पास किया गया। तब कलकत्ता पब्लिक लाइब्रेरी इम्पीरियल लाइब्रेरी बना दी गई। जान मैकफरसेन साहब उसके अध्यक्ष नियुक्त किये गये। १९०३ में स्वयं वाइसराय ने आकर उसका उद्घाटन-संस्कार किया। उस समय एक लाख पुस्तकें थीं। इसके बाद एक लाख पुस्तकें

और रक्खी गईं। अब तो उसका प्रबन्ध बहुत ही अच्छा है। उससे कितने ही लोग शिक्षा-लाभ कर रहे हैं।

बस, इतने उदाहरण पर्याप्त हैं। ऐसे छोटे छोटे निबन्ध लिखते समय भी हमें यह न भूल जाना चाहिए कि हम जो लिख रहे हैं वह दूसरों के पढ़ने के लिए है। व्यर्थ बातों का विस्तार करने से कोई लाभ नहीं। यदि इन बातों पर ध्यान देकर विद्यार्थी प्रबन्ध-रचना की ओर प्रवृत्त होंगे तो वे अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे। सबसे बड़ी बात है अभ्यास करना। अध्यवसाय और परिश्रम से क्या नहीं होता।

राजनाँद गाँव
१-१२-३०

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

प्रबन्ध-पारिजात

१—अचेतन का माहात्म्य

हे मेघ, तुम अपने हृदय में जल का इतना भार रक्खे हुए हो, तो भी पवन के साथ इतनी क्षिप्रगति से दौड़ते हो। ऐसी भीषण विद्युज्ज्वाला को रखकर भी तुम इतने स्निग्ध और श्याम हो कि तुम्हारा सौम्य रूप देखकर हम तृप्त हो जाते हैं। बतलाओ तो यह क्या रहस्य है, तुम किस प्रकार यह असाध्य काम कर डालते हो?

मेघ ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है, यही मैं नहीं जानता।

२—शक्ति की क्षमा

नारद ने कहा—हे पृथ्वी, तुम्हारा ही अन्न खाकर मनुष्य तुम्हारी ही निन्दा करता है। कोई तुम्हें मिट्टी कहता है, कोई धूल कहता है, कोई तुम्हें जड़ और स्थूल कहा करता है, सभी तुम्हें मलिन मानते हैं। लोग ऐसे अकृतज्ञ हैं। तुम अन्न-जल देना तो बन्द कर दो। तब वे समझेंगे कि मिट्टी-धूल क्या चीज है।

पृथ्वी ने हँसकर कहा—भला, मैं उनसे बदला लूँ? उनकी निन्दा से तो मुझ पर कोई दाग नहीं लग सकता। पर यदि मैं क्रोध करूँ तो वे सभी मर जायँगे।

३—भिक्षा और उपार्जन

हे वसुन्धरे, तुम इतनी कृपण क्यों हो ? कितना परिश्रम करने पर तुम हमें ये चावल के कण देती हो। यदि देना ही है तो प्रसन्न होकर क्यों नहीं देती ? क्यों हम सिर पर इतनी धूप लेकर व्याकुल होते ?

वसुन्धरा ने हँसकर कहा—इससे मेरा गौरव तो थोड़ा ही बढ़ता, पर तुम्हारा तो सभी गौरव नष्ट हो जाता।

४—भेद

आम ने बबूल से कहा—भाई, तुम क्यों फूलते-फलते हो ? तुम्हारी छाया भी व्यर्थ है। सचमुच तुम्हारा भाग्य बड़ा बुरा है।

बबूल ने कहा—भाई, तुम जीवित रहते हो, तभी फल देते हो। पर मेरी सफलता अपने को भस्म करने में ही है।

५—ज्ञान की सीमा

तृषार्त गदहा सरोवर के किनारे गया। वहाँ जल को देख कर उसने कहा—छिः छिः कितना काला है। इतना कहकर वह लौट आया।

जल ने कहा—जो गदहे हैं वही कहते हैं कि मैं काला हूँ—पर बुद्धिमान तो जानते हैं कि मैं काला नहीं, स्वच्छ हूँ।

६—कुटुम्बिता

लैम्प ने मिट्टी के दिये से कहा—खबरदार जो मुझे भाई कहा। अबकी बार गला दबा दूँगा।

इतने में आकाश में चन्द्रोदय हुआ और लैम्प चिल्ला उठा—वह देखो, मेरा भाई आया।

७—समालोचक

फूटी कौड़ी ने रुपये से तिरस्कार-व्यंजक स्वर में कहा—तुम हो क्या, सिर्फ सोलह आने। मोहर तो नहीं हो।

रुपये ने कहा—भाई मैं जो हूँ सो हूई हूँ। परन्तु तुम्हारा जितना मूल्य है उससे अधिक तुम्हारी बात है।

८—अयोग्य का उपहास

आकाश में नक्षत्र का पतन देखकर प्रदीप ने हँसकर कहा—बस, इतने धूमधड़क्के का अन्त यही हुआ।

रात्रि ने कहा—हँसो मत। तुममें जो थोड़ा तेल है वह कहीं चुक न जाय।

९—सन्देह का कारण

नकली हीरे ने छाती फुलाकर कहा—देखो, मैं कितना बड़ा हूँ।

भाई, इसी बात से तो हम सन्देह करते हैं कि तुम असल नहीं हो।

१०—कलंक का कलंक

हे धूल, तुम सभी की स्वच्छता को कलंकित करती फिरती हो। यह क्या तुम्हारे लिए कलंक की बात नहीं है ?

११—प्रत्यक्ष प्रमाण

वज्र ने कहा—जब तक मैं दूर था कोई मुझे मानता ही न था। लोग मेरे गर्जन को मेघ का गर्जन कहते थे और मेरी ज्योति को विद्युत् की ज्योति समझते थे। जब मैं उनके सिरपर गिरा तब उन्होंने कहा—हाँ, यह वज्र है।

१२—भार

गौरैया ने मोर से कहा—भाई तुम्हें देखकर मुझे बड़ी दया आती है। मोर ने पूछा—इस दया का कारण क्या है ?

गौरैया ने कहा—देखो, एक तो तुम्हारा शरीर ही बड़ा, फिर पूँछ तो और भी बड़ी है। देखो, मैं कितनी सरलता से फुद-कती रहती हूँ। तुम्हारे पीछे यह जो दुम है उससे बड़ा भार होता है। मोर ने कहा—भाई, शोक मत करो ? गौरव के ही पीछे भार रहता है।

१३—गुण की परख

गंगा के किनारे कभी एक हीरा पड़ा हुआ था। उसे वहाँ पड़े पड़े सैकड़ों वर्ष बीत गये। हजारों लोग आये और चले गये। कभी किसी की दृष्टि उसपर नहीं पड़ी। सैकड़ों ने उसे

पैरों से कुचला और ठुकराया, पर उसने लोगों का यह निरादर चुपचाप सह लिया। इसी तरह उसने कुछ वर्ष और काट डाले।

एक दिन एक सन्यासी उधर से निकल पड़ा। उसकी नजर उस हीरे पर पड़ गई। उसे मामूली चमकीला पत्थर समझ कर उसने उसे अपने झोले में डाल लिया, सोचा कभी कोई लड़का माँगेगा तो उसे खेलने को यह पत्थर दे देंगे। साल भरतक वह हीरा उस सन्यासी के झोले में ही पड़ा रहा।

एक बार वह सन्यासी अपने किसी चेले के घर गया। उसका चेला किसान था। उसने अपने गुरु की बड़ी खातिर की। दो दिनों तक उसने उन्हें अपने घर टिकाया, खाने-पीने का बड़ा प्रबन्ध किया। जब गुरुजी महाराज जाने लगे तब उसने उनकी अच्छी बिदाई की। जाते समय गुरुजी ने उसको वही हीरा निकाल कर दे दिया और कहा, "बेटा, मेरे पास तो कुछ नहीं है, यह पत्थर तुमको देता हूँ।" किसान ने उस पत्थर को सिरपर रक्खा और गुरु जी को कुछ दूर पहुँचा कर वह घर लौट आया। घर में आकर वह सोचने लगा, अब इस पत्थर को क्या करें। यदि इसे घर में कहीं डाल दें तो शायद लड़के बच्चे इसे फेंक दें। यह गुरुजी का चिह्न है। इसे अच्छी तरह रखना चाहिए। यह सोचकर उसने उस हीरे को अपने हल की मूँठ पर लगा दिया। दस साल तक बेचारा हीरा खेतों में मारा मारा फिरता रहा।

दैव-संयोग से एक जौहरी उस गाँव में आया। उसे हल की मूँठ पर हीरा देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने किसान से पूछा, "भाई, यह पत्थर तुम्हें कहाँ से मिला।" किसान ने कहा, "यह हमें गुरुजी महाराज दे गये हैं। वे इसे गंगा के किनारे से उठा लाये थे।" जौहरी ने उसे खरीदना चाहा। पहले तो किसान ने उसे बेचना न चाहा, क्योंकि वह उसके गुरु का चिह्न—स्वरूप था। पर जब जौहरी उसे पचीस रुपये तक देने लगा तब उसने बेच ही डाला। जौहरी बड़ा खुश हुआ। उसने हीरे को मूँठ से निकलवा कर रेशम के कपड़े से लपेट कर, बड़े यत्न से एक चाँदी के डब्बे में बन्द कर दिया।

घर पहुँच कर जौहरी ने बड़ी खुशी से डब्बे को खोला, पर देखता क्या है कि हीरे के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं। वह सिर पीटकर कहने लगा "अरे हीरा, तुमसे बढ़कर मूर्ख कौन होगा। इतने दिनों तक जगह जगह ठोकरें खाता रहा, पर तूने चूँ तक न की। गंगा के किनारे लोगों ने तुझे कुचला, फिर झोले में पड़ा रहा, इसके बाद मूर्ख किसान के हल में जड़ा गया। तूने यह सब सह लिया। और मैंने तुझे इतने आदर से रक्खा और उसका यह फल हुआ।"

हीरे ने कहा—"सुनो जौहरी, यह सच है कि आजतक सब लोग मेरा निरादर करते रहे। पर उसका कारण यह था कि कोई मुझे पहचानता नहीं था। इसीलिए मुझे उसका दुःख

नहीं है। पर तुम तो जौहरी हो, मुझे पहचानते हो। तो भी तुमने मेरा मूल्य सिर्फ पचीस ही रुपये रक्खा। इसी दुःख से मेरी छाती फट गई है।"

१४—माता का रत्न

माधव बाबू के यहाँ दुर्गापूजा बड़ी धूमधाम से होती है। इस साल उन्होंने बड़ी तैयारी की थी। नगर भर के लोग उनके घर उत्सव देखने के लिए जमा होते थे। माधव बाबू के पड़ोस में एक गरीब विधवा रहती थी। उसके एक ही लड़का था। उसका नाम था विपिन। वह भी माधव बाबू के घर उत्सव देखने के लिए गया। वहाँ उसने जो कुछ देखा उससे उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। घर की सजावट तो बढ़िया थी ही। पर सोने और चाँदी और तरह तरह के रत्नों के कारण कहीं आँख नहीं ठहरती थी। विपिन छोटा नहीं था। वह अपनी दशा समझने लगा था। माधव बाबू का ऐश्वर्य देखकर उसे अपने घर की स्थिति का खयाल आया। यहाँ सब स्त्रियाँ अच्छे अच्छे कपड़े और गहने पहने इधर उधर घूम रही हैं और वहाँ उसकी माँ, वह बिचारी अभी अपने काम-धन्धों से छुट्टी पाकर रोटी बनाने की फिक्र करती होगी। विपिन की आँखें भर आईं। उसे अब वहाँ ठहरना भी अच्छा नहीं लगता था। वह उदास-मुख घर लौट आया। उसकी माँ उस समय रसोई घर में थी, उसने विपिन को नहीं देखा। विपिन वहीं कुछ देर

तक बैठा रहा। फिर जी न लगा तो उठ कर वह नदी की ओर चला।

सन्ध्या हो गई थी। आकाश में सूर्य की किरणों से बादलों पर सोने का रंग चढ़ आया था। सोचते सोचते विपिन ने आकाश की ओर देखा। अरे, आकाश में कितना सोना है। अगर विपिन वहाँ तक चला जाता तो वह खूब सोना लेकर घर लौटता और फिर उसकी माँ को कोई काम न करना पड़ता। वह सुख से रहती। पर वहाँ पहुँचना बड़ा मुश्किल है। भगवान् ने क्यों इतना सोना व्यर्थ आकाश में बिखरा दिया।

'विपिन', किसी ने पुकारा।

विपिन ने चौंककर पीछे देखा, माधव बाबू खड़े हैं।

माधव बाबू ने कहा—तमाशा देखने नहीं गये ?

विपिन ने कहा—गया था पर लौट आया।

माधव बाबू ने पूछा—क्यों ?

विपिन को झूठ बोलने की आदत नहीं थी। उसने सच्चा सच्चा हाल बतला दिया।

माधव बाबू हंसने लगे। फिर विपिन से कहा—अरे, समझता है, तेरी माता के पास कुछ नहीं है ? उसके पास तो वह रत्न है जो मेरे घर में भी नहीं है।

विपिन ने चकित हो कहा—नहीं, मैंने तो आजतक माँ के पास कोई रत्न नहीं देखा।

माधव बाबू—अगर तुझे विश्वास नहीं है, तो जा पूछ आ।

विपिन दौड़कर घर गया और माँ को पुकारने लगा—माँ, माँ।

उसकी माँ ने रसोई घर से कहा—क्या है, विपिन।

विपिन ने जल्दी से कहा—माँ, तुम्हारे पास कौन सा रत्न है, दिखला तो। माधव बाबू कहते थे कि तेरे पास ऐसा रत्न है जो उनके भी घर में नहीं है।

माँ ने लड़के को छाती से लगाकर कहा—लाल, तू ही तो मेरा रत्न है, मेरा हृदय-धन, मेरा खजाना है।

विपिन को तब बड़ा आश्चर्य हुआ।

पर तीस वर्ष के बाद श्रीयुत विपिन किशोर सी० आई० ई० कभी कभी अपने बचपन की इस घटना का स्मरण किया करते हैं।

१५—दो दौड़ें

(१) पहली दौड़

खैरागढ़ में टूर्नामेंट की बड़ी तैयारी थी। सभी जगह से लड़के आये थे। पर खींचातानी दो ही स्कूलों के बीच थी, खैरागढ़ और राजनाँदगाँव। विजय-लक्ष्मी इन दोनों के बीच झूल रही थी। कभी वह खैरागढ़ की ओर झुकती तो कभी वह राजनाँदगाँव की ओर जाती। सभी लड़कों के दिल धड़क रहे

थे। सभी उत्सुक थे कि देखें कौन बाजी मार ले जाता है। पहले दिन सौ गज की दौड़ थी। खैरागढ़ के युधिष्ठिरसिंह ने राजनाँदगाँव को नीचा दिखा दिया। पर दूसरे दिन उमाधर ने राजनाँदगाँव की लाज रख ली। इस तरह दोनों स्कूलों के नम्बर बराबर थे। अब सिर्फ एक मील की दौड़ बच गई थी। सारा दारमदार इसी पर था। जो लड़का खैरागढ़ की ओर से दौड़नेवाला था उसकी उम्र पचीस वर्ष की थी। नाम था भुवन मोहन। बड़ा तेज दौड़नेवाला था। राजनाँदगांव की ओर से एक सत्रह वर्ष का लड़का खड़ा हुआ। वह दुबला-पतला था। पर उसकी आँखों से आग बरस रही थी। लम्बी साहब ने उसकी पीठ ठोंकी, कहा, अब तुम्हारा ही भरोसा है। पर उस लड़के ने आँख तक ऊपर नहीं की। तब लम्बी साहब ने अपने एक मास्टर को बुलाकर कहा, "देखो, जगदानन्द को समझाओ। वह नाराज हो गया है। अगर वह प्रसन्न-चित्त से दौड़े तो मुझे जीत की पूरी उम्मेद है।" मास्टर दौड़ते हुए जगदानन्द के पास गये, खूब समझाया, पर जगदानन्द अटल ही खड़ा रहा। इसी समय खैरागढ़ का भुवनमोहन उधर से निकल पड़ा। उसने जगदानन्द की ओर देखकर मूँछों पर ताव देकर कहा, "देखूँ खरगोश कैसी चौकड़ी भरता है।" जग-दानन्द की आँखें चमक उठीं। उसने मास्टर से कहा "मैं दौड़ूंगा, आप बेफ़िक्र रहिए।"

दौड़ शुरू हुई। पहले चक्कर में जगदानन्द और भुवनमोहन साथ ही साथ थे। दोनों इतनी तेजी से दौड़े कि यह मालूम हुआ कि मानों यह सौ गज की दौड़ हो। सब लड़के पीछे रह गये। दूसरे चक्कर में जगदानन्द आगे बढ़ा, पर भुवनमोहन उसके दो ही कदम पीछे रहा। तीसरा चक्कर आखिरी था। पहले तो जगदानन्द पचास कदम आगे बढ़ गया। परन्तु उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा। भुवनमोहन सर सर दौड़ता हुआ उसके पास पहुँच गया। जगदानन्द ने उसके साथ ही साथ दौड़ना चाहा। पर उसके पैरों ने जवाब दे दिया। भुवनमोहन आगे बढ़ गया। खैरागढ़ के लड़के चिल्लाये, खैरागढ़! खैरागढ़! अभी दो सौ गज का फासला था। एकाएक जगदानन्द ने अपना सिर ऊपर उठाया। दो हजार आँखें उसके ऊपर जमी थीं। वह दौड़ने लगा। क्षण भर में वह भुवनमोहन के पास पहुँच गया। राजनाँद गाँव के लड़के चिल्लाये, 'राजनाँद गाँव! राजनाँद गाँव!' जगदानन्द आगे ही बढ़ता गया। उसकी आँखें लाल हो रही थीं। उसने पचास गज से भुवनमोहन को नीचा दिखला दिया। लड़कों ने जयध्वनि की।

(२) दूसरी दौड़।

सूरज डूब गया था। पर अभी अँधेरा नहीं हुआ था। जगदानन्द एक जंगल से होकर घोड़े पर चढ़ा हुआ घर लौट

रहा था। वह जंगल बड़ा भयानक था। कोई दस मील लम्बा था। अँधेरा हो जाने पर कोई उसमें घुसने का साहस नहीं करता था। जगदानन्द तेजी से चला जा रहा था कि पीछे से किसी ने आवाज़ दी, 'ठहरो, ठहरो।' जगदानन्द ने घोड़ा रोक दिया, लौटकर देखा, एक बुड्ढा बेतहाशा दौड़ता चला आ रहा है। जब वह पास आया तब जगदानन्द ने पहचाना कि वह उसके गाँव का पक्का मक्खीचूस और निर्दयी साहूकार भोंदूमल है जिसके कारण जगदानन्द का मकान तक बिक गया था। जगदानन्द ने पूछा, "क्या है?" उसने गिड़गिड़ा कर कहा, "मेरे प्राण बचाओ। भेड़िये पीछे पड़े हुए हैं।" क्षण भर के लिए जगदानन्द के मन में हुआ कि हम घोड़ा दौड़ाकर भाग जायँ और यह बुड्ढा यहीं अपनी करनी का फल भोगे। पर हृदय के भीतर से किसी ने उसे रोका। जगदानन्द ने उसे घोड़े पर चढ़ा लिया और फिर तेजी से घोड़ा दौड़ाया। पर घोड़ा थका हुआ था। वह दो आदमियों का बोझ नहीं सँभाल सकता था। भेड़िये पास आ रहे थे। तब जगदानन्द उतर पड़ा। घोड़ा बेतहाशा भागा। पल भर में वह अदृश्य हो गया। इतने में भेड़िये पास पहुँच गये। कोई सहारा न देखकर जगदानन्द ने दौड़ने का विचार किया। उसे अपनी पहली दौड़ का स्मरण आया। वह दौड़ थी बाजी के लिए और यह थी प्राण-रक्षा के लिए। जगदानन्द ने अपना

कोट उतार दिया, धोती कस ली और भेड़ियों को बिलकुल पास आ जाने दिया। उसने मन में कहा, "यह आखिरी समय है। हम तुमसे दौड़ में किसी तरह का फायदा उठाना नहीं चाहते। भेड़िये पास आ गये। तब जगदानन्द दौड़ने लगा। तीन मील तक बराबर दौड़ जारी रही। किसी ने जयध्वनि नहीं की, किसी ने ताली नहीं बजाई। केवल जड़-प्रकृति चकित होकर वह दौड़ देखती थी। जगदानन्द सब भूल गया। पृथ्वी अदृश्य हो गई। वह केवल दौड़ता ही चला गया।

× × ×

दूसरे दिन रामपुर के एक किसान ने देखा कि उसके घर के सामने जगदानन्द का मृत शरीर पड़ा हुआ है। शरीर पर किसी तरह की चोट नहीं है। चेहरे पर एक तरह की हँसी झलक रही है। क्या वह विजय की हँसी थी?

१६—पर्वत

(नदी के प्रति)

मैं देख रहा हूँ, सब कुछ देख रहा हूँ। देखना ही तो मेरा काम है। न जाने कितने आये और गये और मैं खड़ा खड़ा देखता ही रहा। मैं निश्चेष्ट हूँ, निष्क्रिय हूँ, जड़ हूँ। न कुछ कह सकता हूँ, न कुछ कर सकता हूँ। बतलाओ, मेरे जीवन की सार्थकता किसमें है?

संसार का यह विशाल कर्मक्षेत्र तुम्हारे लिए है। तुम जाओ। मैं तुम्हें रोक नहीं सकता। अभी तक तुम्हें अपने अन्तस्तल में छिपा रखने की व्यर्थ चेष्टा मैंने की। सभी सिर्फ जाने के लिए तो मेरे पास आते हैं। आजतक कोई नहीं ठहरा। तब भला तुम कैसे ठहरोगी? तुम जाओगी और फिर कभी लौटकर नहीं आओगी। तुम लोग लौट आना जानती ही नहीं। तुम आगे ही बढ़ती जाओगी। तुम्हारी इच्छा का अन्त नहीं, तुम्हारी गति का अवसान नहीं। तुम आगे ही बढ़ोगी, अनन्त तक आगे ही बढ़ती जाओगी।

और मैं?—मेरी बात क्या तुम समझ सकोगी? जो अपने कल-कल-निनाद से विश्व को विक्षुब्ध कर सकती है, जो अपनी क्षिप्र-गति से संसार को विस्मित कर सकती है, जो अपनी अप्रतिहत शक्ति से भुवन को विह्वल कर सकती है, वह क्या मूक, जड़ और निष्क्रिय की बात समझ सकेगी? तुममें वाणी है, तुममें गति है और तुममें शक्ति है। और मैं? परन्तु मैं अपनी कौन सी बात कहूँ। किस आशा से, किस विश्वास से, किस मोह से मैंने तुम्हें अपने अन्तस्तल में इतने दिनों तक छिपा रक्खा था। जब तुम बाहर निकलने के लिए जरा चंचल होती थी तब मैं यह समझता था कि तुम शायद गिर पड़ो। कौन जानता था कि इस पतन में ही तुम्हारा निर्वाण है, उसी में तुम्हारी मुक्ति है। गिरते ही तुम्हारी शक्ति प्रकट होगी और वह

शक्ति—जिसके लिए कोई बाधा नहीं, कोई विघ्न नहीं, कोई अवरोधक नहीं।

अभी कुछ ही क्षण हुए, तुम मुझसे अलग हुई और अब कहाँ चली गई? अब तुम रुकना भी चाहो तो रुक नहीं सकतीं। परन्तु तुम रुकना चाहोगी क्यों? संसार का आह्वान तुमने सुन लिया। संसार की आवश्यकता तुम्हें मालूम हो गई। तुम अब जाओगी, तुम अब नहीं रुकोगी। मैं भी कहता हूँ कि तुम जाओ, लोक का कल्याण करो, पृथ्वी को शीतल करो, सन्तप्तों का सन्ताप दूर करो। तुम्हारे स्पर्श से संसार पुनीत होगा, उसके अन्तस्तल में पवित्र धारा बहने लगेगी, उसका कालुष्य छूट जायगा।

मैं जानता हूँ कि संसार के कालुष्य से कभी तुम्हारा भी हृदय क्षुब्ध हो जायगा। क्षण भर के लिए तुममें भी कुछ मलिनता आ जायगी। परन्तु स्वर्ग का प्रतिबिम्ब तुम्हारे हृदय पर सदैव पड़ता रहेगा। संसार की मलिनता तुम्हें मलिन नहीं कर सकेगी, संसार का सन्ताप तुम्हारे अन्तस्तल में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। वहाँ सदैव चिर-शान्ति बनी रहेगी। तुम अपने जीवन-पथ पर निर्भय होकर अग्रसर होगी।

मैंने कभी सोचा था—सची बात कहने में हानि क्या है—कि मैं तुम्हें देखता रहूँगा। तुम्हारा साथ देना तो मेरे लिए असम्भव है, क्योंकि यदि भाग्य में ऐसा होता तो भगवान मुझे

इतना जड़ क्यों बनाता ? परन्तु कभी कभी तुम्हारी दो-चार सखियों को मैंने एक परिमित सीमा में ही शान्त रूप से विनोद करते देखा था। यह बात नहीं कि उनसे संसार का कल्याण नहीं होता। उनसे भी कितने ही लोगों का उपकार होता है। यह बात अवश्य है कि उनका कार्यक्षेत्र निर्दिष्ट है, उनका स्थान निर्दिष्ट है। वे स्वच्छन्द नहीं हैं। वे बन्धन में हैं। मैं भी तुम्हें किसी वैसे ही बन्धन में देखना चाहता था। परन्तु क्या तुम्हें बन्धन इष्ट है ? यदि मैं जड़ न होता तो क्षण भर तुम्हें रोकने के लिए जरूर चेष्टा करता और यदि तुम्हें अपने ही बन्धन में रख सकता तो क्या तुम रहना पसन्द करतीं ?

मैं कठोर हूं। मेरा हृदय पाषाणमय है। मेरे अन्तस्तल में प्रकाश का प्रवेश नहीं। ज्योति की रेखा से वह कभी उद्भासित नहीं हुआ। वहाँ सदैव अन्धकार ही बना रहता है। निस्तब्धता मेरा जीवन है। निर्जनता मेरी विहार भूमि है। और तुम ? तुम कोमल हो। तुम्हारा हृदय सरस है। सूर्य की रश्मियों से तुम विलास करती हो। भगवान ने मधुर वाणी तुमको दी है। कितने ही बालक-बालिकाओं के कलरव से तुम्हारा स्थान पूर्ण रहता है। भला, मैं तुम्हारा साथ किस प्रकार दे सकता था ? न जाने विधाता का वह कैसा विधान था जिससे मैंने तुम्हारे जीवन के प्रारम्भ-काल में तुमको अटका रक्खा था। अब तुम जाती हो तो जाओ। मैं तो यह देखता ही

आया हूं। न जाने कितने आये और गये और मैं देखता ही रहा। चुपचाप खड़े-खड़े देखते रहना ही मेरा जीवन है।

१७—परलोकवासी बाबू भूतनाथ पाल

बाबू भूतनाथ पाल कलकत्ते के नामी व्यवसायी श्रीयुत बट्टो कृष्टोपाल के पुत्र थे। उनका जन्म १८६६ में हुआ था। उनके पिता की, उस समय आर्थिक दशा अच्छी न थी। पर वे थे बड़े उद्यमी पुरुष। अपने ही पुरुषार्थ से उन्होंने १८५९ में एक दवा-खाना खोला जो आज कल बी० के० पाल एण्ड को के नाम से प्रसिद्ध है। १८८२ में, सोलह ही वर्ष की अवस्था में बाबू भूतनाथ पाल अपने पिता की सहायता करने लगे! आरंभ में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई। पर वे उद्योग करते ही रह गये। उनकी उन्नति होने लगी। कुछ समय बाद उनका काम इतना बढ़ गया कि उसके लिए उन्हें बानफील्ड लेन में एक बड़ा भारी मकान लेना पड़ा। पर वह भी पर्याप्त न हुआ। इस लिए उन्हें फिर मकान बढ़वाना पड़ा। आज कल उनका कारखाना कोई डेढ़ लाख फुट जमीन पर है। सात बड़े बड़े मकान हैं। शोभा-बाजार-स्ट्रीट और बानफील्ड्स लेन में जो दो बड़े बड़े मकान हैं वे बड़े ही भव्य हैं। यह सब बाबू भूतनाथ पाल के उद्योग का फल है।

बाबू भूतनाथ पाल अपने, व्यवसाय में बड़े निपुण थे। उसकी उन्नति के लिए वे नये नये उपाय सोचा करते

थे। १९१० में उन्होंने वनस्पति-शास्त्र में निपुण एक वैज्ञानिक को इस काम पर नियुक्त किया कि वह उत्तरी भारत में भ्रमण करके देखे कि दवाओं के लिए कौन कौन पौधे उपयुक्त हो सकते हैं। तभी से बेलाडोना, पोलोफिक्स, कालोसिन्थ आदि तैयार करने के लिए यहीं की चीजें काम में आने लगीं। १९१२ में इसी के लिए एक बड़ी भारी प्रयोगात्मक विज्ञान-शाला स्थापित हुई। अब तो उसका भी काम खूब बढ़ गया है।

बाबू भूतनाथ को अपने व्यवसाय ही की चिन्ता नहीं थी, उन्हें देश-हित का भी खूब ख़याल था। अच्छे कामों में व्यय करने में वे संकोच न करते थे। उन्हीं की वदान्यता से शिवपुर में एक हाई स्कूल और बेनी टोला में दो लोअर-प्राइमरी-स्कूल स्थापित हुए। बर्दवान और पूर्व बंगाल के दीन-दुखियों के लिए उन्होंने खूब दान दिया। राम-कृष्ण-सेवाश्रमों की भी उन्होंने अच्छी सहायता की।

सार्वजनिक कार्यों में वे बड़े उत्साह से सम्मिलित होते थे। वे बंगाल नेशनल चेम्बर आफ कामर्स के मेम्बर थे। उसमें उन्होंने अच्छा काम किया। इसके सिवा एन्टीसेपटिक ड्रेसिंग कम्पनी लिमिटेड, बंगाल पाटेरीज लिमिटेड और कलकत्ता सोपवर्क्स लिमिटेड के वे डाइरेक्टर थे। इन सब की उन्नति के लिए वे सदैव यत्न करते रहे।

ऐसे देश-हितैषी सज्जन का १४ मई सन् १९२० को देहान्त हो गया।

१८—अमेरिका के एक प्रेसीडेण्ट

हार्डिङ्ग साहब का जन्म ओटिओ, मोरोकाउंटी के ब्लूमिंग नामक स्थान में गाँव के बाहर अपने पितामह के खेत में २ नवम्बर सन् १८६५ को हुआ था। उन्होंने ऐसे घर में जन्म लिया था जहाँ सम्पत्ति की प्रचुरता न रहने पर भी सुख और समृद्धि थी। उनके माता-पिता में मनुष्योचित सभी गुण वर्त्तमान थे। अच्छा स्वास्थ्य, सरल स्वभाव, उदार हृदय ये सब बातें उनमें थीं। ऐसे माता-पिता के संरक्षण में रह कर हार्डिंग ने अपने बाल्यकाल में ही सदाचार की शिक्षा प्राप्त कर ली।

चौदह वर्ष की उम्र तक हार्डिंग ने अपने गाँव के ही स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वे उच्च शिक्षा पाने के लिए ओटिओ-सेन्ट्रल-कालेज में भेजे गये। वहीं उन्होंने अपनी शिक्षा समाप्त कर पदवी पाई। उक्त कालेज में पढ़ते समय उन्हें कालेज की पत्रिका का सम्पादन करना पड़ा था। यहीं उन्होंने सम्पादन-कला का पहला पाठ पढ़ा। कभी कभी उन्हें कालेज की पढ़ाई छोड़कर अपना निर्वाह करने के लिए तरह तरह के काम करके द्रव्य संग्रह करना पड़ता था। कभी वे खेतों में जाकर कटाई का काम करते, कभी अपने पड़ोसी के कोठे को रँगते, कभी रेल

की पटरी तैयार करते और कभी किसी स्कूल में जाकर पढ़ा आते।

हार्डिङ्ग साहब को छापेखानों में काम करने का बड़ा शौक था। मौके मौके पर वे अपने गाँव के छापेखाने में जाकर काम करते थे। छापेखाने के छोटे बड़े सभी कामों को वे बड़े प्रेम से करते। टाइप जोड़ने में वे बड़े होशियार हो गये। जब पहले पहल लीनो टाइप का प्रचार हुआ तब उन्होंने मशीन चलाना भी सीख लिया।

हार्डिङ्ग साहब के जीवन का लक्ष्य स्टार नामक दैनिक पत्र है। जब हार्डिंग का सम्बन्ध उससे हुआ तब उसकी अच्छी स्थिति न थी। उसका आकार भी बहुत छोटा था और उसकी ग्राहक-संख्या भी बहुत कम थी।

हार्डिंग साहब ने बड़े उत्साह से उसका सम्पादन-भार ग्रहण किया। उनकी यह बड़ी इच्छा थी कि स्टार खूब चमक जाय। इसके लिए उन्होंने बड़ी कोशिश की। आधी रात तक जागकर उन्होंने स्टार का काम किया। उन्हें अपने उद्योग में पूरी सफलता हुई। आज स्टार की गणना सर्व-श्रेष्ठ समाचार-पत्रों में होती है। उससे आय भी खासी होती है।

स्टार मोरियन नामक गाँव से प्रकाशित होता है। पहले इस गांव की जन-संख्या सिर्फ चार हजार थी। स्टार का प्रचार बढ़ जाने से अब उसमें ३० हज़ार से अधिक लोग रहते हैं।

अब वह व्यापार का एक अच्छा स्थान हो गया है। उसकी इस समृद्धि के एक-मात्र कारण हार्डिंग साहब ही हैं। उनमें व्यापारिक कुशलता खूब है। आजकल भी वे एक बैंक के डाइरेक्टर हैं। और भी कई व्यवसायों से उनका कुछ न कुछ सम्बन्ध है।

हार्डिंग साहब ने अपनी ही विद्या और बुद्धि के बलसे यह उच्च पद प्राप्त किया है। सन् १८८९ में वे स्टेट—सिनेटर चुने गये। इसके बाद १९०४ में उन्हें लेफ्टिनेंट गवर्नर का पद मिला। १९१४ में वे संयुक्त-राज्य के सिनेटर हुए और अब फिर वे प्रेसीडेंट चुने गये है।

हार्डिंग साहब रिपब्लिकन, प्रजातंत्रवादी, हैं। वे अन्तर्जातीय राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। उनके चुनाव से सूचित होता है कि अब अमेरिका डाक्टर विलसन की नीति के पक्ष में नहीं।

१९–सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास

बम्बई के प्रसिद्ध व्यवसायी सेठ खेमराज श्री कृष्णदास का गत ३० जुलाई को ६४ वर्ष की अवस्था में देहावसान होगया। हिन्दी और संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थोंका प्रकाशन करके आपने अक्षय कीर्त्ति प्राप्तकी। हिन्दी भाषा—भाषी तो आप के सदैव उपकृत रहेंगे। आपके ही हिन्दी-प्रेम से हिन्दी के प्राचीन

कवियों के ग्रन्थ अब सुलभ हो गये हैं। पुराण, धर्मशास्त्र, काव्य, वैद्यक, आदि विषयों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध संस्कृत—ग्रन्थों के हिन्दी में अनुवाद करा कर आपने हिन्दी-साहित्य की श्री वृद्धि की और संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों के लिए उन ग्रन्थों का ज्ञान सुलभ कर दिया। श्री वेंकटेश्वर समाचार-पत्र निकाल कर आपने लोगों में सार्वजनिक ज्ञान का प्रचार-द्वार उन्मुक्त कर दिया। इसके सिवा आपसे आश्रय पाकर कितने ही हिन्दी के लेखकों ने हिन्दी की अच्छी सेवा की। आपकी मृत्यु से हिन्दी-भाषा के सेवकों का एक बड़ा सहारा ही चला गया। यह जानकर किस हिन्दी—प्रेमी को दुःख न होगा ?

आपका जन्म संवत् १९१० में हुआ था। अल्पावस्था में ही आप अपने भाई सेठ गंगाविष्णु जी के पास रतलाम चले आये। उस समय सेठ गंगाविष्णु जी विरक्त होकर संसार छोड़ देना चाहते थे। पर एक महात्मा के उपदेश से आपने अपने भाई सेठ खेमराज को बुलाकर बम्बई में पुस्तक बेचने का व्यवसाय शुरू किया। सेठ खेमराज जी की अवस्था थी तो छोटी, पर उनमें वे सब गुण विद्यमान थे जिनसे मनुष्य को व्यवसाय में सफलता मिलती है। सबसे पहली बात तो यह थी कि आप बड़े परिश्रमी थे। साथ ही बड़े मिष्ठभाषी और बड़े सच्चे भी थे। पुस्तक बेचने के लिए पहले आप पूर्व की ओर दरभंगा तक जाते थे तो उत्तर में पंजाब तक पहुँच जाते

थे। उस समय भी आपकी आमदनी का तृतीयांश गौ-ब्राह्मण के निमित्त खर्च हो जाता था। धन्य आपकी धर्मिष्ठता और धन्य आपका औदार्य। शीघ्र ही आपकी उन्नति हुई। थोड़े ही दिनों के बाद आपने एक लीथो प्रेस खरीद लिया। उसी में आप हिन्दी और संस्कृत के ग्रन्थ छपाने लगे। उस समय छापेखाने का प्रचार अच्छी तरह नहीं हुआ था। हिन्दी के तो एक ही दो छापेखाने थे और उनमें भी सिर्फ किस्से-कहानी ही की किताबें अधिकतर छपती थीं। सेठ खेमराज जी ने ही सबसे पहले हिन्दू धर्म के अच्छे अच्छे ग्रन्थों को छाप कर सस्ते दामों में निकालना शुरू किया। इसी के लिए बम्बई में श्री वेंकटेश्वर प्रेस खोला गया। कुछ वर्षों के बाद सेठ गंगाविष्णु जी ने श्री वेंकटश्वर खेमराज जी को सौंप कर कल्याण में एक दूसरा प्रेस—लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस—स्थापित किया। ये दोनों छापेखाने अच्छी तरह चलने लगे। फल यह हुआ कि जो कभी एक साधारण पुस्तकविक्रेता थे वे अपने अध्यवसाय और परिश्रम से एक विशाल सम्पत्ति के स्वामी हो गये।

सेठ खेमराज जी बड़े धर्मनिष्ठ थे, आदर्श हिन्दू थे। आप श्री वैष्णव थे। उदारचेता तो इतने थे कि आपने लाखों रुपये दान-धर्म में खर्च कर डाले। आपने धर्मशाला बनवाई, सदावर्त खोला, तालाब और कुएँ खुदवाये और ऐसे ऐसे कई काम

किये जिनसे आप बहुत ही लोकप्रिय हो गये। बम्बई में मारवाड़ी विद्यालय आपके ही प्रयत्न से स्थापित हुआ है।

आपका सभी सम्मान करते थे। सरकार आपकी जितनी प्रतिष्ठा करती थी उतनी प्रजा भी करती थी। राजा-महाराजा भी आपका सदैव आदर करते थे। भारत धर्म-महामंडल ने आपको यथार्थ में ही धर्म-भूषण कहा है। इससे यह उपाधि सार्थक हो गई है।

आपकी चार सन्तति जीवित हैं—दो पुत्र और दो विवाहिता कन्यायें। आपकी धर्म-पत्नी का देहान्त दो वर्ष पहले ही हो चुका। भगवान् आपके पुत्रों को चिरंजीव करें जिससे वे भी देश-सेवा और साहित्य सेवा करके आपही समान यशोभागी हों।

जो लोग पुस्तकें बेचना छोटा काम समझते हैं उन्हें सेठ खेमराज जी के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए। बात यह है कि काम कोई भी छोटा नहीं। काम करने वालों ही की बुद्धि को छोटी या थोड़ी समझना चाहिए। मनुष्य यदि बुद्धिमान् और व्यवसाय-कुशल है तो, वह सेठ जी ही की तरह परिश्रम, सत्यता, उदार व्यवहार और उत्साह-पूर्ण कार्य-संचालन से रंक से राव हो सकता है। सम्पत्ति-प्राप्ति के द्वारा इस लोक में यश और परलोक में काम आने के लिए धर्म-संचय भी कर सकता है।

२०—शिशु-व्यायाम

जो लोग देश की कल्याण-कामना में रत रहते हैं वे अपने देश की किसी भी त्रुटि की उपेक्षा नहीं कर सकते। एक दोष से कितने ही दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव देश के हित चिन्तकों का ध्यान दोषान्वेषण की ओर पहले जाता है। वे पहले दोष ढूँढ़ते हैं और फिर उसको निर्मूल करने की चेष्टा करते हैं। इसके लिए कितने ही उपायों की उद्-भावना की जाती है। कुछ समय पहले इंग्लैंण्ड में बच्चों की अकाल मृत्यु के कारण बड़ा आन्दोलन हुआ। सामयिक पत्रों ने उसका भीषण परिणाम बतलाया और जनता का ध्यान उस की ओर आकृष्ट किया। फल यह हुआ कि गवर्नमेंट ने अपनी ओर से तो चेष्टा की ही, सर्व साधारण भी निश्चेष्ट नहीं रहे। आजकल इंग्लैंण्ड तथा अन्य पाश्चात्य देशों में बच्चों की रक्षा तथा शिक्षा के लिए जितना प्रयत्न किया जा रहा है उसकी कल्पना तक हम अपने देश में नहीं कर सकते।

भारतवर्ष में बच्चों की मृत्यु संख्या सदैव भयावह रही है। कहीं-कहीं बच्चों की रक्षा के लिए कुछ विशेष प्रयत्न भी किये जा रहे हैं, पर अधिकांश लोगों को उससे कोई लाभ नहीं है। ऐसे प्रयत्नों की सीमा शहरों तक ही रहती है। देहातियों के लिए न निपुण डाक्टर हैं और न शिक्षित धाई। देहातों में प्रसूति-सम्बन्धी काम अपढ़ स्त्रियाँ ही करती हैं। इस कारण

प्रसूता पर कभी कभी घोर आपत्तियाँ आ जाती हैं। कितने ही नवजात बच्चों की मृत्यु हो जाती है और कभी कभी माता को भी अपने प्राण खोने पड़ते हैं। जो बच्चे जीवित रह जाते हैं उनकी यथोचित रक्षा न होने के कारण थोड़े ही दिनों में मृत्यु हो जाती है। बच्चों के भरण-पोषण तक का भार कितने दरिद्र भारतवासी नहीं उठा सकते। जिनकी अकाल मृत्यु नहीं होती वे भी शारीरिक निर्बलता के कारण आजीवन दुख भोगते रहते हैं। हमारे देशमें ऐसे निकम्मे और अपाहिज लोगों की भी संख्या कम नहीं है।

हमारे देश में एक ओर दरिद्रता है और दूसरी ओर अशिक्षा। जो गवर्नमेण्ट इन दोनों को दूर करनेका उपाय कर सकती है उसके पास भी अभी इतना धन नहीं कि वह शहरों के साथ साथ देहातों की भी दुरवस्था मिटाने की चेष्टा कर सके। इसी लिए जब हम अन्य देशों में बच्चों को शिक्षा का हाल पढ़ते हैं तब हमें बड़ा कौतूहल होता है।

अन्य देशों की अपेक्षा अमरीका का संयुक्त-राज्य अपनी उन्नति के लिए अधिक सचेष्ट रहता है। वहाँ बालकों की रक्षा तथा शिक्षा का भार गवर्नमेंट ने अपने ऊपर ले रक्खा है। वहाँ अब यह चेष्टा की जा रही है कि गाँव-गाँव में प्रसूति-गृहों की स्थापना हो जाय जिससे स्त्रियों को प्रसव कालके समय किसी प्रकार की विपत्ति से सामना न करना पड़े। नवजात

शिशुओं की पूरी पूरी रक्षा की जाती है। जो लोग निर्धन हैं, जो बच्चों को आरोग्य वर्द्धक भोजन देने में असमर्थ हैं, उन्हें सरकार की ओर से सहायता मिलती है। जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाता है तब उसकी शिक्षा का प्रबन्ध तो किया ही जाता है। सदैव आरोग्य-वर्द्धक परिस्थिति में रहने के कारण वहाँ के सभी बालक हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न-वदन रहते हैं।

बच्चों की शारीरिक उन्नति के लिए व्यायाम की भी आवश्यकता है। *यह बात कदाचित् हम लोगों के लिए आश्चर्य-*जनक हो कि नवजात शिशुओं को भी व्यायाम करना पड़ता है और इस व्यायाम का बड़ा ही अच्छा फल होता है। कितने ही लोगों की धारणा है कि नवजात शिशुओं के शरीर में कुछ भी शक्ति नहीं रहती। परन्तु यह भ्रम है। सच तो यह है कि अपनी देह के अनुसार बच्चे कभी दुर्बल नहीं होते। अतएव प्रत्येक माता-पिता का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि बच्चों को कुछ ऐसे व्यायाम कराते रहें जिनसे उनकी शक्ति की वृद्धि होती रहे। बाधा पाने से ही शक्ति बढ़ती है। शक्ति बढ़ाने का यह मुख्य उपाय है। इसके लिए बच्चे को उलटा लिटा देना चाहिए। उलटा सोने से बच्चे के प्रत्येक अंग को बाधा होती है इससे वह हाथ पैर और सिर को खूब हिलाता है। इससे इसकी छाती हाथ, पैर और गला सशक्त होते हैं। जब बच्चा कुछ महीने का हो जाय तब उसको धीरे धीरे व्यायाम कराना

चाहिए। पहले पहल दिन में एक बार और फिर दिन में दो बार व्यायाम कराना यथेष्ट है। प्रारंभ में पाँच मिनट से अधिक व्यायाम की जरूरत नहीं है। कुछ समय के बाद दस से पन्द्रह मिनट तक व्यायाम कराया जा सकता है।

उचित रीति से व्यायाम कराने का फल क्या होता है, यह हम अमरीका के कुछ बच्चों के अद्भुत व्यायामकौशल देखकर समझ सकते हैं। बच्चों का कंठ फूटा नहीं और वे व्यायाम करने लगे हैं। यह बात है बड़ी विचित्र। न्यूयार्क में एक शिशु है। उसकी उम्र अभी सिर्फ पाँच महीने की है। परन्तु वह लोहे के झूले में खूब मजे में झूला करता है। उसका नाम है मैथ्यू जिवेट। जब वह डेढ़ महीने का हुआ तभी से उसके मा बाप व्यायाम की शिक्षा देने लगे। न्यूयार्क में एक और बच्चा है। उसका नाम है जिमि। वह डेढ़ साल का है परन्तु वह झाड़ पर चढ़ जाता है। वसन-भूषण-हीन नग्न शिशु का झाड़ पर चढ़ना सचमुच बड़ा ही मनोमोहक दृश्य है। स्पेन के मैड्रिड शहर में एक ढाई वर्ष का लड़का है। वह बाईसिकिल पर चमत्कार दिखला सकता है। पनामा-कैनाल की सीमा में एक लड़का पाँच साल का है। वह अद्भुत व्यायाम कर सकता है। रिङ्ग के खेल में भी वह बड़ी निपुणता दिखलाता है। एक बाल-पहलवान पाँच ही साल का है। परन्तु वह अपनी छाती को ढाई इंच फुला सकता है। न्यूयार्क का एक दूसरा लड़का,

लेस्टर सीजर, पैरल बार पर खेल दिखलाता है। अभी उसकी उम्र सिर्फ तीन साल की है।

ऊपर जो बातें लिखी गई हैं वे कल्पित नहीं है, सब सच्ची हैं। ये जादू-टोना अथवा झाड़-फूँक की करामातें नहीं हैं, बच्चोंपर उचित ध्यान देने से ही उनमें यह अद्भुत शक्ति आई है। इन बाल-पहलवानों के माँ बाप ने उनको किस रीति से व्यायाम शिक्षा दी है उसका भी हाल सुनिए। उन्होंने एक प्रकार जन्मकाल से ही अपने बच्चों की प्रवृत्ति व्यायाम की ओर की। जब बच्चा दो हफ्ते का हुआ तब उसके हाथ में एक पेन्सिल पकड़ाने की चेष्टा की गई। जब उसको पकड़ने के प्रयत्न में बच्चा थकने लगता था तब भी उसके सामने पेन्सिल ले जाकर उसकी सहायता नहीं की जाती थी। इसका फल यह हुआ कि बच्चे के कन्धे खूब मजबूत होगये और उसकी शक्ति की भी वृद्धि इतनी शीघ्र हुई कि डेढ़ महीने में ही वह लकड़ी के डंडे को खूब जोर से पकड़ सकता था।

कोलम्बिया यूनिवर्सिटी में एक डाक्टर हैं अर्नेष्ट होल्ट। शिशु-शरीर-तत्व के वे आचार्य माने जाते हैं। इसके लिए उनकी प्रसिद्धि भी है। उन्होंने शिशु की शारीरिक गठन के लिए कुछ नियम निश्चित कर दिये हैं। इनसे लाभ ही होता है, हानि की आशंका नहीं है।

वसुन्धरा वीरभोग्या है। जो जाति निर्बल है वह सदैव पराधीन रहेगी। जाति में शक्ति तभी आ सकती है जब उसके एक एक व्यक्ति सबल और स्वस्थ हों। यदि शैशव काल में उनकी यथोचित रक्षा नहीं की गई तो भविष्य में जाति का निर्माण ही कौन करेगा। यदि कोई राष्ट्र उन्नति-शील है तो वही जो अपने बच्चों की रक्षा में खूब ध्यान देता है। यही कारण है कि सभी पाश्चात्य देश बालकों के राष्ट्रीय मूल्य का ख़याल कर उनके लिए सभी प्रकार का प्रबन्ध करते हैं।

२१—नृत्य-कला

हिन्दू शास्त्रकारों ने कला के ६४ भेद बतलाये हैं। उनमें एक नृत्य-कला भी है। नृत्य-कला की उत्पत्ति का मुख्य कारण है मनुष्य की सुख-लिप्सा। अंग-संचालन से सभी जीवधारियों को स्वाभाविक आनन्द होता है। कहा जाता है कि मेघों की ध्वनि सुन कर मयूर नाचने लगते हैं। परन्तु यह विशेषता सिर्फ़ मयूरों में ही नहीं है। सभी जीव धारियों को उछल-कूद करने और दौड़ने-भागने में सुख होता है। जीवधारियों के शरीर में जो प्राण-शक्ति है वह सदैव बाहर उद्गत होने की चेष्टा करती है। जब यह शक्ति क्षीण हो जाती है तब शरीर निस्तेज हो जाता है और फिर उछलने-कूदने में आनन्द नहीं आता। बालकों में क्रीड़ा करने की जो चाह रहती है उसका कारण यही

है। उनके अंग अंग फड़कते रहते हैं। चुपचाप तो उनसे बैठा ही नहीं जाता। इससे साफ प्रकट होता है कि मनुष्यों को अंग-संचालन में एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है और उसी सुख की वृद्धि के लिए नृत्य-कला की सृष्टि हुई है।

हिन्दू-जाति ने कला-कौशल में जो उन्नति की है वह धार्मिक भाव की प्रेरणा से। नृत्य-कला की उत्पत्ति भले ही स्वभाविक सुख-लिप्सा के कारण हुई हो परन्तु उसकी उन्नति का कारण धार्मिक भाव है। आजकल असभ्य जातियों में भी नृत्य धार्मिक उत्सवों में ही होते हैं। हिन्दू-जाति में नृत्य के प्रचार के विषय में जो कथा प्रचलित है उससे उसकी धार्मिकता सिद्ध होती है। कहा जाता है कि ब्रह्मा जी ने एक बार स्वर्ग में एक नाटक का अभिनय कराया। उसमें महादेव जी भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय देखकर महादेव जी बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु उसमें आपने नृत्य का समावेश कराना चाहा। ब्रह्माजी भी इससे सहमत हुए। तब महादेव जी की आज्ञा से तण्डु ने भरत मुनि को नृत्य के सब भेद बतलाये। ये नृत्य तण्डु से प्राप्त हुए थे, अतः इनका नाम ताण्डव पड़ा।

प्राचीन काल में भारतवर्ष अपने कला-कौशल के लिए विख्यात था। यहाँ सभी कलायें उन्नति की चरमावस्था को पहुँच गई थीं। नृत्य-कला की भी अच्छी उन्नति हुई थी। बड़े बड़े राजे-महाराजे इस कला के पृष्ठ पोषक थे। इतना

ही नहीं, उनके अन्तःपुर में भी नृत्य-कला का अच्छा मान था। महाभारत में लिखा है कि अर्जुन राजकुमारी उत्तरा को नृत्य-कला की शिक्षा देते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में मालविका का नृत्यकला-कौशल बतलाया गया है। क्रमशः इस कला का अधःपतन होने लगा। आजकल तो यह कला उन लोगों के पास रह गई है जिनका स्थान समाज में ऊँचा नहीं है। यही कारण है कि अब नृत्य-कला का आदर नहीं है। पाश्चात्य देशों में नृत्य-कला का अच्छा प्रचार है। वहाँ छोटे-बड़े सभी लोग नृत्य में सम्मिलित होते हैं। संसार में उसकी बराबर उन्नति होती जा रही है।

आधुनिक नृत्य-कला में अब भावों की अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। मनमें जो भाव उदित होता है वह शरीर के द्वारा प्रकट किया जाता है। जो अलक्षित है वह दृग्गोचर होता है। जो इन्द्रियातीत है वह इन्द्रिय-ग्राह्य बनाया जाता है। कल्पना मूर्त्तिमती हो जाती है। ऐसे नृत्य को हम गति-संगीत कह सकते हैं।

जो देश ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न हैं वे नृत्य-कला को उन्नत कर आमोद-प्रमोद में निरत हो सकते हैं। पर जो देश दुःख-दारिद्र्य से पीड़ित हैं, रोग-शोक से जर्जर हैं, उसके लिए नृत्य-कला का यह भव्य दृश्य किस काम का ?

२२—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

यदि लोकमान्य का जन्म भारतवर्ष में न होकर किसी दूसरे देश में होता तो वह देश कुछ का कुछ हो जाता। परन्तु विधाता ने उन्हें भारतवर्ष में जन्म देकर ऐसे अशान्ति-चक्र में डाल दिया कि वे अनेकबार आपत्ति-ग्रस्त हुए। उन पर विपत्ति पर विपत्ति आई, पर न तो वे कभी धैर्य-च्युत हुए और न अपने पथ से विचलित ही हुए। जिसे उन्होंने सत्पथ समझा उसी पर वे अन्तकाल तक दृढ़ रहे।

लोकमान्य का जन्म २३ जुलाई १८५६ को रत्नागिरि में हुआ था। उन्होंने छात्रावस्था में ही यह निश्चय कर लिया था कि विद्योपार्जन कर लेने के बाद वे लोक-सेवा में ही अपना जीवन-विसर्जन करेंगे। सुधारक के प्रसिद्ध सम्पादक आगरकर उनके सहाध्यायी थे। १८७६ में उन्होंने डेकन कालेज से बी० ए० पास किया। फिर कानून का अध्ययन करके १८७९ में वे एल० एल० बी हुए। प्रसिद्ध साहित्यसेवी विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर की इच्छा एक हाई स्कूल स्थापित करने की थी। तिलक और आगरकर दोनों उनके कार्य में सम्मिलित हुए २ जनवरी १८८० को पूने में न्यू इंग्लिश स्कूल की प्रतिष्ठा हुई। चिपलूणकर ने आर्यभूषण नाम का एक प्रेस भी स्थापित किया। वहीं से मराठा और केसरी नामक दो पत्र निकाले गये। मराठा का सम्पादन-भार तिलक पर पड़ा। कुछ ही दिनों बाद अपनी

निर्भय आलोचना के कारण तिलक को कोल्हापुर के एक मामले में फँसना पड़ा। जब यह मुकद्मा चल रहा था तभ चिपलूणकर शास्त्री की मृत्यु हो गई। तिलक और उनके मित्र आगरकर दोषी ठहराये गये और दोनों को चार चार महीने का कारागार-वास दंड मिला। यह तिलक का पहला कारागार-वास था। कारागार से छूटने पर लोगों ने उनका बड़ा सम्मान किया।

तिलक तो देश-सेवा में दीक्षित हो ही चुके थे। जेल से छूटने पर उन्होंने खूब उत्साह से देश-सेवा का कार्य आरंभ किया। १८८४ में पूने में एक शिक्षा-सम्बन्धिनी संस्था स्थापित हुई और उसके संरक्षण में फर्गुसन कालेज खोला गया। १८९० तक तिलक उसमें प्रोफेसर का काम करते रहे। इसके बाद मत-भेद होने के कारण उन्होंने उससे अपना सम्बन्ध त्याग दिया। कुछ कालोपरान्त केसरी और मराठा का स्वामित्व इन्हीं को प्राप्त हो गया और यही उनका सम्पादकीय काम करने लगे। १८९२ में लन्दन में प्राच्य-विद्या-विशारद का एक सम्मेलन हुआ। उसमें उन्होंने अपनी वैदिक-काल-विषयक गवेषणाओं का सारांश लिखकर भेजा। यही पीछे ओरायन नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। राजनैतिक विषयों से उन्हें आरम्भ से ही प्रेम था। इसलिए नेशनल कांग्रेस से उनका सम्बन्ध हुआ। वे कुछ वर्षों तक डेकन-स्टैंडिंग-कमिटी के सेक्रेटरी भी रहे। वे दो बार बम्बई की लेजिस्लेटिव कौन्सिल के मेम्बर भी चुने गये। परन्तु

उनकी सेवा की परीक्षा १८७६ में हुई जब बम्बई में बड़ा भारी अकाल पड़ा। उस समय उन्होंने दीन-दरिद्रों की बड़ी सेवा की। उससे वे अत्यन्त लोक-प्रिय हो गये। जब पूने में पहले पहल प्लेग का प्रकोप हुआ तब कितने ही नामधारी देश-सेवक भाग निकले। पर तिलक ने वहीं रहकर लोगों की सेवा की। उन्होंने एक अस्पताल भी खोला और उन सब उपायों का प्रचार किया जिनसे प्लेग दूर हो।

तिलक वीर पूजा का महत्व खूब समझते थे। पहले उन्होंने गणेशोत्सव मनाना आरंभ किया। फिर उन्होंने देश की जागृति के लिए शिवा जी का जन्मोत्सव मनाने की नीव डाली। १८९७ में यह उत्सव बड़े समारोह के साथ हुआ। केसरी में "शिवाजी के उद्गार" शीर्षक एक कविता प्रकाशित हुई। सरकार ने उसे आपत्तिजनक समझ कर उन पर मुकद्दमा चलाया और उन्हें १८ महीने का सपरिश्रम कारागार वास दंड मिला। इसके पहले ही ओरायन नामक पुस्तक लिख कर तिलक महाराज देश-देशान्तरों में प्रसिद्धि-लाभ कर चुके थे। उनके मित्र प्रोफ़ेसर मैक्समूलर और विलियम हंटर साहब ने सम्राज्ञी से प्रार्थना की। तब सम्राज्ञी के आदेश से तिलक जेल-बन्धन से समय के पहले ही, मुक्त हुए।

इसके बाद उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ (Arctic Home in Vedas) निकला। यह ग्रन्थ तिलक की प्रचंड विद्वता और विल-

क्षण प्रतिभा का सब से अच्छा प्रमाण है। इसे पढ़ कर बड़े बड़े विद्वानों ने जी खोल कर उनकी प्रशंसा की। पायनियर तक ने उसकी प्रशंसा में अपना एक कालम खर्च किया। इसके बाद उन्हें लाई महाराज के मामले में फिर एक बार फँसना पड़ा। उन पर बड़े बड़े अपराध लगाये गये। पर अन्त में वे निर्दोष प्रमाणित हुए। फिर भी विपत्ति ने उनका पीछा न छोड़ा। १९०८ में उन पर फिर एक मुकद्दमा चलाया गया और उन्हें ६ साल के लिए देश-निकाले की सजा मिली। उस समय उन्होंने जो शब्द कहे थे उनसे उनके हृदय की महत्ता और आत्मशक्ति भली भाँति प्रकट होती है। उन्होंने कहा—"जूरी का चाहे जैसा फैसला हो, मुझे विश्वास है कि मैं निर्दोष हूँ। परन्तु जगदीश्वर की कदाचित् यही इच्छा है कि देश की सेवा के लिए मुझे दंड मिले जिससे मेरे कष्ट सहने से उसकी उन्नति हो।" इसके बाद उनका प्रसिद्ध ग्रंथ गीता-रहस्य प्रकाशित हुआ।

महात्माओं की सभी बातें अलौकिक होती हैं। साधारण लोग विपत्ति को दूर रखते हैं, वे विपत्ति का आलिंगन करते हैं। संकट पड़ने पर अन्य लोग तो कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, पर इनकी प्रतिभा उसी समय विकसित होती है। महात्मा तिलक की गणना ऐसे ही मनुष्यों में की जाती है। उनका देश-प्रेम अगाध था, विद्वता प्रचंड थी, प्रतिभा विलक्षण थी और चरित्र

उज्ज्वल था। उनकी मृत्यु से देश की जो हानि हुई है उसकी पूर्त्ति होने की अभी तो कोई आशा नहीं।

२३—लार्ड एस० पी० सिंह

नये शासन-सुधार के व्यवस्थानुसार रायपुर के लार्ड सिंह या सिनहा (श्रीयुत सत्येन्द्र प्रसन्न सिंह) विहार और उड़ीसा प्रान्त के गवर्नर नियुक्त हुए हैं। भारतीयों में आप ही सबसे पहले बंगाल सरकार के स्टैंडिंग कौन्सिल हुए आप ही सबसे पहले एडवोकेट जेनरल हुए आपको ही सबसे पहले भारत-सरकार की व्यवस्थापक सभा में स्थान मिला, आपही सबसे पहले लार्ड की उपाधि से विभूषित हुए आप ही सब से पहले अण्डर-सेक्रेटरी आव् स्टेट हुए; और अब आप ही सब से पहले गवर्नर के उच्च पद पर बिठाये गये हैं। आपने अभी तक भिन्न भिन्न पदों पर रह कर जैसी योग्यता से काम किया है उससे आशा होती है कि आप विहार और उड़ीसा का शासन योग्यता पूर्वक करेंगे।

लार्ड सिनहा का जन्म २४ सन् १८६२ को रायपुर, जिला बीरभूम, में हुआ। आपका वंश बड़ा प्राचीन और प्रतिष्ठित माना जाता है। आपके पिता क्षितिकान्त सिंह ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के शासन-काल में अच्छे ओहदे पर थे। सन् १८६५ में उनकी मृत्यु हो गई। उनके चार लड़के थे। लार्ड सिंह

उनके सबसे छोटे पुत्र हैं। बाल्यकाल में ही पितृ-प्रेम से वंचित हो जाने पर भी आपका लालन-पालन माता की संरक्षा में भली भांति हुआ।

आपकी प्रारंभिक शिक्षा अपने गाँव के स्कूल में हुई। वहीं से माइनर वृत्ति की परीक्षा पास करके आप बीरभूम के जिला स्कूल में भरती हुए। १८७७ में पहले दरजे में आपने प्रवेशिका परीक्षा पास की। फिर आपने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेसीडेन्सी कालेज में जाकर नाम लिखाया, वहाँ आपने बी० ए० तक अध्ययन किया। पर बिना पास किये ही आप पढ़ने के लिए विलायत चले गये। विलायत जाने के पहले आपका विवाह एक जमींदार की कन्या से हो गया था।

विलायत पहुँचते ही आपने खूब उत्साह से अध्ययन आरंभ किया। पहले आपका विचार सिविल सरविस की परीक्षा में प्रविष्ट होने का था। पर उसमें कई झंझट देख कर लिंकन्स-इन में बैरिस्टर होने के लिए आप भरती हो गये। इसके लिए जितनी परीक्षाएँ होती थीं उन सब को आपने बड़ी योग्यता से पास किया। आपको लिंकन्स-इन की छात्रवृत्त भी मिली और अन्य भी कई पारितोषिक मिले। १८८६ में बैरिस्टर होकर आप भारत लौटे और कलकत्ता हाईकोर्ट में बैरिस्टरी करने लगे। शुरू शुरू में कुछ समय तक आपकी वकालत अच्छी नहीं चली, पर सात ही आठ वर्ष बाद आपकी

वकालत अच्छी चमकने लगी। आप प्रथम श्रेणी के बैरिस्टरों में गिने जाने लगे। आपकी मासिक आमदनी ४० हज़ार रुपये तक पहुँच गई थी।

कानून में आपकी योग्यता असाधारण थी। गवर्नमेण्ट ने भी आपकी योग्यता की कद्र की और आप १९०३ में स्टैंडिंग कौन्सिल अर्थात् सरकारी मुक़द्दमों में पैरवी करने के लिए बैरिस्टर नियुक्त हुए। इसके बाद १९०६ में आप ऐडवोकेट जनरल बनाये गये। पहले तो स्थायी रूप से नियुक्त हुए थे, पर पीछे उसपर आप शीघ्र ही मुस्तक़िल हो गये। यह पद बड़े गौरव का गिना जाता है, और तब तक इस पर अंगरेज ही नियुक्त होते थे। सिनहा की नियुक्ति से भारतवासियों को बहुत हर्ष हुआ। इसके बाद आपकी और भी गौरव-वृद्धि हुई। १९०९ में आप बड़े लाट की व्यवस्थापक सभा के सभासद बनाये गये। तब से आपक सम्मान-वृद्धि बराबर होती ही गई। आप राजकीय सभापरिषद् और सभा-मंत्रिमंडल में सम्मिलित ए। फिर आप समर-सभा में भारतवर्ष के प्रतिनिधि हो कर गये, प्रीवी कौन्सिल के सभासद निर्वाचित हुए, भारत के उपमंत्री बनाये गये, लार्ड की उपाधि से भूषित होकर हाउस आफ लार्ड्स में बैठे। अब आप विहार के गवर्नर हुए हैं।

भारतवर्ष के राजनैतिक मामलों में पहले आप कम ध्यान देते थे। सच तो यह है कि उस समय आपको अवकाश ही कम मिलता था। १८८६ में कलकत्ते की कांग्रेस में आप पहले पहल शरीक हुए थे। तब से आप बराबर राजनैतिक विषयों की चर्चा करते आ रहे हैं। १९१५ में आप नेशनल कांग्रेस के सभापति चुने गये। राजनीति में आप नरम पक्ष के अनुयायी हैं।

आपका स्वभाव बड़ा शान्त है। अभिमान थोड़ा भी नहीं है। आप मनो विकारों के वशीभूत भी नहीं है। बड़े उदार-हृदय हैं। विपद्ग्रस्तों की सहायता के लिए आप सदैव प्रस्तुत रहते हैं। शिक्षा-प्रचार के कामों से आपको बड़ा प्रेम है। कितने ही विद्यालयों को आप नियमित रूप से सहायता देते हैं।*

२४—एक पत्र

प्रिय विना,

हम लोग दिसम्बर की छुट्टियों में कोटा का दियासलाई का कारखाना देखने के लिए गये थे।

बंगाल नागपुर रेलवे की कटनी-बिलासपुर शाखा पर कोटा एक छोटा सा स्टेशन है। वहाँ दियासलाई का एक कारखाना

*यह निबन्ध जब लिखा गया था तब लार्ड सिनहा जीवित थे।

है। उसके मालिक एक गुजराती सज्जन हैं। नाम उनका श्रीयुत अमृतलाल है। कारखाने का नाम है अमृतलाल मैच फेक्टरी। वह १९०२ ई० में खोला गया था। पहले पहल वहाँ प्रतिदिन ५०० ग्रोस दियासलाई की डिबियाँ तैयार होती थीं। परन्तु अब कुछ साल से आर्थिक हानि होने के कारण कारखाने में कम काम होता है। महायुद्ध के समय दियासलाई के मसाले की कीमत बढ़ गई थी और योरप से माल मँगाने में बड़ी कठिनता थी। उस समय यह कारखाना करीब करीब बन्द ही हो गया था। पर अब इसका काम फिर जारी हो गया है। आज कल हर रोज १७५ से लेकर २०० ग्रोस तक डिबियाँ तैयार होती हैं।

सलाइयाँ और उनके लिए डिबियाँ तैयार करने के लिए ऐसे वृक्षों की लकड़ियाँ काम में लाई जाती हैं जो नरम हों। ऐसे वृक्षों में सेमल का वृक्ष मुख्य है। सलई, केकद और कुल्लू की लकड़ियाँ भी उपयुक्त होती हैं। सलई का उपयोग डिब्बी और उसका निचला भाग बनाने में होता है। दियासलाई बन्द करके भेजने के लिए बड़े बड़े सन्दूक भी उसी के बनाये जाते हैं।

सलाइयाँ और डिब्बियाँ बनाने की लकड़ी जब हरी रहती है तभी काट ली जाती है। काटने के बाद १५ दिन के भीतर ही लकड़ी कारखाने में पहुँच जानी चाहिए। नहीं तो काम में लाने के पहले उसे २४ घंटे तक पानी में उबालना पड़ता है। सलई

की लकड़ी जल्दी टूट जाती है। इस लिए बिना उबाले वह काम में नहीं लाई जा सकती। उबालने से लकड़ी मुलायम हो जाती है।

सेमल से सलाई और डिब्बी, और सलई से सिर्फ डिब्बी के निचले भाग के पतले पतले टुकड़े बनाये जाते हैं। सेमल और सलई के लट्ठे को कारखाने में लाकर सोलह सोलह इञ्च की लम्बाई के टुकड़े काट लिये जाते हैं, जिससे वे छीलने की मेशीन में ठीक जम जायँ। छील कर निकालने के बाद उन टुकड़ों का व्यास ५ से २७ इंच तक होना चाहिए। जिन लकड़ियों की गुलाई १६ इञ्च से कम होती है वे इस काम में नहीं लाई जा सकतीं।

लकड़ी छीलने की मेशीन दो तरह की है। एक से तो सलाई के पतले पतले टुकड़े बनाये जाते हैं और दूसरी से डिब्बी के लिए। सलाई के टुकड़े १/१२ इञ्च मोटे बनाये जाते हैं और डिब्बी के १/१० इञ्च के लगभग। इन टुकड़ों की मुटाई लकड़ी की किस्म पर अवलम्बित रहती है। अगर लकड़ी लचीली हो तो उसके टुकड़े भी पतले निकलते हैं।

लकड़ी छीलने की मेशीन से निकलकर ये टुकड़े सलाई काटने की मेशीन में डाले जाते हैं। सलाई तैयार होने पर, सुखाने के लिए एक कमरे में रक्खी जाती है। इस काम के लिए एक खास कमरा रहता है। उसके कई हिस्से हैं। उनके

बीच बीच उत्ताप पहुँचाने वाली नलियाँ लगी रहती हैं। जब अच्छी धूप होती है तब सलाइयाँ बाहर मैदान में ही सुखाली जाती हैं।

सूख जाने के बाद सलाई पर पालिश की जाती है। इसके लिए एक यंत्र अलग ही है। यह ढोल के आकार का है और लोहे की छड़पर खड़ा रहता है। इसी के भीतर सलाई को भर कर घुमाते हैं। एक दूसरे से रगड़ खाकर सलाई अच्छी चिकनी हो जाती है। फिर डिब्बियों में भर कर ये बाहर भेजी जाती हैं।

हमारे देश में आजकल कारखानों की अच्छी वृद्धि हो रही है और उनका काम भी अच्छे ढंग से चल रहा है। यह देख कर मुझे तो बड़ी खुशी हुई। तुम्हारे लिए मैं वहीं की बनी कुछ डिब्बियाँ भेज रहा हूँ।

तुम्हारी

कमल !

२५—राम-लीला

आश्विन का शुक्ल-पक्ष हिन्दू-जाति के लिए महोत्सव का पर्व है। इसी समय जगद्धात्री दुर्गा की पूजा होती है और इसी समय राम-लीला का भी उत्सव होता है। राम और सीता हिन्दू समाज के लिए किसी काव्य अथवा नाटक के पात्र नहीं हैं। यह सच है कि रामलीला में रामायण का अभिनय किया

जाता है। परन्तु यह अभिनय किसी नाटक का अभिनय नहीं है। नाटक के अभिनय में मनोविनोद ही प्रधान लक्ष्य होता है। परन्तु राम-लीला में धार्मिक भाव की प्रधानता रहती है। उसमें हिन्दू अपने आराध्य देव को मूर्त्तिमान् कर प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। यही कारण है कि जो बालक राम-लीला में राम, लक्ष्मण तथा सीता का अभिनय करते हैं वे सर्व-साधारण से पूजित होते हैं।

प्रयाग में प्रति वर्ष राम-लीला होती है। राम-लीला की समाप्ति हो जाने पर राम के सैन्य-दल के साथ अन्य देवी-देवताओं की चौकियाँ निकाली जाती हैं। उनमें अब ऐतिहासिक तथा सामयिक घटनाओं की द्योतक चौकियों का भी समावेश होने लगा है। ऐसी चौकियों से सर्व साधारण में सद्भाव का ही प्रचार होता है। अतएव उनका प्रदर्शन सर्वथा अभिनन्दनीय है।

बहुत दिनों के बाद हमने राम-लीला का उत्सव देखा। चर्म-चक्षु वाह्य दृश्य देखने में लगे थे—यद्यपि वे भी वाष्पाकुल हो कभी कभी झप जाते थे—परन्तु अन्तश्चक्षु देख रहे थे कि भारत के प्रतिनिधि-स्थानीय, पूजनीय राम और लक्ष्मण किस प्रकार शत्रु के हाथ से भारत-लक्ष्मी-रूपिणी सीता का उद्धार करके उसे ला रहे हैं। जब तक राम और लक्ष्मण ने सीता का उद्धार नहीं किया तब तक वे तपस्वी के वेश में रहे। राम-लीला में

उनके अनुचर भी तपस्वी के वेश में रहते हैं। भारत की सन्तानों को भी तब तक तपस्या करनी होगी जब तक वे भारत-लक्ष्मी का उद्धार कर उसे स्वाधीन नहीं कर सकते। तपस्वी के वाह्य चिह्न जटा, भस्म आदि धारण करने से लाभ नहीं होगा। हमें हृदय से तपस्वी बनना होगा। जब तक भारत-लक्ष्मी का पुनरुद्धार न हो तब तक विलास-व्यसन, आमोद-प्रमोद और स्वार्थ-चिन्ता को छोड़ कर उसी में एकाग्र-चित्त होना होगा।

सीता को हमने भारत की लक्ष्मी कहा है। कोई भी भारत वासी लक्ष्मी को रुपयों की थैली नहीं समझेगा। सीता रुपयों की थैली नहीं थी। उसके जीवन में धर्म, ज्ञान, शुचिता, चरित्र, साहस, स्वाधीनता, सौन्दर्य और राज्य लक्ष्मी की श्री थी।

सीता के उद्धार में रामचन्द्र ने बानर, भालू तथा शत्रु-पक्ष के विभीषण की भी सहायता का तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने बड़े आदर से उनकी सहायता ग्रहण की थी उन्होंने सबके साथ मैत्री की थी। सुग्रीव के साथ भगवान् रामचन्द्रजी की मैत्री एक महत् उद्देश के साधन के लिए आर्य और अनार्य का पारस्परिक मिलन सूचित करती है। भारत-लक्ष्मी के पुनरुद्धार में भारतीयों को आर्य तथा अनार्य और स्पृश्य तथा अस्पृश्य की भावना को छोड़कर सभी से मैत्री जोड़नी होगी। यही नहीं,

उन्हें शत्रुपक्ष के लोगों से भी प्रेम-पूर्वक मिलना होगा। इसीमें उनका कल्याण है।

२६—ज़ेबुन्निसा की क़ब्र

ज़ेबुन्निसा औरंगज़ेब की लड़की थी। उसका जन्म १६३० ईसवी में हुआ था। उसकी माता शाहनवाज़ खाँ की बेटी थी। उसकी देख-भाल के लिए मिया बाई नाम की एक दाई नियुक्त हुई। जब ज़ेबुन्निसा पाँच वर्ष की हुई तब उसको शिक्षा देने के लिए हाफ़िज़ा मरियम नाम की विदुषी स्त्री नियुक्त हुई। थोड़े ही दिनों में ज़ेबुन्निसा ने समग्र कुरान को कंठस्थ कर लिया। इससे औरंगज़ेब को बड़ी खुशी हुई और उसने ज़ेबुन्निसा को तीस हज़ार मुहर इनाम दिये। इसी खुशी में औरंगज़ेब ने एक बड़ा भारी उत्सव भी किया। दावतें दी गईं और ख़ैरात बाँटी गई।

ज़ेबुन्निसा की प्रखर बुद्धि देखकर औरंगज़ेब ने उसे उच्च शिक्षा देने के लिए अच्छे अच्छे विद्वान् बुलवाये। मुल्ला सैयद अशरफ़ फ़ारस देश का एक विद्वान् कवि था। वह भी ज़ेबुन्निसा को पढ़ाने लगा। उसी ने शाहज़ादी के हृदय में कवित्व-बीज का वपन किया। २१ साल की उम्र में शाहज़ादी की शिक्षा समाप्त हुई।

जेबुन्निसा में ईश्वरदत्त प्रतिभा तो थी ही। शीघ्र ही उसमें कवित्व-शक्ति का पूर्ण विकास हो गया। उसने अपना तख़ल्लुस 'मख़फ़ी' रक्खा था। उसकी रचनाओं का संग्रह दीवाने-मख़फी के नाम से प्रसिद्ध है। अच्छे अच्छे विद्वानों की राय है कि उसकी कवितायें सरस और हृदयग्राहिणी हैं। ६५ वर्ष की अवस्था में सन् १६९५ में उसकी मृत्यु हुई।

मुग़ल ऐतिहासिकों का कथन है कि जेबुन्निसा ने लाहोर में एक बाग़ बनवाया था और मरने के पहले उसने यह इच्छा प्रकट कर दी थी कि उसकी समाधि वहीं बने। हकीम मुज़फ़्फ़र हुसेन का कथन है कि यह बाग़ नवाकोट में बना था और वहीं जेबुन्निसा की इच्छा के अनुसार उसकी क़ब्र बनवाई गई। जब लाहोर पर सिक्खों का आधिपत्य हुआ तब एक सिक्ख सरदार ने उस बाग़ पर अपना अधिकार जमा लिया और वहीं अपने रहने के लिए मकान बनवाये। कुछ समय के बाद वहाँ क़ब्र का चिह्न तक न रहा।

२७—कुष्ट-रोग-निवारण की योजना।

कुष्ट-रोग बड़ा भयानक होता है। यह रोग संक्रामक है। इसलिए सभी देशों में कुष्ट-रोगियों के लिए अलग प्रबन्ध किया जाता है। यह रोग असाध्य माना गया है। जो इससे पीड़ित होते हैं उनके लिए जीवन दुर्वह हो जाता है। स्वयं उन्हें जो कष्ट

सहना पड़ता है उसे तो वे सहते ही हैं, पर संसार में जब उनसे सभी घृणा करते हैं तब उन्हें जीवन अवश्य असह्य हो जाता है। उनकी यह दयनीय दुर्दशा देखकर अब उनके लिए कुष्ठाश्रमों की स्थापना होने लगी है। ऐसे आश्रमों में उनकी भलीभाँति सेवा सुश्रूषा की जाती है और चिकित्सा भी। इससे रोगियों के कष्ट कम होते जाते हैं।

भारतवर्ष में भी कुष्ठरोगियों के लिए १९१८ में एक संघ स्थापित हुआ। श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड ने उसकी संरक्षिका होना स्वीकार किया। श्रीमती लेडी विलिंगडन, लेडी रोनाल्डशे, लेडी पेंटलेण्ड और लेडी मनरो उसकी उपसभा-नेत्री हुईं। अन्य प्रभावशाली व्यक्ति भी उसमें सम्मिलित हुए। उस संघ ने काम भी अच्छा किया है। श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड ने इस उद्देश की पूर्त्ति के लिए व्याख्यान दिये और लेख लिखे। सभा के सभी अधिवेशनों में लेडी मनरो ने उपस्थित होकर अध्यक्ष का काम सफलतापूर्वक किया। इस संघ का आर्थिक अभाव दूर करने के लिए भारतवासियों से अपील की गई। उसका परिणाम यह हुआ कि सालभर में लगभग १,८९,५६२ रुपये जमा हो गये। इस दान का अधिकांश भारतीय जनता से ही प्राप्त हुआ। दाताओं में कलकत्ते के बाबू देवेन्द्रनाथ मल्लिक का दान उल्लेख करने योग्य है। गत वर्ष उन्होंने बंगाल के आफ़िसियल ट्रस्टी को अपनी कुछ सम्पत्ति दान कर दी। उसकी वार्षिक आमदनी

२४०० रुपये है। इसके सिवा उन्होंने ६००० रुपये इसलिए दिये कि मद्रास में एक कुष्टाश्रम स्थापित हो जाय। कलकत्ते के कुष्ट-रोगियों के लिए राय ओंकारमल जाटिया बहादुर ने २५००० रुपये दिये। पर इससे संघ का आर्थिक अभाव दूर नहीं हुआ। गत २६ अगस्त को शिमला में एक सभा हुई थी। उसमें लेडी चेम्सफ़ोर्ड ने कहा था कि अभी दो लाख रुपये की बड़ी जरूरत है। स्थानाभाव के कारण कितने ही रोगियों को लौटना पड़ा। समर्थ लोगों को इधर ध्यान देना चाहिए। संघ के काम में अच्छी सफलता हुई है। उसके अधीन जितने आश्रम हैं उनमें रोगियों की संख्या खूब बढ़ रही है। गतवर्ष की अपेक्षा इस साल कोई १००० रोगी अधिक आये हैं। कुष्टाश्रम में भरती होने के लिए कितने ही रोगियों के आवेदनपत्र आ रहे हैं। इससे मालूम होता है कि कुष्टाश्रम अब लोकप्रिय होने लगे हैं। भारत-सरकार कुष्ट-रोगियों के क़ानून में सुधार कर रही है। आशा की जाती है कि इसी साल यह नया क़ानून पास किया जायगा। उससे यह होगा कि अभी जो कोढ़ी इधर-उधर भीख माँगा करते हैं उन्हें प्रान्तीय सरकार अलग आश्रम में रख सकेगी। उनके लिए अच्छे मकान बनवाये जायँगे और चिकित्सा का भी अच्छा प्रबन्ध किया जायगा। बंगाल की सरकार भी इन रोगियों के लिए एक ऐसा निवासस्थान खोलना चाहती है, जहाँ १००० रोगी अच्छी तरह रह सकें।

कुष्ठ-रोग की चिकित्सा में भी संघ को बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई है। इस साल आश्रमों से कितने ही रोगी रोग से उन्मुक्त होकर निकले हैं। यह सच है कि अभी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे लोग सर्वथा उन्मुक्त हो गये हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि उनमें रोग का लक्षण नहीं है। इतनी आशा तो अब अवश्य हो गई है कि रोग की प्रारंभिक दशा में यदि अच्छी तरह चिकित्सा की जाय तो रोग दूर हो सकता है।

भारतवर्ष में कुष्टरोगियों की संख्या कम नहीं है। बाँकुड़ा में तो इस रोग का एक अड्डा ही बन गया है। १९११ की मर्दुम-शुमारी में वहाँ के कलेक्टर ने लिखा है कि भारत में कुष्टरोग का सबसे ज्यादा ज़ोर बाँकुड़ा में है। कुष्ट-रोग से पीड़ित अनेक भिक्षुक इधर-उधर भीख माँगते फिरते हैं। कुछ रोगी तो व्यापार तक करते हैं। यह रोग अभी तक नीच जाति के लोगों में ही अधिक था, पर अब यह ऊँची जाति के लोगों में भी फैल रहा है। यही हाल पुरी का भी है। वहाँ भी कोढ़ियों की संख्या बहुत अधिक है। इस रोग की वृद्धि का कारण यह है कि रोगी अलग नहीं रक्खे जाते। गाँव में ऐसे रोगी दूसरे लोगों के साथ बराबर मिलते-जुलते हैं, खाते-पीते हैं, नहाते-धोते हैं। बात तो यह है कि जनता को यह नहीं मालूम कि इन रोगियों के साथ रहना कितना भयावह है। अभी हाल में कलकत्ते में एक कान्फ्रेन्स हुई थी।

उसमें सर लिओनार्ड राजर्स ने इन रोगियों के लिए अलग निवास-स्थान बनाने की बड़ी आवश्यकता बतलाई थी। उन्होंने कहा था कि यदि इनके रहने के लिए अच्छा प्रबन्ध कर दिया जाय और इनकी अच्छी चिकित्सा होने लगे तो रोगी स्वयं ऐसे स्थानों में रहना पसन्द करें।

इस काम में संयुक्त राज्य (अमरीका,) को बड़ी सफलता हुई है, उसने फ़िलिपाइन्स और हवाई द्वीपों में कोढ़ियों के लिए निवास-स्थान बनवाये हैं। उन द्वीपों में सन् १८७७ से १८८४ तक हज़ार पीछे १०७८ मनुष्य इस रोग से पीड़ित थे। सन् १८९०-९४ में इनकी संख्या बढ़कर ११८८ हो गई। तब से बराबर घट रही है। १९११-१५ में एक हज़ार में २२६ ही इस रोग से ग्रस्त थे। फ़िलिपाइन्स में भी ऐसी ही उन्नति हुई है। वहाँ कोढ़ियों के लिए कुलियर नामक द्वीप पसन्द किया गया है। वह अपनी प्राकृतिक शोभा के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ कुष्टाश्रम खोलने का श्रेय डाक्टर विक्टर जी० हीसर को है। उनका कहना है कि यहाँ कुछ ही समय में कोई आठ हज़ार रोगी भेज दिये गये थे, पर कुछ गड़बड़ नहीं हुआ। चिकित्सा में भी अच्छी उन्नति हो गई है। जो बेचारे सब लोगों से दुरदुराये जाते थे और भूखों मरते थे उनके लिए सभी प्रकार के सुभीते हो गये हैं। वे आराम से रहते हैं और खाते-पीते हैं। रोगियों की संख्या भी खूब घट गई है। प्रति वर्ष जो छूत से सैकड़ों लोग रोग-ग्रस्त होते थे अब

उसका भी डर नहीं रहा। दक्षिण युरोप, अफ्रिका, नारवे और आइसलेंड में भी कुष्ट-रोग का उच्छेद नहीं हुआ। पर इंगलेंड में १६ वीं शताब्दी के बाद से इस रोग का चिह्न तक न रहा। उसके पहले एक हजार वर्ष तक इसका बड़ा जोर था। वहाँ भी एक कुष्टाश्रम स्थापित हो गया है। सर मालकम मारिस उक्त संस्था के अध्यक्ष हैं। उनके सहकारियों में सर आर्थार डाउन्स, मांटेग्यू पोलक, डाक्टर जान मेकलिआड आदि लोकमान्य पुरुष हैं। सर मालकम अपनी संस्था को उसी ढंग से चलाते हैं जिस ढंग से दक्षिणी अफ्रीका की ऐसी संस्थाएं चलाई जाती हैं। जनता को रोग से बचाने की चेष्टा करना, परन्तु उसमें नृशंसता से काम न लेना, यही उनका सिद्धान्त है। रोगियों की अच्छी सेवा की जाती है और वे ऐसे ढंग से रक्खे जाते हैं जिससे उन्हें अपना एकान्त जीवन कष्ट-प्रद न जान पड़े।

२८—तिब्बत में बौद्ध-धर्म

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का कैसे प्रवेश हुआ, इसका हाल जानने के लिए अच्छे साधन हैं। तो भी अभी तक उसका प्राचीन इतिहास ज्ञात नहीं हुआ है। जान पड़ता है कि पहले पहल बौद्धों को यहाँ अपना मत प्रचार करने में सफलता नहीं हुई। कहा जाता है कि ईसा के १३७ वर्ष पहले वहाँ कैलास पर्वत पर एक बौद्ध-मठ स्थापित किया गया था। पर लोगों का ध्यान उधर

आकृष्ट ही न हुआ। इस लिए वह शीघ्र ही उजड़ गया। दन्त-कथाओं में यह प्रचलित है कि अवलोकितेश्वर बुद्ध ने ही तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। नीचे हम उसका ऐतिहासिक विवरण देते हैं।

सन् ३७१ ईसवी में तिब्बत-नरेश थाथोरी न्यानत्सन के पास पाँच विदेशीय विद्वान् गये। उनके आने के पहले राजा को स्वर्ग-पतित चार चीजें मिली थीं। राजा उसका कुछ मतलब न समझ सका था। वे चार चीजें थीं (१) प्रार्थना-बद्ध अंजलि, (२) एक छोटा पात्र, (३) एक रत्न जिस पर यह मंत्र खुदा हुआ था 'ओं मणि पद्मे हूँ' और (४) एक धर्म-ग्रन्थ। उन विदेशीय विद्वानों के द्वारा राजा को इन वस्तुओं का रहस्य मालूम हुआ। उन लोगों ने राजा को उनके उपयोग भी बतलाये और उन्हें काम में लाने के लिए आदेश भी दिया। राजा ने उनकी आज्ञा का पालन किया और उनकी कृपा से वह ११९ वर्ष तक जीवित रहा। कुछ लोग इसी समय से तिब्बत में बौद्ध-धर्म का आगमन मानते हैं। पर तिब्बतीय इतिहास लेखकों ने लिखा है कि बौद्ध-धर्म का प्रचार स्राङ्त्सन गैम्पो के राजत्वकाल में हुआ। उसका जन्म सन् ६१७ में हुआ था और मृत्यु ६९८ में। बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए उसने खूब उद्योग किया। इसी लिए तिब्बत के इतिहास-ग्रन्थों में उसकी बड़ी प्रशंसा की गई है। उसने अपने मंत्री थूमी सम्भोटा को सन् ६३२ ईसवी में भारतवर्ष

भेजा। उसके साथ १६ तिब्बती और आये थे। यहाँ भारतीय भाषा का अध्ययन करके उन्होंने बौद्ध-शास्त्रों का भली भाँति मनन किया था। उन्होंने तिब्बत में भारतीय लिपि का प्रचार किया। इसके बाद साङ्गस्तन गैम्पो की आज्ञा से कितने ही बौद्ध-शास्त्रों का अनुवाद तिब्बतीय भाषा में किया गया। उस की प्रजा में जो क्रूर और नृशंस रीतियाँ प्रचलित थीं उनको भी उसने बन्द कर दिया। इन सत्कार्यों में उसे अपनी रानियों से बड़ी सहायता मिली। उसकी दो रानियाँ थीं। एक नेपाली थी और दूसरी चीनी। तिब्बत में इन रानियों की पूजा अभी तक होती है। इन कार्यों से राजा की कीर्त्ति सर्वत्र फैल गई। दूर दूर के बौद्ध-यति उसका नाम सुनकर आने लगे। इससे तिब्बत में बौद्धधर्म की अच्छी वृद्धि होने लगी।

साङ्गस्तन गैम्पो के परलोकगत होने पर उसके उत्तराधिकारियों के राजत्व कालमें बौद्ध-धर्म की वैसी उन्नति नहीं हुई। कुछ समय तक उसकी अवस्था बड़ी शिथिल रही। पर थिस्राङ्ग डेत्सन के सिंहासनारूढ़ होने पर फिर उसका भाग्योदय हुआ। उसने ७२८ से ७८६ ईसवी तक राज्य किया। उसके भी समय में कुछ लोगों ने बौद्ध-धर्म को नष्ट करने की चेष्टा की। पर राजा ने उनके उद्योग को निष्फल कर दिया। यह उसी का प्रयत्न था कि तिब्बत में आज तक बौद्ध-धर्म का अस्तित्व है। उसने शान्त-रक्षित नामक बौद्ध पंडित को बङ्गाल से बुलाकर तिब्बत में बड़े

आदर से रक्खा। उसके बाद पद्मसम्भव गये। अपनी अलौकिक विद्वत्ता के कारण उस समय पद्मसम्भव सबसे अधिक यशस्वी थे। इन लोगों ने वहाँ माध्यमिक सम्प्रदाय के सिद्धांतों का प्रचार किया। राजा थिस्रोङ्ग ने एक विहार बनवाया। उसने भी तिब्बतीय भाषा में बौद्ध-शास्त्रों के अनुवाद कराये। ९०० ईसवी में रलपचन ने भी बौद्ध-धर्म की पुष्टि की। पर उसके उत्तराधिकारी लङ्गधर्म को बौद्ध-धर्म से बड़ी घृणा थी। उसके समय में बौद्ध-धर्म को दूर करने के लिए ख़ूब प्रयत्न किया गया। राजा ने बौद्ध-मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ने के लिए आज्ञा दे दी। इससे लोगोंमें बड़ी उत्तेजना फैली। परिणाम यह हुआ कि किसी लामा (धर्म्मगुरु) ने राजा को मारकर बौद्ध-धर्म पर अत्याचार करनेका बदला ले लिया। उसका लड़का भी बिना धर्म में दीक्षा पाये ६४ वर्ष की अवस्था में मरा। उसका पुत्र विलमगुरस्तन बौद्ध-धर्म का पक्षपाती निकला। उसने ८ बौद्ध-मन्दिर बनवाये। १८ वर्ष तक उसने राज्य-शासन करके अच्छी ख्याति प्राप्त की। सन् १०१३ और १०४२ ईसवी में मगध से धर्म प्रचारकों का दल तिब्बत गया। उन्होंने बौद्ध-धर्म में दृढ़ता उत्पन्न की। १०४१ ईसवी में वहाँ तांत्रिक मत का समावेश हुआ। इसके बाद प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अतिस और उसके शिष्य का आगमन हुआ। इसके तीन सौ वर्ष बाद प्रसिद्ध सुधारक स्तनखांपा का जन्म सन्

१०५५ ईसवी में हुआ था। उसके कारण बौद्ध-धर्म में अनेक सुधार हुए।

आजकल तिब्बत में बौद्ध-धर्म के दो सम्प्रदाय हैं, एक प्राचीन और दूसरा नवीन। प्राचीन सम्प्रदाय संसार को त्याज्य नहीं समझता। वह विषयोपभोग से भी निर्वाण की प्राप्ति मानता है। परन्तु नवीन सम्प्रदाय का मत उससे सर्वथा विपरीत है। इसमें संन्यास धर्म पर ज़ोर दिया गया है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक अतिस का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उसी ने ११ वीं सदी में लोगों में प्राचीन सम्प्रदाय की कुशिक्षा का बुरा परिणाम देखकर यह मत चलाया। पहले पहल लोग इसे स्वीकार करते डरे। पर शीघ्र ही लोग नवीन सम्प्रदाय का अनुसरण करने लगे। फिर भी तिब्बत में प्राचीन सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या अधिक है।

तिब्बत में जितने महन्त हैं, सब लामा कहलाते हैं। सब से उच्च स्थान दलाई लामा का है। वही तिब्बतीय बौद्ध-धर्म के अध्यक्ष हैं। वहाँ जितने बौद्ध-मठ हैं वे प्रायः सभी शिक्षा के केन्द्र हैं। जनसाधारण को उन्हीं से शिक्षा प्राप्त होती है। शिकाचे का मठ बहुत प्रसिद्ध है। उसमें कोई ३५०० धर्मोपदेशक रहते हैं। उनका काम सिर्फ़ अध्ययन और अध्यापन है।

इतना होने पर भी तिब्बत में बौद्ध-धर्म की बुरी दशा है। उसमें कितने ही दोष आगये हैं। धर्मोपदेशकों में कोई ही कोई

सच्चे धार्मिक होते हैं। धर्मका ढोंग करनेवाले ही अधिक हैं और प्रायः सभी दुर्व्यसनों से ग्रस्त हैं। तब वहाँ दुराचार और हठधर्मी की वृद्धि क्यों न हो ? "धर्मो रक्षति रक्षितः।"

२९—विन्सेन्ट आर्थर स्मिथ

वि० ए० स्मिथ साहब ने भारतवर्ष का इतिहास लिखकर अच्छी ख्याति प्राप्त की। ऐसा एक भी इतिहासप्रेमी न होगा जो उनका नाम न जानता हो। उनकी पुस्तकों का प्रचार भी इस देश में खूब है। आजकल भारतीय विश्वविद्यालयों के सभी छात्र उनकी किताबें पढ़ते हैं। स्मिथ साहब थे भी इस योग्य। आप बड़े विद्या-व्यसनी थे। आपकी विद्याभिरुचि ऐसी थी कि पेन्शन लेने के बाद भी आप ऐतिहासिक विषयों की ही चर्चा में लगे रहते थे। खेद है, ऐसे विद्वान् का ऐसी ही दशा में शरीरान्त हो गया।

स्मिथ साहब का जन्म ३ जून सन् १८४८ में डब्लिन में हुआ था। आपके पिता डाक्टर थे, पर पुरातत्त्व के बड़े प्रेमी थे। उनको प्राचीन सिक्कों का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने प्राचीन सिक्कों का एक अच्छा संग्रह किया था। उनका वह संग्रह ब्रिटिश म्यूज़ियम में वर्तमान है। जान पड़ता है, पिता के इसी पुरातत्त्व-प्रेम के कारण स्मिथ साहब को ऐतिहासिक विषयों से इतना अनुराग हो गया था।

स्मिथ साहब ने प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके डब्लिन के ट्रिनिटी कालेज में प्रवेश किया। वहीं उच्च शिक्षा प्राप्त करके आप पदवीधर हुए। छात्रावस्था में भी आपकी प्रतिभा झलकती थी। आपने सभी परीक्षाएँ नामवरी के साथ पास कीं। सन् १८६९ में आप इंडियन सिविल सर्विस के लिए तैयार हुए। सन् १८७१ में आपने उसकी अन्तिम परीक्षा पास की। उसमें भी आपने अच्छी योग्यता प्रदर्शित की। पास हुए उम्मेदवारों में आपका पहला नम्बर था। सबसे पहले आपकी नियुक्ति संयुक्त प्रान्त में हुई। यहाँ आपने कई पदों पर रहकर काम किया। आपके काम से सभी सन्तुष्ट थे। इससे आपकी बराबर पदोन्नति होती गई। सन् १८९५ में आप डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज बना दिये गये। तीन साल के बाद सन १८९८ में आप चीफ सेक्रेटरी हो गये। फिर थोड़े ही दिनों में आप कमिश्नर नियुक्त हुए। १९०० में पेन्शन लेकर आप इँगलैण्ड चले गये। १९१०में आप आक्सफोर्ड आगये और वहाँ इन्डियन इन्स्टीट्यूट के कुरेटर हुए। १९१५ में आप रायल एशियाटिक सोसायटी के मेम्बर हुए। १९१८ में आपको सोसायटी ने एक सुवर्ण-पदक प्रदान किया। १९१९ में आप उसके उपसभापति हुए। उसी साल ६ फर्वरी को आपका शरीर छूट गया।

स्मिथ साहब भारतीय इतिहास के बड़े भारी विद्वान् थे। आपने वर्षों उसका अध्ययन किया था। अपने इसी इतिहास-

प्रेम के कारण आपने शीघ्र पेन्शन ले ली थी। अन्त-काल तक आप उसी की चर्चा में निरत रहे।

सबसे पहले आपने बुन्देलखण्ड के प्राचीन इतिहास पर कुछ लेख लिखे। आपके वे लेख "जर्नल आफ दि बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी' में प्रकाशित हुए। इन लेखोंसे आपकी अध्ययनशीलता प्रकट होती है। इसके बाद आपने प्राचीन भारत का इतिहास लिखने का निश्चय किया। यह काम बड़ा दुष्कर था। इसके लिए आपने परिश्रम भी खूब किया। आपने पहले प्राचीन भारत के विषय में कई गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। सन् १८९२ में आपने गुप्तकालीन मुद्राओं के विषय में एक निबन्ध लिखा। यह निबन्ध खूब खोज के साथ लिखा गया था। इसे आपने लन्दन में प्राच्य विद्या-विशारदों की एक सभा में पढ़ा। १९०१ में आपने अशोक का जीवनचरित लिखकर छपाया। इसके तीन साल बाद आपका प्राचीन भारत का इतिहास प्रकाशित हुआ। इससे आपकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। सभी विद्वानोंने आपकी इस कृति की प्रशंसा की। इस का प्रचार भी अच्छा हुआ। १९०८ में इसका दूसरा संस्करण निकला और १९१४ में तीसरा संस्करण। १९११ में आपने भारतीय कला-कौशलके इतिहास की रचना की। १९१७ में आपका अकबर का जीवन-चरित प्रकाशित हुआ। आपका अन्तिम ग्रन्थ आक्सफर्ड का भारतेतिहास (Oxford History

of India) था। इसके पहले आप भारतवर्ष का एक संक्षिप्त इतिहास लिख चुके थे। वह विश्वविद्यालयों की मैट्रिकुलेशन कक्षाके छात्रों को पढ़ाया जाता था। आपका यह दूसरा इतिहास उससे बहुत बड़ा है। उसमें वैदिककाल से लेकर आज तक का हाल विस्तारपूर्वक दिया गया है।

भारतवर्ष का इतिहास अभी तक अपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भारतीय पुरातत्त्व-विभाग अच्छा काम कर रहा है। नई नई बातें मालूम होती जाती हैं। पर प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास सिर्फ पुरातत्त्व का विषय नहीं है। उस पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। यह लज्जा की बात है कि भारतीय विद्वानों का ध्यान इसकी ओर विशेष रूपसे आकृष्ट नहीं हुआ। इसका प्रमाण यह है कि आजतक किसी भी भारतीय विद्वान्ने भारतवर्षका इतिहास लिखने का प्रयास नहीं किया। हम तो स्मिथ साहब के चिरकृतज्ञ रहेंगे कि उन्होंने भारतवर्ष का इतिहास लिखकर हम लोगों को अपने देश के विषय में ज्ञान-प्राप्ति करने का साधन तो सुलभ कर दिया। यह क्या कम बात है कि आप के इतिहास का अध्ययन करके हमारे छात्र पदवीधर बनते हैं।

२०—मत्स्यनारी

कुछ समय पहले लोगों का विश्वास था कि समुद्र में एक मछली होती है जिसका आधा शरीर ठीक मनुष्य के शरीर के

समान होता है। इस मत्स्यनारी अथवा जल-बाला की कथा प्रायः सभी देशों में प्रसिद्ध है। सन् १७७५ में दी जेन्टिलमैन्स मेगज़ीन नामक एक पत्र में एक मत्स्यनारी का विवरण प्रकाशित हुआ था। उसमें लिखा हुआ था कि आजकल लन्दन में एक मत्स्यनारी की देह प्रदर्शित की जा रही है। इसके पहले सेण्ट जर्मन के मेले में भी एक मत्स्यनारी दिखलाई गई थी। उसके और इसके चेहरे में बड़ा भेद है। पहले की मत्स्यनारी का रंग काला था। उसके लिए यह कहा जाता था कि वह अफ्रीका के समुद्र में पकड़ी गई है। यह जल-बाला योरपीय समुद्र की अधिवासिनी है। इसीसे इसका गोरा रंग है। काली मत्स्यनारी को देखने से ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह कोई नीग्रो जाति की सी है। और यह युरोपीय रमणी के समान सुन्दरी है। इसकी आँखें बड़ी सुन्दर हैं। उनका हलका नीला रंग है। नाक छोटी है। मुख बड़ा नहीं है और होंठ पतले हैं। चिबुक सुडौल है और कण्ठ भी सुन्दर है। केवल इसके कान मनुष्य के कान के समान नहीं हैं। वे मछलियों के कान से मिलते हैं। सुना जाता है कि मत्स्यनारियों के सिर पर बाल होते हैं, परन्तु इसके सिर पर बाल नहीं है। इसके हाथों की गढ़न भी अच्छी है, पर अँगुलियों में नख नहीं हैं। इसकी कमर के नीचे का भाग बिलकुल मछली की तरह है। इसका कण्ठस्वर बड़ा ही मनोमुग्धकर है, परन्तु खेद यही है कि आँधी में ही इसका कण्ठ फूटता है।

जिस प्रकार प्रेतों के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रसिद्ध होने पर भी उनके अस्तित्व पर लोगों का दृढ़ विश्वास नहीं है, उसी प्रकार मत्स्यनारियों के विषय में भी कुछ भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्राचीन काल में मत्स्यनारियों से मनुष्यों का प्रायः समागम हुआ करता था; बातचीत प्रेमालाप तक हो जाया करता था। परन्तु अब इस वैज्ञानिकयुगमें यह बात असम्भव हो गई है। अब देवों से मनुष्यों का सम्मिलन दुर्लभ है। अब तो मत्स्यनारी सिर्फ कथा में रह गई है। गूलर के फूल की तरह वह अब किसी के देखने में नहीं आती, यद्यपि प्रदर्शिनियों में उसका मृत शरीर दिखाया जाता है। कुछ वर्ष पहले यह सुना गया था कि स्काटलैण्ड में सेण्टलैंट-द्वीप के कुछ मछुए मछली मार रहे थे। तब उनके जाल में एक मत्स्य-नारी भी फँस गई थी। परन्तु यह बात कहाँ तक सच है, यह कोई नहीं कह सकता।

वैज्ञानिकगण मत्स्यनारी की कथा को हँसी में उड़ा देते हैं। मत्स्य-नारी के सम्बन्ध में ऊपर एक प्रत्यक्षदर्शी का जो विवरण उद्धृत किया गया है उस पर उनका विश्वास नहीं है। उनकी राय में वह सर्वथा अविश्वसनीय है। उनका कथन है कि मत्स्यनारी के सम्बन्ध में जो कथाएँ प्रचलित हैं उनका आधार एक भ्रम है। समुद्र में सील का रंग-ढंग ऐसा है कि दूर से उसको देखकर मनुष्य भ्रम में पड़ सकता है। पहले-पहल

जब लोग अपरिचित स्थानों में यात्रा करते थे तब दूर से सील को देखकर उसको उन्होंने मत्स्यनारी का रूप दे दिया। उनके इसी दृष्टि-भ्रम पर मत्स्य-नारी का अस्तित्व है।

कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि मत्स्य-नारी ने मनुष्य-जाति के साहित्य और कला में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है। कवियों और चित्रकारों ने उसके सत्यासत्य की विवेचना नहीं की। इसकी जरूरत भी उन्होंने नहीं समझी। संसार में सैकड़ों जीव जन्तु हैं, जिनके अस्तित्व का हमें पता नहीं है। अतएव चाहे मत्स्य-नारी हो अथवा न हो, उससे उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उनकी कल्पना के लिए कोई सम्भव अथवा असम्भव नहीं है। यही कारण है कि जिस प्रकार प्राचीन साहित्य में मत्स्यनारी का स्थान है उसी प्रकार अर्वाचीन साहित्य में वैज्ञानिकों-द्वारा अप्रमाणित होने पर भी उसकी उपेक्षा नहीं की गई है। महाभारत, ओडसी और इलियड में मत्स्यनारियों का वर्णन है।

२१—उलटी रेलगाड़ी

अँगरेजी में एक कहावत है—आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। कभी ऐसा भी एक जमाना था जब बिना रेलगाड़ी के भी लोगों का काम निकल जाता था। अभी हमारे देश में ही ऐसे स्थान हैं जहाँ रेलगाड़ी नहीं जाती। परन्तु अब जहाँ

रेलगाड़ी चलती है वहाँ यदि दो-चार दिनों के लिए भी रेलगाड़ी का आना-जाना बन्द हो जाय तो लोगों को बड़ी दिक्कतें हों। व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि में एक एक मिनट की बचत के लिए लोग कोशिश करने लगे हैं। सच तो यह है कि अब रेलगाड़ी से भी अधिक शीघ्रगामिनी गाड़ी की आवश्यकता पड़ने लगी है। मोटर और व्योमयानों का प्रचार इसीसे बढ़ रहा है।

यों तो हमारे सभी पाठकों ने रेलगाड़ी का दर्शन किया होगा, पर उन्हें यह न मालूम होगा कि रेलगाड़ी को निर्विघ्न चलाने के लिए वैज्ञानिकों को कितना परेशान होना पड़ा। रेलगाड़ी खुद एक विचित्र वस्तु है। उससे मनुष्यों की बुद्धि की विलक्षणता प्रकट होती है। कहीं ऊँचे ऊँचे पहाड़ों के ऊपर से रेलगाड़ी दौड़ती है तो कहीं बड़ी बड़ी नदियों के ऊपर से जा रही है। कहीं पहाड़ों के भीतर से उसके लिए रास्ता बनाया गया है तो कहीं नदी के नीचे सुरंग खोदकर उसके आने-जाने के लिए मार्ग तैयार हुआ है। ये सब काम ऐसे नहीं हो जाते। इसके लिए लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं, सैकड़ों मनुष्यों की जानें जाती हैं। तब कहीं हम फर्स्ट क्लास पर आराम से मुँह में चुरट दबाये, एक उपन्यास हाथ में लिये, घंटे आध घंटे में इन बीहड़ स्थानों को तय करते हैं।

इटली और स्विटजरलैण्ड के बीच में एक बड़ा बोगदा मिलता है। यह कोई १० मील लम्बा होगा। इसे हम रेलगाड़ी

में मिनटों में पार कर जाते हैं। पर यह सुरंग ७ वर्ष और ६ महीने में तैयार हुई है। इसके एक गज खोदने में १६५०० रुपये खर्च हुए हैं। परन्तु यह तो सस्ता काम है। टेम्स नदी के नीचे जो सुरंग बनाई गई है उसके एक गज बनाने में १८०००० रुपये खर्च हुए हैं। यह सुरंग १८ वर्ष में बनकर तैयार हुई।

रेलगाड़ियों का कितना प्रचार बढ़ गया है, इसका कुछ अन्दाजा लगाइये। रेलगाड़ी पृथ्वी पर से ६७०००० मीलों की यात्रा करती है। इसे चलाने के लिए १,२५०,०००,००० पौण्ड संसार ने दे रक्खे हैं। ग्रेट ब्रिटन में फी मील ५१२६८ पौण्ड लगाये गये हैं। प्रतिवर्ष ग्रेटब्रिटन और आयर्लेण्ड में कोई १६०००००००० यात्री रेलगाड़ियों से आते-जाते हैं। इनमें ३७०००००० लोग फर्स्ट क्लास के यात्री रहते हैं। भारतवर्ष में रेलों की लम्बाई ३३००० मील है। परन्तु यहाँ के यात्रियों की बात मत पूछिए। थर्ड क्लास में धक्के खाते हुए ढोरों की तरह भरे हुए लाखों धर्म-प्राण भारतवासी प्रतिदिन पुण्य-तीर्थों में आकर अपना जीवन सफल करते हैं। एक तो वे जानते हैं और दूसरे भगवान् जानते हैं कि रेलगाड़ी की यात्रा कैसी होती है। न जाने इधर हमारी सरकार की कब कृपा-दृष्टि होगी कि जिससे थर्ड क्लास के यात्रियों को भी रेल की यात्रा सुखद हो जाय। खैर।

जर्मनी में एल्बर फ़ेल्ड और बारमेन नाम के दो गाँव हैं। इन्हीं के बीच रेलगाड़ी उलटी चलती है, पाँत ऊपर और गाड़ी नीचे। तारीफ़ यह कि गाड़ी नदी के ऊपर से जाती है। बैठने-वाले मुसाफ़िरों का जी धड़कता रहता है। उन्हें यही डर रहता है कि अब डूबे।

वाह् विंकिल के स्टेशन पर पहुँचते ही यह विलक्षण दृश्य देखने में आता है। यह देखकर कौन आतंक और विस्मय में नहीं डूब जायगा कि रेलगाड़ी ऊपर हवा में अधर लटकी हुई है। पाँतें भी इसकी अजीब बनी हैं। लोहे के कमानी पर लम्बे छड़ परस्पर गुथे हुए रहते हैं। देखने में बड़े भद्दे होते हैं। यदि उसी समय गाड़ी आ गई तो मुसाफ़िर चौंक पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि सिर के ऊपर से कोई तारपीडो जा रहा है।

यह गाड़ी सिर्फ़ आठ ही मील तक जाती है। यही ग़नीमत है। इसमें सिर्फ़ दूसरे दर्जे के डिब्बे हैं। किराया है चार पेनी। मामूली गाड़ी से जाने में इससे दूना किराया लगता है। यही कारण है कि लोग इस गाड़ी से आया-जाया करते हैं। यदि यह बात न होती तो कम लोग इसमें बैठते, क्योंकि इस गाड़ी से यात्रा करना आनन्दप्रद नहीं होता।

स्टेशन के आने पर गाड़ी एक किनारे चली जाती है और फिर अर्द्धवृत्ताकार चक्कर लगाती हुई प्लेटफ़ार्म पर खड़ी होती है। जब वह खड़ी रहती है तब कुछ प्यलती रहती है। ऐसा जान

पड़ता है कि मानो गाड़ी थक गई है। खैर। मुसाफ़िर भीतर जाकर बैठते हैं। सिगनल होते ही गाड़ी छूटती है। मुसाफ़िरों को न धक्का लगता है और न किसी तरह की अड़चन होती है। पर उनका जी मचलाने लगता है। जहाज़ के यात्रियों को जैसा मालूम होता है वैसा ही कुछ कुछ यहाँ भी समझ लीजिए। जब गाड़ी किसी मोड़ पर पहुँचती है तब एक झटका लगता है।

मज़ा तब आता है जब गाड़ी नदी पर पहुँचती है। इस नदी का नाम है वूपर।

भगवान् ने तो इसे पहाड़ियों और जङ्गलों के भीतर से बहाया था, पर अब तो उसके दोनों किनारे बड़े बड़े कारखाने बने हुए हैं। इंच भर भी जगह ख़ाली नहीं है। रेल की पाँतों को थामने के लिए जो खम्भे हैं वे कारखानों की दीवारों से होकर भीतर कारखाने में गड़े हैं।

जब स्टेशन कुछ दूर रहता है तब गाड़ी से उसकी अजीब सूरत नज़र आती है। लकड़ी के सिर्फ़ दो पतले पतले टुकड़े दिखाई पड़ते हैं। वे भी इस तरह कि मानो किसी ने हवा में पतङ्ग जमा रक्खा हो। जब गाड़ी बिलकुल पास पहुँच जाती है तब विश्वास होता है कि सचमुच यह स्टेशन है, क्योंकि तख़्तों पर आदमी खड़े हुए मिलते हैं।

गाड़ी में बैठे हुए मुसाफ़िर तरह तरह के तमाशे देखते हैं। कभी तो उनके पैरों के नीचे पुल रहता है और कभी उनके सिर

के ऊपर से पुल निकलता है। कभी ट्राम निकलती है तो कभी भकभक करती हुई कोई रेलगाड़ी ही चली जाती है। पर जब गाड़ी मोड़ पर पहुँचती है तब जी घबराता है। ऐसी तबीयत होती है कि फिर इस गाड़ी पर कभी न चढ़ेंगे। जब बारमेन के स्टेशन पर गाड़ी खड़ी होती है, तब जी में जी आता है। सभी कहते हैं कि भाई खर्च भले ही हो जाय, पर हमारे पुराने तरीके की गाड़ी अच्छी। अब इस बला में नहीं पड़ेंगे।

३२—मुग़ल-काल का हिन्दू—साहित्य

सन् १५२६ में बाबर ने भारतवर्ष में जो मुग़ल-साम्राज्य स्थापित किया वह दो सौ वर्ष तक अखंड बना रहा। फिर उसका पतन होने लगा। अन्त में १८०३ में दिल्ली पर अँगरेजों का प्रभुत्व हुआ और मुग़ल-सम्राट् अँगरेजों से पेंशन पाने लगा। मुग़ल-साम्राज्य का गौरव नष्ट हो गया, पर उसका ध्वंसावशेष सन् १८५७ तक विद्यमान था। उसी साल ग़दर होने के बाद अन्तिम बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र भारतवर्ष से निर्वासित किये गये और भारतवर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य का एक अङ्ग हो गया।

भारतवर्ष के इतिहास में मुग़ल-काल बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह सच है कि मुग़लों के शासनकाल में प्राचीन भारत का गौरव लुप्त हो गया था, हिन्दू नरेशों की स्वाधीनता नष्ट हो गई थी और हिन्दूधर्म पर इस्लाम-धर्म ने आक्रमण किया था, तो भी

इसमें सन्देह नहीं कि इसी समय हिन्दू-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई, भारतवर्ष का व्यवसाय समृद्धशाली हुआ, हिन्दूधर्म ने नवीन रूप धारण कर लिया और भारत का गौरव अक्षुण्ण रहा। यहाँ हम मुग़ल-कालीन हिन्दू-साहित्य पर एक दृष्टि डालना चाहते हैं।

मुग़ल-साम्राज्य का संस्थापक बाबर था। जब वह दिल्ली के सिंहासन पर अधिष्ठित हुआ तब हिन्दू-साहित्य में बड़ा विचित्र परिवर्तन हो रहा था। हिन्दूजाति का धार्मिक साहित्य संस्कृत-भाषा में है। जब संस्कृत-भाषा सर्वसाधारण के लिए दुर्बोध हो गई तब प्रचलित भाषाओं में धार्मिक साहित्य का निर्माण होने लगा। पर संस्कृत पर लोगों का पूज्य भाव बना ही रहा। जो संस्कृत के पण्डित होते थे उनका आदर होता था। इसलिए संस्कृत पर विद्वानों का आधिपत्य हो गया। जब किसी भाषा का सम्बन्ध सर्वसाधारण से टूट जाता है तब उसमें काव्य की रचना हो ही नहीं सकती। मिल्टन ने लैटिन-भाषा में काव्य-रचना की है और पण्डितराज जगन्नाथ ने संस्कृत-भाषा में। इन दोनों की रचनाओं में काव्य का शरीर-मात्र है, आत्मा नहीं है। इसका कारण यह है कि कवि अपने ही युग के भावों को व्यक्त कर सकता है। उसकी कृति में स्वाभाविकता तभी आ सकती है जब वह अपने युग के भावों को अपने युग की भाषा में प्रकट करे। तभी वह सफल भी हो सकता है। यही कारण है

कि मुग़ल-काल में जितने संस्कृत-काव्य लिखे गये उनमें कवित्व की अपेक्षा विद्वत्ता अधिक है और इसीलिए उनका प्रचार भी संकुचित है। इस युग में शास्त्रों की पर्यालोचना ख़ूब होने लगी। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मिथिला में न्याय-शास्त्र का बड़ा प्रचार था। प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र मिथिला के ही निवासी थे। उनसे शिक्षा प्राप्त कर १५०३ में रघुनाथ ने नदिया में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की तब से नदिया संस्कृत-विद्या का केन्द्र-स्थान है। रघुनाथ की मृत्यु सन् १५४७ में हुई, जब शेरशाह का अस्थायी साम्राज्य दिल्ली में स्थापित हो गया था। बङ्गाल निवासी भुवनानन्द कविकंठाभरण शेरशाह के समकालीन थे। उन्होंने हिन्दुओं के अठारहों शास्त्रों पर टीकायें लिखी हैं। सङ्गीत-विद्या पर भी उन्होंने एक पुस्तक लिखी है।

अकबर के राजत्व-काल को हम साहित्य का स्वर्ण-युग कह सकते हैं। अकबर उदारचेता सम्राट् था। यद्यपि वह स्वयं निरक्षर था, तथापि वह विद्या-रसिक था। उसके दरबार में बड़े बड़े विद्वान् थे। अकबर के धार्मिक विचार भी बड़े उदार थे। वह अपने धार्मिक ज्ञान की वृद्धि के लिए सदैव तत्पर रहता था। वह भिन्न भिन्न धर्मों के आचार्यों का विवाद सुना करता। इस लिए उसकी राजसभा में विद्वानों का जमघट बना रहता। आईन-अकबरी में तत्कालीन विद्वानों की पाँच श्रेणियाँ की गई हैं।

पहली श्रेणी में वे लोग थे जो बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के रहस्य को समझते थे। दूसरी श्रेणी में उन विद्वानों की गणना थी जो बाह्य जगत् की उपेक्षा कर अन्तरात्मा के ही अनुशीलन में निरत रहते थे। तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान् थे जो विज्ञान का अनुशीलन किया करते थे। चौथी श्रेणी में उनका स्थान था जो दर्शन-शास्त्र के पंडित थे। पाँचवीं श्रेणी में वे विद्वान् थे जो धर्मान्धता के कारण दूसरे मतों की निन्दा किया करते थे। पहली श्रेणी में २१ विद्वान् थे उनमें शेख़ मुबारक सर्वश्रेष्ठ थे। द्वितीय श्रेणी के विद्वानों की संख्या १४ थी। तृतीय श्रेणी में १२ मुसलमान धर्माचार्य थे। उनमें हाफ़िज़ की ख्याति सब से अधिक थी। चतुर्थ श्रेणी में विख्यात चिकित्सकों का नाम है। पञ्चम श्रेणी में अबुलफ़ज़ल ने अपने विपक्षियों को रक्खा है। उनमें बदायुनी भी है।

अकबर के शासन-काल में संस्कृत की कितनी ही पुस्तकों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया। हाजी इब्राहीम ने अथर्ववेद का अनुवाद किया। नक़ीबख़ाँ, अब्दुलक़ादिर बदायुनी और शेख़ सुलतान ने रामायण और महाभारत को फ़ारसी-भाषा में अनुवादित किया। लीलावती के अनुवादक शेख़ अब्दुल फ़ैज़फ़ी थे। ताजक को मुकम्मिलख़ाँ ने फ़ारसी में लिखा। राजतरङ्गिणी के अनुवादक का नाम मौलाना शाह मुहम्मद है। नलदमयन्ती की रचना फ़ैज़ी ने की। इसी तरह संस्कृत के अनेक ग्रन्थ-रत्नों के

अनुवाद हुए। प्रसिद्ध जैनी विद्वान् हरिविजय सूरि इसी समय में हुए। अकबर के यहाँ दो जैन पण्डित और थे, विजयसेन सूरि और भानुचन्द्र उपाध्याय। शान्तिचन्द्र नामक एक विद्वान् ने अकबर की प्रशंसा में कृपारस-कोश नामक एक पुस्तक की रचना की है। भानुचन्द्र के शिष्य सिद्धचन्द्र ने बाणभट्ट के काव्य की टीका लिखी है। नैयायिक महामहोपाध्याय महेश ठक्कुर ने अकबर से मिथिला का राज्य प्राप्त किया था। रुद्र कवि नामक एक दाक्षिणात्य ने सन् १५९६ में राष्ट्रौढ़-वंश नामक महाकाव्य की रचना की है। इसी कवि के एक दूसरे काव्य का भी पता लगा है। उसका नाम है जहाँगीरशाहचरित। यह कवि मयूरगिरि के राजा नारायणशाह का आश्रित था। विश्वगुणादर्श नामक एक काव्य की रचना सन् १६३९ के लगभग हुई है। इसके रचयिता का नाम श्री वेंकटाध्वरि है। नीलकण्ठचम्पू के कर्त्ता नीलकण्ठ दीक्षित वेंकटाध्वरि के सहपाठी थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गदाधर पण्डित हुए, जिन्होंने रघुनाथ शिरोमणि-रचित दीधिति पर गदाधरी टीका लिखी है। सम्राट्-सिद्धान्त के रचयिता पण्डित-राज जगन्नाथ औरङ्गजेब के शासन-काल में थे। इनके सिवा और भी अनेक पण्डित हुए हैं। पर इन सब विद्वानों के ग्रन्थों में नवीनता के स्थान में प्राचीन शास्त्रों की ही विवेचना की गई है। यदि मुग़लकालीन हिन्दू-साहित्य में हम नवीनता का दर्शन करना चाहें तो हमें प्रचलित भाषाओं के साहित्य की ओर दृष्टि देनी चाहिए।

३३—रवीन्द्र-दर्शन

रवीन्द्र नाथ कवि हैं, ब्रह्मसमाज के नेता हैं, समाज-सुधारक हैं, देशभक्त हैं और शिक्षक हैं। उन्होंने काव्य और नाटकों की रचना की है, उपन्यास और प्रहसन लिखे हैं, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना की है, शिक्षा और समाज की भी विवेचना की है। भिन्न भिन्न अध्यायों में उनकी इन रचनाओं की पृथक् पृथक् आलोचना कर देने से हमें रवीन्द्र का दर्शन नहीं हो सकता। हम यह अवश्य जान लेंगे कि इन विषयों पर रवीन्द्र बाबू की यह सम्मति है। उनके जीवन की दो-चार घटनाओं से भी परिचित हो जावेंगे। पर रवीन्द्रनाथ हैं कौन? यह तो नहीं जान सकेंगे।

रवीन्द्रनाथ का दर्शन करने के लिए हमें उनके कवित्व के साथ उनका मनुष्यत्व भी मिला देना चाहिए। उन्हें केवल कवि के रूप में देखने से वे मनुष्य-समाज से अलग हो जाते हैं, और इससे उनके जीवन का एक बड़ा भाग अलक्ष्य हो जाता है। अतएव सबसे पहले हमें इसपर विचार करना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का विकास कैसे हुआ और उसी के साथ हमें उनके कविजीवन पर दृष्टि डालनी चाहिए।

योरप के साथ मिलने के पहले भारतवर्ष अतीतकाल में ही रहा करता था। अतीत में ही वह भविष्य का सुख-स्वप्न देखा

करता था। परन्तु योरप ने उसका सुखस्वप्न भंग कर उसे अतीत से वर्तमान में ला दिया। उस समय वह हृत-सर्वस्व मनुष्य के समान किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। रवीन्द्र बाबू ने उसका अतीत धन खोज कर उसे समर्पण कर दिया है और उसे इस योग्य बना दिया है कि वह वर्तमान संसार में विचरण कर सके।

रवीन्द्रनाथ का जन्म सन् १८६० ई० में हुआ। उनके दो ही साल बाद सन् १८६२ में मारिस मेटरलिङ्क का जन्म हुआ। दोनों ने ही संसार को अध्यात्मवाद का सन्देश सुनाया। दोनों को ही नोबेल-पुरस्कार देकर योरप ने सम्मानित किया। रवीन्द्र बाबू ने उस कुल में जन्मग्रहण किया जो बंगाल में बड़ा प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे। उनके संरक्षण में रहकर रवीन्द्र बाबू ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। बाल्यकाल में ही उनकी प्रतिभा जागृत हो गई थी। जब उनके घर से भारती नामक पत्र का प्रकाशन होने लगा तब उनकी रचनाएँ उसमें निकलने लगीं। सन्ध्या-संगीत उनका पहला ग्रन्थ है, जिसमें उनका विशेषत्व अच्छी तरह प्रकट हुआ है। 'प्रभात-संगीत' में उनका विश्व-बोध अथवा सर्वानुभूति पहले-पहल प्रकट हुई है। इसके बाद तो उनके कवित्व-शक्ति के स्रोत ने बंग-देश को प्लावित कर दिया। अन्तमें वह देश की सीमा का उल्लंघन कर समस्त विश्व के लिए बहने लगा। रवीन्द्र बाबू की

कृति अब किसी देश-विशेष की सम्पत्ति न होकर विश्व की सम्पत्ति हो गई।

यदि हम रवीन्द्र की सर्वानुभूति पर दृष्टि रक्खें तो हम उनके जीवन और काव्य के रहस्य का उद्घाटन कर सकें। विश्व को, मानव-जीवन को सभी ओर से उपलब्ध करने की व्याकुलता ने ही रवीन्द्र के कवित्व को उत्साहित किया है। हम अपने जीवन-द्वारा जिस जीवन को सम्पूर्ण रूप मे नहीं पाते, दूर होने से जिस-का परिचय मात्र पाते हैं, वह अन्तः करण के तीव्र औत्सुक्य के प्रकाश में देदीप्यमान हो उठता है। कवि की व्याकुल कल्पना की रश्मि-च्छटा से प्रदीप्त जगत् के दृश्य को ही हम उनकी रचना में देखते हैं। विश्व-योग के अभाव से कवि में विश्व-बोध का भाव इतना तीव्र हो गया है कि वही उनके कवित्व-स्रोत में फूट पड़ा है। अभीतक हम सुप्त थे। पर एक दिन हमारी चिर काल की निद्रा भंग हुई, हम जाग पड़े। तब हमने अपने शयन-गृह की खिड़की से देखा कि जीवन की विस्तीर्ण लीलाभूमि में मनुष्य सभी दिशाओं में अपनी विचित्र शक्ति को आनन्द में परिकीर्ण कर रहा है। तब विश्व-क्षेत्र में सम्मिलित होने के लिए हमारे प्राण व्याकुल हो गये। इस प्रकार अन्तः करण में विश्व के लिए विरह-वेदना जागृत हो उठने पर हम अभिसारिक होकर बाहर जाना चाहते हैं, पर पथ पहचानते नहीं, इसीलिए भिन्न भिन्न पथों में भटकते फिरते हैं। इसी प्रकार भटकते भटकते अन्त में

हम जान लेते हैं कि हमारा ही पथ राज-पथ है। हम व्यर्थ दूसरे पथों के गोरखधन्धा में पड़े घूम रहे हैं। बस यही बात, यही विश्व की अभिसार-यात्रा हम रवीन्द्रनाथ के काव्य में देखते हैं। और यही अनुभूति का आवेग हम उनके जीवन में पाते हैं। जीवन की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों में से होकर उन्होंने विश्व को पा लिया। और तब वही एक तान उनकी हृत्तंत्री पर बजने लगी। उन्होंने सीमा में असीम का दर्शन कर लिया और अन्धकार में अनन्त-ज्योति की छवि देख ली।

रवीन्द्रनाथ के जीवन के सम्बन्ध में हमें यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि उन्होंने अपने स्वभाव के अन्तर्हित पथ का ही अवलम्बन किया है। उनके इसी स्वभाव में उनकी कवि-प्रकृति, तपस्वी-प्रकृति, भोगी-प्रकृति और त्यागी-प्रकृति ने विकास पाया है। किसी प्रवृत्ति के प्रबल होने पर जब प्रकृति एक ही ओर खिंचती है तब उसके विरुद्ध भीतर से एक धक्का लगता है जो स्वभाव को दूसरी ओर कर देता है। इस तरह नदी के समान उनके जीवन-स्रोत की गति टेढ़ी ही रही है और एक स्थान से दूसरे स्थान और एक रस से दूसरे रस में बहता हुआ अन्त में वह धर्म में जाकर एक रूपता प्राप्त कर लेता है। वहाँ सभी प्रवृत्तियों का विरोध भाव छूट जाता है और उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने भीतर ही भारतवर्ष के चिरन्तन समन्वयादर्श का अनुभव कर लिया।

रवीन्द्रनाथ ने अपने बाल्यकाल में योरप-भ्रमण किया था, और जब उनमें कवित्व का पूर्ण विकास हो गया तब उन्होंने फिर योरप का भ्रमण किया। पहली बार उन्होंने योरप से ग्रहण कर भारतवर्ष को दिया और अब वे योरप को भारतवर्ष का चिरन्तन सन्देश दे रहे हैं। योरप ने उन्हें नोबेल-पुरस्कार से सम्मानित किया और भारत के सन्देश की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया। पाश्चात्य जगत् में जिस वस्तु का अभाव था, जिसके न रहने से समृद्धिशाली होने पर भी योरप का अन्तः-करण जर्जर हो उठा था, उसी अभाव को दूर करने का उपाय रवीन्द्रनाथ ने बतला दिया। पाश्चात्य जगत् ने रवीन्द्रनाथ के काव्यों में भारतीय आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया। एक ईसाई विद्वान् ने कहा था—आपकी कविता का पाठ कर हम इस संसार को दूसरे ही भाव से देखने लगे हैं, पहले हमने कभी संसार का ऐसा दर्शन नहीं किया था जैसा आज कर रहे हैं। एक दूसरे विद्वान् हालेण्ड साहब ने कहा था—पाश्चात्य देश अभी तक भारतवर्ष की अवज्ञा कर रहा था, यह पुरस्कार उसी पाप का प्रायश्चित्त है। कुछ लोगों का कथन है कि पूर्व और पश्चिम का कभी मिलन नहीं होगा। आपके द्वारा वह मिलन होगया। यह मिलन किसी विशेष सम्प्रदाय के देव-मन्दिर में नहीं हुआ है, यह वहाँ हुआ है जहाँ ज्योतिर्मय परमात्मा का नित्य प्रकाश है। आध्यात्मिक राज्य में पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ है।

रवीन्द्रनाथ की कविताओं पर एक जर्मन विद्वान् की भी सम्मति सुन लीजिए। आपका नाम है कानरेड हौसमैन। आपने एशिया के प्राचीन कवियों की कुछ कविताओं के अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किये हैं। उसमें सिर्फ रवीन्द्रनाथ ही की आधुनिक रचनाओं को स्थान मिला है। उनके विषय में आप लिखते हैं—'रवीन्द्रनाथ को जन्म देकर आधुनिक भारतवर्ष ने एक अद्वितीय कवि उत्पन्न किया है। इसीलिए मैं अपने लेखों के द्वारा जर्मनी को उनसे परिचित कराता हूँ। प्राचीन कवियों की रचनाओं के बाद मैंने इस भारतीय कवि की कुछ कविताओं को स्थान दिया है, क्योंकि उन्होंने अपने कवित्व-सूत्र से अतीत से वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ रक्खा है। ये कवितायें उनके गार्डनर नामक एक काव्य-ग्रन्थ से उद्धृत की गई हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अवस्था इस समय ५९ वर्ष की है। उनके जीवन का विकास गंगा और हिमालय की भूमि में हुआ है। उनका कुल बड़ा प्राचीन है। दसवीं शताब्दी से यह चला आ रहा है। रवीन्द्रनाथ की सरस कविता, उनकी प्रतिभा और विश्वानुभूति इतनी उच्च कोटि की है कि उन्हें नोबेल-पुरस्कार का योग्य अधिकारी समझकर ही हमें सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। उन्हीं के द्वारा हमें जर्मन और भारतीय साहित्यों में अपना सम्बन्ध खोज निकालना चाहिए। जर्मनी में उनकी कविताओं का एक अच्छा संग्रह प्रकाशित होना चाहिए।'

३४—एक नाटक

मुग़लों के शासन-काल में योरप से अनेक यात्री यहाँ आये। वे मुग़ल-सम्राटों का वैभव देख कर चकित हो गये। यहाँ से लौट कर उन्होंने अपने अपने देशों में जाकर भारतीय ऐश्वर्य का वर्णन किया। उस वर्णन से वहाँ के कवियों को भारतवर्ष के विषय में थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य हो गया। अँगरेज़ी के कितने ही कवियों ने अपने काव्यों में भारतवर्ष का उल्लेख किया। परन्तु ड्रायडन ने उसको एक नाटक का रूप दे दिया। उस नाटक का नाम है औरंगज़ेब। यह नाटक सन् १६९५ में लिखा गया और लन्दन के ग्लोब थिएटर में पहले-पहल खेला गया। बर्नियर के भ्रमण-वृत्तान्त के आधार पर इसकी रचना हुई है। नाटक में शाहजहाँ, औरंगज़ेब, मुराद, नूरमहल, आसफ़ख़ाँ आदि ऐतिहासिक व्यक्ति पात्र के रूप में आये हैं। उनके कार्यकलाप में विचित्रता है। इस विचित्रता का कारण है लेखक का भारत-विषयक अज्ञान। नाटक का नायक है औरंगज़ेब और नायिका है इन्दामोरा। नायिका कवि-कल्पित है, इसी से उसका ऐसा विचित्र नाम है। अब नाटक का कथा-भाग सुनिए।

इन्दामोरा कश्मीर की रानी थी। वह बड़ी सुन्दरी थी। बन्दी होकर वह मुग़ल-सम्राट् के कारागार में अपना काल-यापन करती थी। परन्तु उसके रूप पर शाहजहाँ स्वयं मुग्ध हो गये। इधर

मुराद, औरङ्गजेब और अरिमन्त ने भी उसको मन और प्राण अर्पित कर दिये। चारों उसका प्रेम पाने की चेष्टा करने लगे। परन्तु इन्दामोरा के हृदय पर औरङ्गजेब का अधिकार होगया। वही उसका एकमात्र आराध्य देव था। इससे प्रतिद्वन्द्विता कम नहीं हुई। चारों उसे अपने वश में लाने की चेष्टा करने लगे।

अरिमन्त आगरा का शासक था। अतएव उसे भी प्रभुता-शाली व्यक्ति समझना चाहिए। एक बार औरङ्गजेब ने इन्दा-मोरा को सम्राट् की आज्ञा के विरुद्ध कारागार से मुक्त कर लिया। इसपर अरिमन्त और औरङ्गजेब से परस्पर द्वन्द्व युद्ध होने लगा। सम्भव था कि उनमें से किसी एक की मृत्यु हो जाती, पर इन्दामोरा उन दोनों के बीच में आगई। इससे युद्ध रुक गया। इसके बाद अरिमन्त ने एकान्त में इन्दामोरा से भेंट की और उससे प्रेम-सम्भाषण करने लगा। अभाग्यवश शाहजहाँ उधर निकल पड़े और उन्होंने छिपकर अरिमन्त का प्रेम-सम्भाषण सुन लिया। बस क्या था, उनकी देह में आग लग गई, मारे क्रोध के वे बाहर निकले। इन्दामोरा ने अरिमन्त को बचाने के लिए सम्राट् से कहा कि आपकी ही ओर से अरिमन्त मुझको आप-की प्रेम-गाथा सुना रहा था। इससे सम्राट्का क्रोध शान्त हो गया। पर उन्होंने इन्दामोरा के साफ़ कह दिया कि तू औरङ्गजेब से प्रेम मत कर। इसी समय साम्राज्ञी नूरमहल वहाँ आकर उप-स्थित हुई और इन्दामोरा को खींच कर भीतर ले गई। सम्राट्

को उसने खूब खरी-खोटी सुनाई। शाहजहाँ ने क्रुद्ध होकर अपने नौकरों से उसे गिरफ़्तार करने की आज्ञा दी। नूरमहल गिरफ्तार कर ली गई। परन्तु औरंगजेब ने आकर अपनी माता के लिए शाहजहाँ से बड़ा अनुरोध किया। तब नूरमहल को छुटकारा मिला।

शाहजहाँ वृद्ध तो थे ही। वे अपने पुत्रों में से किसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। मुराद और औरंगजेब दोनों राजसिंहासन को हस्तगत करना चाहते थे। इन्दामोरा जानती थी कि यदि सम्राट् ने मुराद को अपना युवराज बनाया तो औरंगजेब के लिए विपत्ति है। एक बार इन्दामोरा मुराद की स्त्री मेलीसाण्डा के पास बैठी बातचीत कर रही थी। वहीं उसको खबर मिली कि सम्राट् ने औरंगजेब का अपमान कर मुराद को अपना उत्तराधिकारी बनाया है। वह बड़ी व्याकुल हुई। इधर शाहजहाँ की इच्छा थी कि किसी प्रकार औरंगजेब को राज्य से बाहर कर दें। तब इन्दामोरा को वश में लाना सहज है। उन्होंने औरंगजेब को बुला कर कहा, "देख! तू इन्दामोरा को छोड़ दे। मैं तुझे ही राजसिंहासन दूँगा।" पर औरंगजेब ने इसे स्वीकार नहीं किया। अब मुराद औरंगजेब की हत्या करने की चेष्टा करने लगा। जब इन्दामोरा को यह बात मालूम हुई तब उसने मुराद से औरंगजेब की प्राण-भिक्षा माँगी। मुराद ने उसके बदले में उसका प्रेम माँगा। इन्दामोरा इसके लिए तैयार हो गई।

तब औरंगज़ेब की प्राणरक्षा हुई। पर औरंगज़ेब को यह सन्देह होने लगा कि इन्दामोरा मुराद को चाहती है।

इधर मुराद ने चढ़ाई कर दी। तब शाहजहाँ और औरंगज़ेब में फिर प्रेमभाव हो गया। इसी समय मुराद ने आकर क़िले पर अधिकार कर लिया। औरंगजेब भाग गया, पर लड़ाई में मुराद आहत हो गया था। नूरमहल औरंगज़ेब से द्वेष रखती थी, इस लिए वह औरंगज़ेब के भाग जाने पर बड़ी क्रुद्ध हुई। इसी बीच में औरंगज़ेब ने युद्ध में मुराद की सेना को पराजित किया और विजेता के रूप में क़िले में प्रवेश किया। तब तक मुराद की मृत्यु हो गई थी। नूरमहल ने भी विष पी लिया। मेलीसग्डा अपने पति मुराद के साथ जलकर मर गई। शाहजहाँ ने इन्दामोरा का विवाह औरंगज़ेब से कर दिया और राज्यभार भी उसे ही सौंप दिया।

३५—सर शापुरजी बरूचा

संसार में लोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए सभी कुछ किया करते हैं। जो कीर्ति-लोलुप होते हैं वे कीर्त्ति की ही इच्छा से पर-सेवा-व्रत धारण करते हैं। कुछ अपने कृत्यों से समाज में गौरवान्वित होने के लिए उद्योग करते हैं। कुछ अपनी क्षमता की वृद्धि के लिए ही प्रयत्न करते हैं। निस्वार्थ-भाव से सेवा करनेवाले कम होते हैं। परन्तु ऐसे ही लोगों से संसार का यथार्थ में कल्याण होता है। अपने जीवन-काल में वे जो कुछ करते हैं

उससे तो संसार का कल्याण-साधन होता ही है; अपनी मृत्यु के बाद भी वे एक ऐसा अक्षय आदर्श छोड़ जाते हैं जिसका अनुकरण करके अन्य लोग भी पर-सेवा में निरत होते हैं। खेद है, अभी हाल में एक ऐसे ही सज्जन का देहावसान हो गया। उनका नाम था सर शापुरजी बरूचा।

सर शापुरजी भारतवर्ष के प्रसिद्ध व्यवसायी थे। उन्होंने धन और यश दोनों अर्जित किये, पर रहे वे सर्वदा निस्पृह। देखा गया है कि जो लोग अपनी शक्ति से संसार में उच्चस्थान प्राप्त करते हैं उन्हें इसका गर्व होता है। पर सर शापुरजी को अभिमान जरा भी नहीं छू गया था। आरम्भ में उनकी अवस्था हीन थी। उन्हें विपत्ति भी खूब सहनी पड़ी। पर वे अपनी इस अवस्था से खिन्न कभी नहीं हुए। इसी से हम उनके हृदय की उच्चता का अनुमान कर सकते हैं।

सर शापुरजी का जन्म भड़ोच में सन् १८४६ में हुआ था। वहीं उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा भी मिली। उनके पिता वहीं व्यवसाय करते थे। जब शापुरजी ६ वर्ष के थे तभी उनके पिता की मृत्यु हो गई। इसके चार ही दिन बाद शापुरजी के भाई भी चल बसे। तब इनके लिए कोई भी अवलम्ब न रहा। इनकी विधवा माता पर ही सब भार पड़ा। कुछ लोगों ने सहायता करनी चाही, पर माता ने किसी की भी सहायता स्वीकार न की। उसने घर का कुल सामान बेच दिया और

अपने तीन बच्चों को लेकर वह बम्बई चली गई। उसने दूसरों के घर काम-काज करके अपने बच्चों का पालन-पोषण किया और उन्हें शिक्षा भी दी। यह समय उस साध्वी ने जिस तरह व्यतीत किया, इसका वर्णन शापुरजी ने स्वयं किया है।

"किसी ने गुजराती में मेरा जीवन-चरित लिखते हुए कहा है कि मैं सड़क के लेम्पों के नीचे बैठ कर बड़ी रात तक पढ़ा करता था, परन्तु पढ़ने का ऐसा सौभाग्य कभी नहीं प्राप्त हुआ। उस समय तो हम लोगों को अपने पेट की ही चिन्ता थी। मैं अपनी दो बहनों के साथ रात को बड़ी देर तक कपड़ा सिया करता था, जिससे सुबह तक कपड़े तैयार हो जायँ। स्कूल में ही मुझे पढ़ने का समय मिलता था। जब मैं १७ वर्ष का हुआ। तब मैंने माँ के रहने लायक़ घर बना लिया। १० साल तक उसने हम लोगों के लिए कितना कष्ट सहा, इसका ख़याल करके मैं कितने ही बार अकेले में रोया हूँ। उसकी मृत्यु के बाद उसके सन्दूक़ में मेरे मृत भाई के कपड़े, बड़ी सावधानी से तह किये हुए, मिले। मेरा जीवन ही ऐसा व्यतीत हुआ है कि मैं दूसरों की विपत्ति का अच्छी तरह अनुभव कर सकता हूँ।"

कुछ समय के बाद शापुरजी को एशियाटिक बैंकिंग कारपोरेशन में एक जगह मिल गई। उस समय बम्बई के नामी धनिक प्रेमचन्द रायचन्द का बड़ा भारी प्रभाव था। सौभाग्य से शापुरजी पर उनकी कृपादृष्टि हो गई। तब से शापुरजी की

उन्नति होने लगी। फिर तो वे ऐसे बढ़े कि प्रेमचन्द रायचन्द के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हो गये। उन्होंने तिलोकचन्द के साझे में व्यवसाय किया और थोड़े ही समय में उनकी अच्छी प्रसिद्धि हो गई। प्रेमचन्द के बाद बम्बई के दलालों के वही नेता हुए। पर सिर्फ दलाली के काम में उनका जीवन व्यतीत नहीं हुआ। उन्होंने रुई के व्यवसाय में भी अच्छी उन्नति की। उनके उद्योग से कितने ही पुतली-घर चल निकले। प्रसिद्ध व्यवसायी ताता को भी उनकी सहकारिता से कई कामों में अच्छी सफलता हुई।

शापुरजी की उदारता तो विख्यात है ही। उन्होंने कितने ही विपद्ग्रस्तों का उद्धार किया और कितने ही निस्सहायों को आश्रय प्रदान किया। शापुरजी को आडम्बर जरा भी पसन्द न था। वे अपनी प्रसिद्धि न चाहते थे। न जाने उन्होंने कितने लोगों की सहायता गुप्त रीति से की है।

अङ्गरेजी में एक कहावत है—कीर्ति छाया के समान है। जो उसे पकड़ना चाहते हैं उनसे तो वह दूर भागती है, पर जो उसकी ओर देखते तक नहीं उनके पीछे लगी रहती है। शापुरजी ने कभी कीर्ति की इच्छा से काम नहीं किया, पर कीर्ति ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा।

३६—कुटी का मूल्य

१

रानी ने अपनी सखियों से कहा—चलो, आज गंगा नहाने चलें।

प्रातः काल हो गया था। खूब ठंड पड़ रही थी। सब लोग अपने अपने घरों में रजाई ओढ़े पड़े हुए थे। रानी अपनी सखियों के साथ गंगा तट पर आई।

नहा लेने पर रानी की दृष्टि पास की ही एक झोपड़ी पर पड़ी। वह बिलकुल टूटी-फूटी थी। रानी ने भीतर झाँक कर देखा। वहाँ कोई नहीं था। पर मिट्टी का एक घड़ा और एक फटा हुआ कम्बल देखकर रानी ने जान लिया कि वहाँ कोई ग़रीब रहता है।

इतने में सब सखियाँ आ गईं। एक ने कहा बड़ी सर्दी है। रानी ने कहा—एक तमाशा करो। आओ इस झोपड़ी को जलाकर तापें। रानी की यह बात सुनकर एक सखी ने कहा—नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिए। न जाने किस ग़रीब की कुटी है। इसे जला देने से उसका बड़ा नुक़सान होगा।

रानी ने कहा—एक झोपड़ी का क्या मूल्य? दस-पाँच रूपये में तैयार हो जायगी। क्या मैं इतना भी नहीं दे सकती?

सखी चुप हो गई। रानी की आज्ञा से झोपड़ी में आग लगा दी गई। घड़ी भर में वह जल कर राख हो गई।

२

झोपड़ी में रहनेवाला वह ग़रीब आदमी राजा के पास पहुँचा। राजा ने सब बातें ध्यान से सुनीं। फिर वे भीतर

आये। रानी बैठी हुई शृंगार कर रही थी। राजा को देख कर उठ खड़ी हुई।

राजा ने पूछा—रानी, तुमने आज एक ग़रीब की झोपड़ी जला दी है। वह आया है।

रानी—ऊँह, एक झोपड़ी के लिए इतना गड़बड़। मैं बनवा दूँगी।

राजा—रानी, तुम्हें कुछ समझ नहीं है। तुम्हें झोपड़ी का मूल्य नहीं मालूम है। अच्छा, तुमने कहा है कि तुम उसकी झोपड़ी बनवा दोगी। वही करो। जब तक तुम अपनी शक्ति से उसकी झोपड़ी नहीं बनवा दोगी तब तक तुम मेरी रानी नहीं। रानी राज-महल से बाहर कर दी गई।

२

साल भर तक रानी ने परिश्रम किया। पास ही जंगल से जाकर लकड़ी लाती, उन्हें बेच कर पहले अपने पेट की चिन्ता करती, फिर कुटी बनाने की। इस तरह साल भर में कुटी बनकर तैयार हुई। तब राजा उसे फिर राजमहल में ले आये। रानी भी झोपड़ी का मूल्य जान गई। उस दिन से वह दरिद्रों पर बड़ी दया करने लगी।

३७—शीत-बिन्दु

भाई हम क्षुद्र जल-कण हैं। हमारा जीवन अश्रुमय है। ग्रीष्म की ज्वाला से उत्तप्त पृथ्वी के हृदय से निश्वास उद्गत

हुआ था, उसीसे हमारा जन्म हुआ है। सुख की आशा से हम यहाँ नहीं लौटे हैं। अन्धकार में जब कोई हमारी ओर दृष्टिपात नहीं करता तब हम एक बार पृथ्वी पर आते हैं। जबतक सूर्योदय नहीं होता तभी तक हमारा जीवन है। उसके बाद जहाँ से हमारा उद्‌भव हुआ है उसीमें हम लीन हो जाते हैं। बतलाओ किस आशा से मुग्ध होकर हम यहाँ आये थे। जब से हम जीवित रहे तब से अज्ञात रहे। हमारा जीवन इतना क्षणिक है कि मृत्यु के लिए ही हमारा जन्म होता है। मरने में क्या सुख है, जानते हो?

तुम हमारे सुख को क्या समझोगे? तुम आते हो और हँसते हँसते चले जाते हो। संसार पर तुम्हारा अधिकार है। तुम्हारी गति स्वच्छंद है। कोई तुम्हें बाधा नहीं दे सकता। हम तो जड़ हैं, जबतक हैं तभीतक हैं। पर तुम्हारे लिए यह विश्व है। हमारे निस्सार जीवन को तुम नहीं समझ सकते।

परन्तु यदि तुम हमारी ओर कभी दृष्टि-पात करते तो तुम देखते कि क्षुद्र होने पर भी हमारा जीवन निर्मल है। हम भी अपने हृदय में अनन्त स्वर्ग की आभा रखते हैं। हम भी ज्योतिर्मय की ज्योति से उद्‌भासित रहते हैं। हम भी घड़ी भर फूलों के हृदय को शीतल कर जाते हैं। पर तुम तो जगत् के अनन्त उपकार करनेवाले हो। तुम्हारे लिए तो हमारी गर्व की ये बातें उपहासास्पद हैं।

भाई, तुम विशाल हो। तुम जहाँ जाते हो वहाँ सुख और समृद्धि फैलाते हो, तुम्हारा आश्रय पाकर कितने ही पशुपक्षी और पेड़ शीतल रहते हैं, पृथ्वी शस्यश्यामला रहती है। अनन्त से तुम्हारा सदा संयोग रहता है। जलधाराओं से तुम उसे सदा तृप्त करते रहते हो। तुम्हारा ऐश्वर्य अक्षय है। तुम्हारा भांडार अनन्त है। सदैव देते रहने पर भी तुम्हारा भांडार रिक्त नहीं होता। तुम्हें जरा और मृत्यु का भय नहीं। तुम भला प्रतिक्षण मरने और जीनेवाले की बात कैसे समझोगे ?

पर एक बात हम कहते हैं। तुम तो प्रतिदिन सिन्धु में अनन्त धारापात करते रहते हो। हम यदि सिन्धु में गिरते हैं तो हमारा अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। हम अपना अस्तित्व तक उसे दे डालते हैं, पर उसे इसका ज्ञान नहीं होता। तुम्हें तो वर्षा के रूप में वह प्रतिदान भी करता है, सदैव पुष्ट ही करता रहता है। क्या हमारा भी कोई प्रतिदान कर सकता है ? हम तो गिरते रहते हैं और मरते हैं।

हमें मरने में अवश्य सुख है। दीपक को मृत्यु से सुख होता है, क्योंकि जलकर ही वह प्रकाश देता है। धूप की सार्थकता भी मृत्यु में है, क्योंकि तभी वह सुगन्धि देती है। परन्तु हम मृत्यु में मृत्यु ही का सुख पाते हैं। तुम जीवन से जीवन का सुख पाते हो तो हम मृत्यु से मृत्यु का सुख क्यों न पावें ? मृत्यु के स्पर्श

से हम अपना नाम और रूप छोड़कर उसी में तन्मय हो जाते हैं। यही हमारा सुख है।

अच्छा तुम जाओ। हँसते, थिरकते तुम आगे बढ़ते जाओ। काल की अविराम गति के समान तुम्हारी गति का कोई अव-रोधक नहीं है। और हम अपने क्षुद्रहृदय में उस अनन्त का रूप धारण कर मृत्यु का रसास्वादन करें।

२८—कृषि

अपने जीवन-निर्वाह के लिए सभी मनुष्यों को अन्न और वस्त्र की आवश्यकता होती है और ये कृषि से ही प्राप्त हो सकते हैं। इसी से प्राचीन काल से आज तक कृषि ही मनुष्य की जीविका का प्रधान अवलम्ब है। सच पूछिए तो कृषि से ही सभ्यता का सूत्रपात हुआ है। जिन जिन देशों में कृषि के लिए यथेष्ठ सुविधायें थीं वहीं सभ्यता का उदय हुआ। आज-कल कृषि की ओर लोगों का चाव नहीं है और न कृषकों की ओर आदर-भाव है। परन्तु सच पूछिए तो कृषि से बढ़ कर कोई व्यवसाय नहीं और कृषकों से बढ़ कर सरल जीवन किसी का नहीं होता है।

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। यहाँ अधिकांश किसान हैं। परन्तु उनकी दुरवस्था है। दुरवस्था का कारण यह है कि अभी भारतवर्ष में कृषि की उन्नति में बड़ी बड़ी बाधायें हैं। सबसे बड़ी

बाधा है लोगों की अज्ञानता। कृषि की उन्नति के लिए जो नये नये यंत्र तैयार किये जाते हैं उनका व्यवहार वे लोग अपनी अज्ञानता के कारण नहीं कर सकते। कभी इँगलैंड का भी यही हाल था। अठारहवीं सदी के अन्ततक वहाँ गावों की बड़ी दुर्दशा थी। निकम्मे जानवर, बुरी फ़सल और दरिद्र किसान—यही वहाँ देखे जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ उन्नति के लिए बहुत चेष्टा की गई थी। कुछ सुधार भी हुए थे। पर लोगों का विशेष ध्यान इधर आकृष्ट नहीं हुआ था। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में नेपोलियन के युद्ध की समाप्ति होने पर व्यवसाय की बड़ी उन्नति हुई। परिणाम इसका यह हुआ कि खेती की उपजों का मूल्य ख़ूब बढ़ गया और मज़दूरी का निर्ख़ भी बढ़ा। मज़दूर मिलते भी कम थे। तब इसकी चिन्ता हुई कि थोड़ी मेहनत से अधिक काम किस तरह हो। तब तो तरह तरह के यंत्र आविष्कृत हुए। उस समय तक कृषि-विज्ञान का प्रचार नहीं हुआ था। लार्ड टाउनसेंट, आर्थर यंग, बैकवेल आदि लोगों ने वैज्ञानिक विद्वान् न होकर भी बड़े उत्साह से कृषि की उन्नति के लिए उद्योग किये। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में कृषि की उन्नति में विज्ञान का प्रयोग हुआ। उससे बड़ा लाभ हुआ। मवेशियों की उन्नति के विषय में भी ख़ूब ध्यान दिया जाने लगा। इस काम में तो ग्रेटब्रिटन संसार के लिए आदर्श हो गया। ज़मीन में पानी देने और खाद डालने की अच्छी रीति निकाली गई। लावस और गिलबर्ट आदि वैज्ञानिकों

ने कृषि-सुधार में अच्छा नाम कमाया। १९१४ से कृषि पर और भी अधिक ध्यान दिया गया। इसके पहले कृषि-विज्ञान की इतनी उपयोगिता कभी प्रमाणित नहीं हुई थी। राजनीति-विशारदों ने भी कृषि का महत्त्व स्वीकार किया। यह तो इङ्गलैण्ड का हाल हुआ। डेनमार्क ने १८६२ में जर्मनी-द्वारा पराजित होने पर कृषि की उन्नति की ओर ध्यान दिया। ५० ही साल में उसने अच्छी तरक्की की। महायुद्ध के आरंभ होने के ४० साल पहले जर्मनी ने कृषि के सुधार के लिए अच्छी आयोजना कर ली थी। भारतवर्ष में एक तो किसान निरक्षर और दरिद्र हैं, फिर महँगी और अकाल के कारण वे दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं। मजदूर भी अब कम मिलते हैं। इसलिए अब यह आवश्यक है कि खेती का वह ढंग हो जिससे खर्च कम और लाभ अधिक हो। अब तो वैज्ञानिक यंत्रों का उपयोग करना नितान्त ही आवश्यक है।

इसका एक और भी कारण है। वह है पशुओं की कमी। भारतवर्ष में कृषि के उपयुक्त पशु, गाय, बैल और भैंसे हैं। १९१३-१४ में ब्रिटिश भारत में बैलों की संख्या ४,८०,००००० थी। इनमें भी ३,२०,००००० पशु निकम्मे थे। कृषि के काममें लाने योग्य पशुओं की संख्या सिर्फ १,१,६,००००० थी। भारतवर्ष में प्रति वर्ष कोई ५०,००००००० बीघे जमीन जोती जाती है। इतनी जमीन के लिए इतने पशु पर्याप्त नहीं। तीन-चार बीघे जमीन के लिए दो बैल दरकार होते हैं। एक महाशय ने इन्हीं सब

बातों पर विचार करके कृषि की उन्नति के लिए निम्नलिखित उपायों को आवश्यक बतलाया है—

(१) कृषि-विभाग की एक ऐसी शाखा होनी चाहिए जो पशुओं की ही उन्नति पर ध्यान दे।

(२) सरकार चरागाहों और आबपाशी का अच्छा प्रबन्ध कर दे।

(३) पशु-वध रोक दिया जाय।

(४) कृषि-विज्ञान और पशु-पालन-विषयक छोटे छोटे ग्रन्थ किसानों में बाँटे जायँ।

(५) मुफ्त शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाय।

(६) पशुओं के लिए अधिक अस्पताल खोले जायँ।

३९—फ्रांस में किसानों और मज़दूरों की सहयोगिता

वर्तमान युग को वैज्ञानिक युग कहना चाहिए। सभी देशों में विज्ञान की उन्नति हो रही है। विज्ञान की वृद्धि से व्यवसाय की समृद्धि बढ़ रही है। जो देश विज्ञान में पिछड़ा हुआ है वह व्यवसाय में आगे नहीं बढ़ सकता। यही कारण है कि वैज्ञानिक शिक्षा पर सभी लोग इतना ज़ोर दे रहे हैं। पर इसका परिणाम बड़ा बुरा हो रहा है। व्यवसाय की उन्नति से गाँव उजड़ते जा रहे हैं। लोग अब शहरों में रहना अधिक पसन्द करते हैं। आज-कल यंत्रों का उपयोग इतना बढ़ गया है कि

हाथ की कारीगरी नष्ट हो रही है। गाँव में जो लोग अपने हाथ से कपड़े तैयार करते थे उनका तो अब वह रोजगार ही चला गया। दरिद्र किसान अब खेती करना पसन्द नहीं करते। शहरों में मजदूरी से उनका जीवन-निर्वाह अधिक सुगमता से हो सकता है। इसीलिए दुर्भिक्ष पड़ने पर अथवा और किसी प्रकार का संकट आने पर वे गाँव छोड़कर शहर का ही आश्रय लेते हैं। यह लक्षण अच्छा नहीं। जो जमींदार या ताल्लुके-दार हों उन्हें चाहिए कि वे किसानों को आश्रय देकर गाँवों में रक्खें। सभी सभ्य देशों में आज-कल कृषि की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, क्योंकि कृषि ही देश के जीवन का अधार है। फ़्रांस में धनी जमींदार अपने मजदूरों के लिए अच्छे ढंग से काम कर रहे हैं। भारतवर्ष के लिए यह ढङ्ग नया नहीं, परन्तु यदि इसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय तो सचमुच बड़ा लाभ हो। वह ढङ्ग यह है—

फ़्रांस में जमीन काफ़ी है। जिनके पास ६०० एकड़ जमीन है वे बड़े जमींदार कहाते हैं। उनके लिए खेती करने के तीन उपाय हैं। या तो वे ख़ुद खेती करें या दूसरे किसान को लगान पर जमीन दें अथवा दूसरों को हिस्सेदार बनाकर खेती करें। अन्तिम उपाय को जमींदारों और मजदूरों की सहयोगिता कहते हैं। इसमें उपज के दो हिस्से होते हैं। एक जमींदार का, दूसरा मजदूरों का। मजदूर जितना धन

खेती में लगाते हैं उतना ही हिस्सा लेने का उन्हें हक़ रहता है। कृषि के उपयोगी पशु ख़रीदना और बेचना, बीज पसन्द करना, खाद डालना, फ़सल काटना, ये सब काम खेत के मालिक की अनुमति से होते हैं। इससे मजदूरों को यह लाभ है कि उन्हें किसी प्रकार भय नहीं रहता। उपज कम होने पर उन्हें सारी हानि उठानी पड़ती। इसके सिवा वे मजदूर बनकर काम नहीं करते, हिस्सेदार हो जाते हैं। इससे वे खूब मन लगाकर काम करते हैं। यह प्रथा फ्रांस में प्राचीन काल से प्रचलित है।

४०—भारतवर्ष का गोधन

धार्मिक हिन्दुओं की दृष्टि में गाय माता के समान पूज्य है। वे उसकी रक्षा करना अपना धर्म समझते हैं। अन्य देशवासियों की दृष्टि में गायों का कुछ भी धार्मिक महत्त्व नहीं। तो भी वे लोग अपने अपने देशों में गायों की रक्षा और वृद्धि के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। भारतवर्ष का यह अभाग्य है जो वह अपने गोधन की रक्षा करने के बदले उसे दूसरे देशों को अर्पण कर रहा है। एक बार बम्बई की लेजिस्लेटिव कौन्सिल में इसी विषय पर प्रश्न किया गया था। उस पर गवर्नमेंट ने स्वीकार किया था कि ब्रेज़िल के कुछ लोग गुजरात में मवेशी ख़रीदकर अपने देश को भेज रहे हैं। इसके बाद एक प्रेस-नोट निकला। उससे मालूम हुआ कि उसी के पहले साल ११७८ मवेशी

ब्रेज़िल को, ११० बेलजियम को, १०० फ्रांस को, १५५ जंजीबार को भेजे गये थे। यह तो एक साल के मवेशियों का हाल है। यदि सोलह-सत्रह साल का हिसाब लगाया जाय तो इनकी संख्या लाखों तक पहुँचेगी। भारतवर्ष में गोधन का इतना आधिक्य नहीं है कि वह दूसरे देशों को कुछ दे सके। सच पूछो तो इस विषय में वह अन्य कई देशों से हीन है। "दी वर्ल्ड ऐण्ड दी न्यू डिस्पेंसेशन" नामक पत्र में एक सूची निकली है। उससे मालूम होता है कि अर्जेन्टाइन में प्रति २ मनुष्य पीछे ७ गायें हैं, यूनाइटेड स्टेट्स में प्रति तीन मनुष्यों के पीछे दो गायें, विलायत में प्रति ४ मनुष्यों के पीछे १ गाय, जर्मनी और फ्रांस में प्रति ३ मनुष्यों के पीछे १ गाय और रूस और भारतवर्ष में प्रति ४ मनुष्यों के पीछे १ गाय है।

४१—जापान में कृषि-शिक्षा

जापान ने थोड़े ही समय में आश्चर्यजनक उन्नति करके संसार को बतला दिया है कि यदि मनुष्य सचमुच अपनी उन्नति का इच्छुक है तो उसके लिए कुछ भी कर डालना असंभव नहीं। जापान का व्यवसाय ख़ूब बढ़ा हुआ है। इसका मतलब यह नहीं कि वह कृषि की उन्नति से उदासीन है। उसने कृषि-विभाग में भी पूर्ण उन्नति की है। जापानियों का आदर्श ही पूर्णता है। जो सुधार वे करते हैं उसमें फिर अपूर्णता नहीं रहती। कृषि-

शिक्षा और अनुसन्धान के लिए जापान की गवर्नमेंट ने जिन जिन उपायों का अवलम्बन किया उन सभी में उसे सफलता हुई, क्योंकि प्रजा से उसे पूरी सहायता मिली। राजा और प्रजा के एकमत होने से बड़े लाभ हैं। वहाँ कृषि-शिक्षा के लिए प्रति-वर्ष कोई एक करोड़ रुपये खर्च किये जाते हैं। प्रारंभिक पाठ-शालाओं के ऊँचे दर्जों में कृषि-शिक्षा का आरंभ होता है। अधि-कांश स्कूलों में कृषिशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा दी जाती है। जापान के सभी अध्यापकों को नार्मल स्कूलों में ये विषय पढ़ने पड़ते हैं। इन्हीं प्रारंभिक पाठशालाओं से लगे हुए कुछ और स्कूल हैं, जहाँ कृषि की विशेष शिक्षा दी जाती है। ऐसे स्कूलों की संख्या लगभग सात हजार है। ये स्कूल सन्ध्या-समय खुलते हैं। कुछ स्कूल जाड़े के दिनों में कुछ समय के लिए शिक्षा देते हैं। सभी स्कूलों में लड़कों की अच्छी हाजिरी रहती है। इनके सिवा ११८ कृषि-विद्यालय हैं। ये दो श्रेणियों में विभक्त हैं। निम्न श्रेणी के स्कूलों में १२ साल तक के लड़के लिये जाते हैं। पढ़ाई तीन साल की होती है। उच्च श्रेणी में १४ वर्ष के लड़के भरती होते हैं। वहाँ तीन-चार साल तक पढ़ाई होती है। इसके बाद यदि लड़का किसी एक विषय में विशेष दक्षता प्राप्त करना चाहे तो उसे दो साल तक और पढ़ना पड़ता है। सभी स्कूलों के साथ सरकारी खेत रहते हैं, जहाँ लड़के अपने ज्ञान को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इन खेतों से सर्वसाधारण को भी कृषि-विषय का

ज्ञान प्राप्त करने का सुभीता रहता है। इन स्कूलों के अध्यापक जगह जगह जाकर किसानों को कृषि-सम्बन्धी बातें समझाया करते हैं। जो लड़के वहाँ से शिक्षा पाकर निकलते हैं वे अपने खेतों पर काम करते हैं या किसी स्कूल में शिक्षक हो जाते हैं। इन स्कूलों के सिवा टोकियो, सापोरो और गोरिओका में कृषि-महाविद्यालय हैं। वहाँ बड़ी बड़ी प्रयोगशालाएँ हैं। उनमें कृषि-विज्ञान-विषयक अनुसन्धान होते रहते हैं। लगभग तीन सौ आदमी तो इसी लिए नियुक्त हैं कि वे जगह जगह जाकर कृषि-शास्त्र पर व्याख्यान दिया करें।

४२—एक साहित्य-सेवी के कुछ पत्र

सख्य,

विचार-शील विद्वानों की यह राय है कि मातृ-भाषा के द्वारा शिक्षा देने से देश में विद्या की प्रचार-वृद्धि होगी। जब तक विद्यालयों में किसी भाषा का पूर्ण प्रवेश न हो जाय, जब तक शिक्षणीय विषय उसी भाषा में न सिखाये जाँयगे, तब तक उस भाषा की यथार्थ प्रतिष्ठा होने की नहीं। यदि भारतवर्ष का अधिकांश शिक्षितवर्ग अपनी मातृभाषा की अपेक्षा करता है तो उसका कारण यही है। जाति में राष्ट्रीय भावों को जागृत करने के लिए राष्ट्रीय साहित्य की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए और जब तक यह शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा नहीं दी जाती, तब तक शिक्षा में राष्ट्रीयता का अभाव रहेगा। समय समय पर बड़े

बड़े पदाधिकारियों ने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से असन्तोष प्रकट किया। देश के सर्वमान्य नेताओं ने भी उसके विरुद्ध आन्दोलन किया। गवर्नमेन्ट ने भी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में संशोधन करने की आवश्यकता समझी। एक कमीशन बैठाया गया। उसने अपना मन्तव्य बड़ी बड़ी जिल्दों में प्रकाशित किया। नये नये विद्यालयों की सृष्टि होने लगी। पुराने विश्वविद्यालयों में भी परिवर्तन किये जाने लगे। परन्तु अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ है कि मातृभाषा ही के द्वारा उच्च शिक्षा दी जाय। एक विद्वान् की यह राय है कि भारतवर्ष में देशी भाषाओं के द्वारा तभी शिक्षा दी जासकती जब उनमें ये तीन बातें हों। पहली बात यह है कि भाषा का रूप स्थिर हो, उसका व्याकरण सर्वमान्य हो। दूसरी बात यह है कि उसमें शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों की अच्छी संख्या हो और इन पुस्तकों की भाषा भी परिमार्जित हो। तीसरी बात यह है कि भाषा के रूप को स्थिर करने के लिए और पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए ऐसे विद्वान् कटिबद्ध हों जो प्राचीन साहित्य का पूर्ण ज्ञान रखते हों। हिन्दी में इन बातों के लिए अच्छी चेष्टा की जा रही है। भाषा को स्थिर रूप देने के लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में जो प्रस्ताव पास किया गया था उसको कार्य रूप में परिणत करने के लिए स्थायी समिति ने चेष्टा की थी। उसका परिणाम क्या हुआ यह तो हम नहीं कह सकते, परन्तु

हमें विश्वास है कि अब थोड़े ही दिनों में हिन्दी में सर्वमान्य नियमों का प्रचार हो जावेगा। पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव शीघ्र पूर्ण नहीं हो सकता। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की उच्च परीक्षाओं में अँग्रेजी-भाषा ही की पुस्तकें रक्खी गई हैं। इन ग्रन्थों का अनुवाद करना बहुत आवश्यक है। यदि हम चाहते हैं कि हिन्दी-भाषा ऐसी समुन्नत हो जाय कि उसके द्वारा उच्च शिक्षा दी जाने लगे तो हमें विज्ञान, दर्शनशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, इतिहास आदि विषयों की श्रेष्ठ पुस्तकें तैयार करनी होंगी। इस काम के लिए उपयुक्त विद्वानों और प्रकाशकों की आवश्यकता है। आज-कल हिन्दी में कई पुस्तक-मालायें निकल रही हैं, परन्तु इनमें स्थायी साहित्य की ओर दृष्टि न डाल कर लोक-रुचि ही का अधिक ख्याल रक्खा जाता है। अभी तक हिन्दी में सैकड़ों नये नये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु उनमें दो ही चार शायद ऐसे हों जिन्हें हम पाठ्य-पुस्तकों में रख सकें। जो पुस्तक-प्रकाशक व्यवसाय की दृष्टि से पुस्तक-प्रकाशन का कार्य कर रहे हैं उनसे हमें कुछ नहीं कहना है। वे तो ऐसी ही किताबें निकालेंगे जिनसे टके वसूल हो सकें। परन्तु जिन लोगों ने देश-सेवा के उच्च भावों से प्रेरित होकर पुस्तक-प्रकाशन का काम स्वीकार किया है उन्हें तो इसका पूरा ख्याल रखना चाहिए कि वे कैसी पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं। सबसे पहले उन्हें यही देख लेना चाहिए कि जिस विषय पर वे ग्रन्थ

विद्वानों से लिखा रहे हैं वह कैसा विषय है और उसका लेखक उस विषय का कितना अच्छा ज्ञान रखता है। यदि विषय महत्त्व-पूर्ण हो और लेखक विद्वान् है तो इसका पूरा प्रबन्ध किया जाना चाहिए कि लेखक अपने ग्रन्थ में अपनी विद्वत्ता का पूरा उपयोग कर सके। दस अनुपयोगी अथवा कम महत्त्व के ग्रन्थ प्रकाशित करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि किसी विषय का एक अच्छा ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय। हमें आशा है कि हिन्दी के पुस्तक-प्रकाशक इस ओर ध्यान देंगे, जिससे थोड़े ही समय में हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव दूर हो जाय। तभी यह संभव है कि विश्वविद्यालयों में हिन्दी-भाषा का प्रवेश शीघ्रता से हो सकेगा।

२

सत्य,

हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिए अनावश्यक बातों तक की बड़ी चर्चा की जाती है, परन्तु कभी कभी उन्नति के लिए सच-मुच चेष्टा भी की जाती है। साहित्य-सम्मेलन के गत अधिवेशन में यह निश्चित किया गया है कि दो लाख रुपया एकत्र कर प्रयाग में एक हिन्दी-मन्दिर बनाया जाय जिसमें प्राचीन पुस्तकों और शिला-लेखों आदि का संग्रह किया जाय। ऐसे संग्रहालय से सिर्फ़ कौतूहल की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु उसमें ज्ञान की वृद्धि के लिए यथेष्ट साधन होना चाहिए, सभी तरह की पुरानी किताबों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संग्रह करना

अधिक अच्छा होगा। जिन वस्तुओं का ऐतिहासिक महत्त्व है उनका ही संग्रह करना लाभदायक है। साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि विषयों के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ चाहे वे जिस भाषा में हों, हमारे लिए हितकर हैं। अपनी ही वस्तु होने के कारण सड़ी-गली निकम्मी चीजों का संग्रह करना लाभदायक नहीं है। हिन्दी में अभी तक इतिहास की कोई मौलिक रचना प्रकाशित नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक गवेषणा के प्रति हिन्दी के विद्वानों की प्रवृत्ति कम है और फिर उसके लिए साधन भी कम हैं। यदि साहित्य-सम्मेलन के समान संस्थायें हिन्दी के विद्वानों में यह भाव उत्पन्न कर सकें जिससे वे साहित्य-शास्त्र की गाँठें सुलझाने के सिवा हिन्दी-साहित्य की ऐतिहासिक आलोचना में भी प्रवृत्त हो जाँय तो उससे कम लाभ नहीं होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसी संस्थायें इतिहास के भिन्न भिन्न विषयों की श्रेष्ठ पुस्तकों की सूची प्रकाशित किया करें और उन पुस्तकों का संग्रह करने के लिए भी प्रयत्न करें। उनमें से जिन ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया जाना आवश्यक है उनके अनुवाद भी कराये जाँय। इससे हमारे ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होगा, नवीन भावों का प्रचार होगा और तभी मौलिक साहित्य की सृष्टि होगी।

आजकल अनुवादों के प्रति लोगों का आदर कम हो गया है। इसका फल यह हुआ है कि कुछ लोग अनुवाद को अनुवाद

कहने का भी साहस नहीं कर सकते। इससे केवल मिथ्या का प्रचार हो रहा है। हिन्दी-साहित्य में आजकल जो मिथ्याभिमान फैल रहा है वह हमारे लिए बड़ा अनिष्ट कर है। दूसरों से ज्ञान प्राप्त करने में हमें लज्जा नहीं करनी चाहिए। यदि सत्य के प्रति हमारे हृदय में अनुराग है तो हम सत्य के ग्रहण करने में कभी सङ्कोच नहीं करेंगे। हिन्दी के एक विद्वान् ने किसी पत्र में खेद प्रकट किया है कि आजकल हिन्दी-समालोचना में विदेशी तराजू का उपयोग किया जारहा है। कहने में तो यह अच्छा लगता है, पर है यह मिथ्या। यदि सोना सच्चा हो तो उसके लिए कोई कहीं से भी तराजू ले आवे, हमें डर नहीं है। फिर ज्ञान का विषय किसी देश-विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता। तब ज्ञान के अन्वेषण में स्वदेशी और विदेशी का झगड़ा क्यों हो? हमें ऐसा जान पड़ता है कि हममें अभी सत्य की प्राप्ति के लिए कम उत्कण्ठा है, अभी हममें नैतिक बल का अभाव है। हिन्दी की उन्नति का सबसे बड़ा साधक हमारी समझ में मिथ्या गर्व का भाव है, जिसके कारण हम अपनी यथार्थ स्थिति को नहीं देख सकते। हम लोग अभी जिस गौरव का स्वप्न देख रहे हैं उसकी प्राप्ति के लिए न तो हम परिश्रम कर रहे हैं और न कोई उपाय सोच रहे हैं। केवल अपने मिथ्या गर्व को पुष्ट करने के लिए तरह तरह की चिन्तायें की जा रही हैं।

× × ×

३

सत्य,

हिन्दी-साहित्य में मौलिक ग्रन्थों और लेखों की बड़ी माँग है। कम से कम अनुवादों के प्रति लोगों की कुछ विरक्ति सी हो गई है। मौलिक साहित्यसे जाति की कर्तृत्व-शक्ति प्रकट होती है। हम संसार से लेते हैं तो हमें भी उसे कुछ देना चाहिए, यह इच्छा स्वाभाविक है। हिन्दी-साहित्य में प्राचीन कवियों के ऐसे ग्रन्थ विद्यमान हैं जिन्हें वह सगर्व संसार को दे सकता है। आधुनिक साहित्य में अभी ऐसे ग्रन्थों का अभाव है। इस अभाव का कारण है कर्तव्य-शक्ति का अभाव। इस शक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने साहित्य में यथेष्ट ज्ञानसम्पत्ति सञ्चित करें। जो वृक्ष पृथ्वी से रस ग्रहण करता है वही समय आने पर यथेष्ट फल देता है। कोई वृक्ष अपने आप ही रस नहीं प्राप्त करता। हिन्दी में इतिहास, विज्ञान, राजनीति, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र आदि आवश्यक विषयों की अभी यथेष्ट प्रारम्भिक पुस्तकें नहीं बनी हैं। अतएव इन विषयों में अभी मौलिक ग्रन्थों की आशा रखना दुराशा-मात्र है। जब विद्वान् किसी विषय का यथेष्ट अध्ययन कर लेता है तब वह दूसरों को शिक्षा देने में समर्थ होता है। परन्तु हिन्दी में साहित्य के कितने ही ऐसे ठेकेदार हैं जिन्हों ने समस्त ज्ञान का ठेका ले लिया है। वे राजनीति, दर्शन, वैद्यक, नाटक, कविता सभी लिख

सकते हैं। हिन्दी में सबसे अधिक आवश्यक है ज्ञान का प्रचार और सुरुचि की वृद्धि करना। हमारा विश्वास है कि मौलिकता के नाम से गन्दी किताबों को और निस्सार लेखों को पाठकों के गले में मढ़ना श्रेयकर नहीं है। उस दिन हमने एक नाटक पढ़ा। प्रस्तावना में लेखक ने कहलाया है कि यह नाटक असाधारण है। इससे आनन्द का सञ्चार, समाज का सुधार, देश का उपकार, कुरीतियों का संहार तथा नवीन भावों का प्रचार होने की सम्भावना है। हमारी समझ में इसमें एक भी ऐसा मुख्य पात्र नहीं है जो काशी के किसी भी उपन्यास के पात्रों से विशेषता रखता हो। इसमें नाटककार की कोई भी ऐसी विशेषता नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि उनमें कर्तृत्व-शक्ति है। तो भी इसके प्रकाशक हिन्दी का भाण्डार भरने के लिए इसे लेकर दौड़ पड़े हैं। वे अभी तक राजनैतिक और धार्मिक किताबें प्रकाशित करते थे, परन्तु इस नई चीज़ ने उन्हें विवश कर दिया और वे हिन्दी का अभाव दूर करने के लिए उद्यत हो गये। ऐसे मौलिक नाटकों से विशेष लाभ नहीं होने का। अच्छा यह होगा कि अन्य भाषाओं के प्रसिद्ध नाटकों और उपन्यासों के अनुवाद किये जाँय। उनसे ज्ञान की वृद्धि होगी और सुरुचि का प्रचार होगा। जब लोग जानने लगेंगे कि सत्साहित्य क्या है तब ऐसे निकम्मे नाटकों को प्रकाशित करने का कोई साहस भी नहीं करेगा। साहित्य में प्रतिभा टके सेर नहीं बिकती है। सभी देशों के साहित्य में

प्रतिभाशाली लेखक दो ही चार जन्म लेते हैं। यदि हम अपने साहित्य की श्रीवृद्धि करना चाहते हैं तो हमें इन सभी प्रतिभा-शाली लेखकों को अपनाना होगा। दान्ते की जन्मभूमि इटली में तुलसीदास, का रामचरितमानस चला गया, परन्तु हमारे हिन्दी-साहित्य में अभी एक भी विदेशी विश्वकवि की रचना विद्यमान नहीं है। सड़े गले मौलिक नामधारी ग्रन्थों को लेकर सन्तोष प्रकट करना सचमुच आश्चर्य की बात है। परन्तु जब कोई उन्हीं ग्रन्थों का गर्व करता है तब उसकी सुबुद्धि पर दया आती है।

हिन्दी के कुछ मौलिक नामधारी पुस्तकों की एक विशेषता और है। कुछ समय से हिन्दी के पुस्तक-प्रकाशकों ने विद्वानों से पुस्तकों की प्रस्तावना लिखाना प्रारम्भ किया है। अधिकांश प्रस्तावना लेखकों को समय की इतनी सङ्कीर्णता रहती है कि वे किताब को पढ़ भी नहीं सकते। तो भी वे प्रस्तावना में अतिशयोक्ति का इतना अधिक आश्रय लेते हैं कि उनके सामने हिंदी के विज्ञापन भी थोथे जँचने लगते हैं। एक ही विषय के कई ग्रन्थ निकलते हैं। परन्तु सभी के लेखक यह कहते हैं कि हमीं ने हिन्दी का अभाव दूर करने का बीड़ा उठाया है। यह हर्ष की बात अवश्य है कि हिन्दी के सब लेखक हिन्दी की दयनीय दशा से द्रवित हो अपनी लेखनी उठाते हैं। कीर्ति अथवा धन की इच्छा उनको छू तक नहीं गई। कुछ लेखकों

की यह परोपकार-वृत्ति और भी बढ़ी-चढ़ी है। वे अपने विषय से अनभिज्ञ होने पर भी ग्रन्थ-निर्माण का परिश्रम-भार उठाते हैं, क्योंकि वे देखते हैं कि जो लोग समर्थ हैं उनकी प्रवृत्ति इधर है ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अपने निष्काम व्रत के कारण उनको अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। विषय की अनभिज्ञता को दूर करने के लिए उन्हें पहले कई ग्रन्थों का पारायण करना पड़ता है, तब कहीं वे हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए उस विषय का ज्ञान सुलभ कर सकते हैं। ऐसे लेखकों को सबसे बड़ा दुःख यह देखकर होता है कि उनके पहले जिन लोगों ने उसी विषय पर पुस्तक लिखने का प्रयास किया, उनकी रचनायें हिन्दी-साहित्य का अभाव नहीं दूर कर सकीं। तो भी उनको सन्तोष यह है कि उनकी कृति से हिन्दी का रिक्त भाण्डार पूर्ण तो होगा।

हम मौलिक ग्रन्थ लिखने की चेष्टा करनेवाले लेखकों के विरोधी नहीं हैं। हमारा विश्वास है कि साहित्य की उन्नति के लिए जो कुछ भी किया जाता है वह व्यर्थ नहीं है। हिन्दी के जो प्रतिभाशाली लेखक हैं उनकी मौलिक रचनाओं का हमें गर्व है। पर मौलिकता का दावा करने से ही सभी ग्रन्थ मौलिक नहीं हो जाते। और न मौलिक होने से ही ग्रन्थ साहित्य की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। यही कारण है कि मौलिक काव्य, नाटक या उपन्यास के प्रकाशन से हमें जितना हर्ष होता है उतना

ही श्रेष्ठ ग्रन्थ के अनुवाद से होता है। अभी हाल में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने दो श्रेष्ठ उपन्यासों का अनुवाद प्रकाशित किया है। एक का नाम चरित्रहीन है और दूसरे का रागिणी। इन्हें पढ़ कर हमें प्रसन्नता हुई, पर एक बात देख कर हमें अवश्य दुःख हुआ। वह यह कि एक मराठी उपन्यास का अनुवाद होने पर भी हमने रागिणी में एक भी पात्र को मरहठे के रूप में नहीं देखा। हमें ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी के अधिकांश अनुवादों की प्रथा का अनुसरण कर रागिणी के अनुवादक महोदय ने भी पात्रों के नाम बदल दिये। यदि हमारी यह सम्भावना सच है तो हम अनुवादक के इस कार्य का समर्थन नहीं कर सकते। उपन्यासों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि उनमें हम समाज का जोवित चित्र देख सकते हैं। जब तक हमें महाराष्ट्र-जीवन का ज्ञान नहीं है तब तक उससे हमारी अधिक सहानुभूति भी नहीं हो सकती। वर्तमान राष्ट्रीय युग में तो इस बात की विशेष आवश्यकता है कि हम भारतवर्ष की सभी जातियों से परिचित हो जाँय। यह काम उपन्यास से न लिया जाय। जिन लोगों की यह धारणा है कि विजातीय समाज का चित्र देने से उपन्यास कम मनोरञ्जक हो जायगा उन्हें अब अपनी यह धारणा दूर कर देनी चाहिए। हाल में विक्टर ह्यूगो और अनाटोल फ्रांस के उपन्यासों के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। जिन लोगों ने उन्हें पढ़ा होगा उनकी यही राय होगी कि फ्रांस का चित्र देने से उपन्यास मनोरञ्जक हुआ है।

यदि उस ग्रन्थके अनुवादक चाहते तो वे भी उसे भारतीय जामा पहना सकते थे। परन्तु ऐसा करने से ग्रन्थ का महत्त्व नष्ट हो जाता। चरित्र-हीन में बङ्गाल का समाजिक जीवन अङ्कित है। यदि उसके भी अनुवादक उसको बदल देते तो क्या उस ग्रन्थ का उससे महत्त्व बढ़ जाता ?

४

सत्य,

हिन्दी में अच्छे नाटक कम हैं, उनके खेलनेवाले भी अधिक नहीं हैं। उनमें योग्यता भी कम होती है। इसीलिए नाटकों की आलोचना में समालोचक अभिनय पर ध्यान नहीं देते। अँगरेजी पत्रों में नाटकों के अभिनय पर विशेषज्ञों के लेख निकलते रहते हैं। वहाँ नाटकों की सफलता रङ्गभूमि में ही देखी जाती है। यहाँ हमें उसीके सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना है।

नाटकों की सफलता के लिए अच्छे नाटककार की जरूरत है, और अच्छे नटों की भी। बुरे नट अच्छे नाटकों को भी बुरा बना देते हैं। परन्तु अच्छे नट बुरे नाटक को अच्छा नहीं बना सकते। नाटक के अच्छा होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके पद्य कवित्व-पूर्ण हों। कितने ही नाटकों में कोरी तुकबन्दी की भरमार होने पर भी उनका अभिनय सफलता-पूर्वक किया जा चुका है। इसके विपरीत टेनीसन और ब्राउनिंग के कवित्व-पूर्ण नाटकों को इँगलैण्ड के सर्वश्रेष्ठ नट भी सफलता से

नहीं खेल सके। हिन्दी में कई नाटक लिखे गये हैं। बाबू कालिदास कपूर की सम्मति है कि वे नाटक नाटक नहीं कहे जा सकते, उनमें अभिनय के योग्य एक भी गुण नहीं है। किसी किसी को पढ़ कर बाबू साहब को यह सन्देह हुआ था कि उसके लेखक ने कोई नाटक देखा भी है या नहीं। देखते जो जान जाते कि अभिनय के योग्य नाटक कैसे लिखे जाते हैं।

हमे न नाट्य-शास्त्र का ज्ञान है और न नाट्य-कला का। अँगरेज़ी के कुछ ऐसे नाटक हमने पढ़े अवश्य हैं जिनका अभिनय विद्वानों की राय में सफलता-पूर्वक किया जा सका है। अतएव हमने सोचा कि हिन्दी के इन नाटकों में ऐसी कौन सी बात है जिसका अभिनय नहीं किया जा सकता। पहली बात दृश्यों की है। क्या इनके दृश्य ऐसे अस्वाभाविक हैं कि उनका प्रदर्शन ही न हो सके? आज-कल रङ्ग-भूमि पर सभी तरह के दृश्य दिखलाये जा सकते हैं। रङ्ग-भूमि पर मनुष्यों का वध होता है, सती-दाह का दृश्य दिखलाया जाता है, सर्प हाथी, घोड़े, आदि दिखलाये जाते हैं। पहाड़ नदी झरने भी ज्यों के त्यों बतलाये जाते हैं। हमारी तो यह धारणा है कि लेखक ऐसे किसी दृश्य की कल्पना नहीं कर सकता जो रङ्गभूमि में भी न दिखाया जा सके। ज़मीन फटती है और उसमें से आदमी निकलता है। तालाब है, उसमें कमल खिले हुए हैं, एक कमल फटता है और उसमें से श्रीकृष्ण निकलते हैं। इङ्गलैण्ड के स्टेज-

मैनेजर तो स्वभाविकता लाने के लिए प्राकृतिक वस्तुओं और जन्तुओं तक का प्रबन्ध करते हैं। हमने हिन्दी के नाटकों में ऐसा कोई भी दृश्य नहीं पाया जिसके लिए रङ्गभूमि में प्रबन्ध न किया जा सके। अब रहा पात्रों की बातचीत और कथा-भाग। यह कहा जा सकता है कि एक एक पात्र की बातचीत में इतना समय लग जाता है कि दर्शक ऊब जाते हैं। अँगरेजी में बर्नार्ड शा के नाटकों की बड़ी तारीफ़ है। दर्शक उन्हें देखने के लिए टूट पड़ते हैं और न पात्रों की बातचीत का ताँता ही बन्द होता है। घटना कम और बातचीत अधिक रहती है। कथा-भाग के विषय में तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संग्राम के समान दो एक नाटकों का कथा-भाग ऐसा नीरस नहीं है। कभी कभी घरेलू दृश्यों को दिखलाना भी कठिन हो जाता है। परन्तु रवीन्द्र बाबू के डाकघर का अभिनय सफलता से किया जा चुका है। उससे अधिक घटना-शून्य सरस दैनिक जीवन का चित्र किसी दूसरे नाटक में कम मिलता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अभिनय सफल नहीं हो सकता? हमारी समझ में रङ्गभूमि में नाटक की सफलता लोक-रुचि पर निर्भर है। जहाँ लोग ऊटपटाँग तमाशा देखने से ही आनन्द पाते हैं वहाँ किसी भी अच्छे नाटक का अभिनय सफल नहीं हो सकता। कहा जाता है कि युद्ध के समय इँगलैन्ड में बर्नार्ड शा के नाटक भी दर्शकों

का चित्त नहीं खींच सकें। यदि हम चाहते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक हों और उनका अभिनय अच्छा हो तो हमें लोक-रुचि को परिष्कृत करना होगा। जब दर्शक शिक्षित होंगे नट शिक्षित होंगे, तब हीन श्रेणी का नाटक लिखने तक का कोई साहस नहीं करेगा। जब तक साधारण जनता में शिक्षा का अभाव है तब तक नाटक-मण्डली भी ऐसे ही भद्दे खेल खेलेगी जिनसे उसके दर्शकों का मनोरञ्जन हो।

५

सत्य,

आज-कल हिन्दी में कविताओं का संग्रह ख़ूब प्रकाशित किया जा रहा है। 'माला' और 'अञ्जलि' से हिन्दी-साहित्य प्रेमियों की बड़ी बड़ी अलमारियाँ भर जायँगी। इस संग्रह-प्रकाशन का क्या कारण है? मेरी समझ में इसका कारण यह है कि हिन्दी में जैसे कवियों की संख्या बेतरह बढ़ रही है, वैसे ही समालोचकों की भी ख़ूब वृद्धि हो रही है। कवियों को डर है कि कहीं उनकी कवितायें मासिक पत्रिकाओं की पुरानी फ़ाइलों में ही पड़े पड़े सड़ न जायँ। इसलिए वे स्वयं चाहते हैं कि उनकी रचनायें किसी 'अञ्जलि' अथवा 'माला' में गुम्फित रहें। उनका यह भय निर्मूल नहीं। उनके संग्रह-ग्रन्थों को पढ़कर मेरी यही धारणा हो गई है। यह तो कवियों की बात हुई। समालोचक भी संग्रह प्रकाशित करने के लिए व्यग्र रहते हैं। वे चाहते हैं कि इधर

उधर से कुछ कवितायें उठाकर रख दें। इसमें परिश्रम तो है नहीं। फलमेव नामक समालोचक की तरह हमारा भी नाम हो जायगा और हम भी कविताओं के क़द्रदाँ समझे जायँगे। प्रकाशक भी किसी टेक्स्टबुक-कमेटी की सिफ़ारिश की आशा से इन संग्रहों को धड़ल्ले से प्रकाशित कर रहे हैं।

कविताओं का संग्रह करना सहज नहीं। काव्य-सागर का मंथन करके अमृत निकाल लेने के लिए बड़ा परिश्रम चाहिए। यह भी समझ रखना चाहिए कि सागर से अमृत ही नहीं निकलता, विष भी निकलता है। अतएव संग्रह-कार को यह चाहिए कि वह विष-पानकरके सुधा संसार को दे डाले। हमारे हिन्दी के संग्रहकार सुधा-पान करते हैं कि नहीं यह तो हम नहीं जानते, पर वे विष-पान कर डालते हैं। नमूने के लिए किसी कवि की कुछ कविताओं को भी संग्रह कर देने से ही ज़रूरी कवित्व-शक्ति प्रकट नहीं होती है। इससे तो हमारी अज्ञानता ही सिद्ध होगी। उदाहरण से सिद्ध हो जायगा। सबसे अच्छी नाक तोते की कही जाती है, सुन्दर आँख की तुलना मृग से दी जाती है। जंघाओं के लिए केले अथवा सूँड़ की उपमा दी जाती है। इसी तरह हर सुन्दर अङ्ग के लिए एक न एक उदाहरण दिये जाते हैं। यदि सुन्दरी नारी देखने इच्छा करनेवाला इन्हीं वस्तुओं को एकत्र करे तो एक ऐसी भयावनी मूर्ति तैयार हो जायगी कि लोग देखते ही डर जायँगे। यही हाल कविताओं के संग्रह का है। हिन्दी के

सामाजिक पत्रों में जितनी कवितायें निकलती हैं उनमें अधिकांश में शोभा तभी तक है जब तक वे उस पत्र में हैं। प्राचीन कवियों की कविताओं का भी यही हाल है। तुलसीदास की कविता कैसी है यह कहने की जरूरत नहीं। परन्तु यदि हम उनकी कुछ रचनाओं को रामायण से अलग करके प्रकाशित कर दें तो उनका गौरव नष्ट हो जाय। हमारे संग्रह को पढ़कर तुलसीदास से अनभिज्ञ पुरुष यह कदापि कहने के लिए तैय्यार न होगा कि तुलसीदास संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं। अङ्गरेजी में एक ग्रन्थ का नाम है Beauties of Shakespeare. उसमें शेक्सपियर के नाटकों के अच्छे अच्छे पद्य संग्रहीत हैं। पर उसको पढ़कर शेक्सिपियर को कोई मान न दे सकेगा। Beauties of Shakespeare के संग्रहकार स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं। बात यह है कि सिर्फ भावों की समिष्टि का नाम कविता नहीं है। कविता में अन्य कई गुण भी होते हैं। एक बात कविता में होती है जिसे Suggestiveness कहते हैं। इसका मतलब यह है कि शब्दों से विशेष अर्थ नहीं निकलता, पर हमारे हृदय में विशेष भाव उदित हो जाता है। इन पद्यों पर ध्यान दीजिए— आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक पर्वत नियराई॥ तँह रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देख अतुल बल सींवा॥ इनमें कौन सा अलंकार है, कौन सा रस है, कौन सी ऐसी सूक्ति है। कौन हिन्दी प्रेमी

चाहूँगा कि ये भुला दिये जाँय। इन में 'रघुराई', 'ऋष्यमूक' आदि रामचन्द्र जी के जीवन-चरित का स्मरण, वनवास-कथा, उनकी पितृ-भक्ति, वियोग-कथा आदि जितना है, उनका सब चित्र खिंच जाता है। इनकी विशेषता किसी एक भाव के कारण नहीं, समस्त कथा के कारण है। इसलिए हम इन पद्यों की गणना कविता में करते हैं। यदि इन पद्यों का सम्बन्ध रामायण से न रहे तो उनका महत्त्व जाता रहे और ये कविता के आसन से नीचे गिर जायँ। अँगरेजी में गीत-काव्यों ही का संग्रह होताहै। नाटक और महाकाव्यों के जिन जिन अंशों में इनके तत्त्व विदित होते हैं वे भी संग्रह में आ सकते हैं। उदाहरण के लिए मिल्टन के पाराडाइज लास्ट का प्रभात-वर्णन अथवा सैटन का व्याख्यान—हिन्दी में ऐसी कवितायें कम हैं। प्राचीन कवि महाकाव्य, नाटक अथवा गाथा ही लिखना अधिक पसन्द करते थे। इसलिए उनके काव्यों से पद्य-संग्रह करते समय संग्रहकार में बड़ी विवेचना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि उसके संग्रह में उनके ऐसे पद्य आ जायँ जो वहाँ उनकी कवित्व-शक्ति को घटानेवाले हों। हमें खेद है कि हिन्दी के संग्रहकार इसका बिलकुल नहीं खयाल करते। यदि हिन्दी के पाठक सूरदास और तुलसीदास की रचनाओं से पहले ही परिचित न हों तो उनके अवतरणों को पढ़ कर उनकी श्रद्धा ही नष्ट हो जाय। ऐसे ग्रन्थ बहुधा बालकों

की पाठ्य-पुस्तकों में रक्खे जाते हैं। इससे बड़ी हानि की संभावना है। हम चाहते हैं कि अच्छी योग्यता के समालोचक ही संग्रह का काम लें, जो सहृदय हों, कविता के मर्मज्ञ हों और अनुभवशील हों। जिनमें इन गुणों का अभाव हो वे अनधिकार चेष्टा न करें।

६

सत्य,

कल एक उर्दू-प्रेमी ने एक उर्दू पद्य की बड़ी तारीफ़ की। कहा कि ग़ालिब ने भी उसे सर्वश्रेष्ठ समझा। वह पद्य यह है—तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा पास नहीं होता। उन्होंने स्वयं भी ग़ालिब का एक पद्य पढ़ कर कहा कि मुझे यह पद्य सर्वोत्तम मालूम होता है। वह पद्य यह है— उसके आते ही आ जाती है मुँह पर रौनक़, वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है। उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम्हें हिन्दी का कौनसा पद्य ख़ूब पसन्द है, किसे तुम सर्वोत्तम समझते हो। मैं यही प्रश्न तुमसे भी करना चाहता हूँ।

इसमें संदेह नहीं कि किसी भी रचना के विषय में यह कहना कि वह सर्वश्रेष्ठ है, सर्वांश में सच नहीं होता। किसी एक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना समालोचना के औचित्य के बाहर है। साहित्य अथवा कला में उत्तमता स्वयंसिद्ध नहीं है, किन्तु वह दूसरों पर अवलंबित है। फिर भिन्न भिन्न अवस्थाओं में

भिन्न भिन्न रचनाओं की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अतएव यदि हम किसी रचना को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहें तो हमें उन सभी अवस्थाओं पर विचार करना पड़ेगा। तभी हमारा कथन सार्थक हो सकता है। एक बार अँग्रेजी के एक प्रसिद्ध विद्वान् से यह कहा गया कि आप अँग्रेजी साहित्य की सबसे उत्कृष्ट रचनायें चुन दीजिए। उन्होंने कुछ रचनायें तो चुनी अवश्य, परंतु आरंभ में उन्होंने बायबिल का यह वाक्य उद्धृत किया।

"There is one glory of the sun, and another glory of the moon, and another glory for the star, for one star differth from another star in glory."

अर्थात सूर्य की कांति एक प्रकार की है और चन्द्रमा तथा ताराओं की दूसरे प्रकार की। एक तारे का प्रकाश दूसरे तारे के प्रकाश से भिन्न है। तुलना समता में की जाती है, भिन्नता में नहीं। इसलिए कितने ही विद्वानों ने कवियों को भिन्न भिन्न श्रेणिओं में विभक्त करना भी बुरा कहा है। मार्ले ने वर्डस्वर्थ के सम्बन्ध में लिखा था कि हम वर्डस्वर्थ के समान बड़े कवियों को किसी भी श्रेणी में रखना अनुचित समझते हैं। यही बात सभी देशों के कवियों और विद्वानों के भी सम्बन्ध में कही जा सकती है। किसकी रचना किससे अच्छी है, यह श्रेष्ठ लेखकों के विषय में नहीं निश्चित किया जा सकता।

किसी को सर्वश्रेष्ठ कहना औचित्य की सीमा के बाहर भले ही हो, किन्तु सभी अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी न किसी को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। जब कोई किसी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है तब वह मानो अपनी अक्ल की परीक्षा करने के लिए सबको आह्वान करता है। इससे चित्त उसकी ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है। जब हम किसी की विवेचना-पूर्ण आलोचना पढ़ते हैं तब कदाचित् उसकी परीक्षा के लिए हमें उत्सुकता नहीं होती। परन्तु जब कहीं यह बतलाया जाता है कि अमुक कवि का अमुक पद्य संसार में सर्वश्रेष्ठ है तब पाठकों के कान खड़े हो जाते हैं। यदि वे उस रचना से अवगत हैं तो उसे एकबार फिर ध्यान-पूर्वक देखेंगे और यदि वह उनकी पढ़ी हुई है तो उसे पढ़ने के लिए उन्हें उत्सुकता अवश्य होगी। अङ्गरेजी मे स्विनवर्न की समालोचनाओं की यही विशेषता है। चाहे हम समालोचक की राय माने या न माने, परन्तु जब वह किसी कवि के किसी विशेष पद्य को सर्वश्रेष्ठ बतलावेगा तब उसकी ओर हमारा चित्त अवश्य आकृष्ट होगा। जो लोग आदरणीय हैं उनका यह कथन विशेष महत्त्व का होता है, क्योंकि लोक-रुचि सदैव विद्वानों की रुचि का अनुसरण करती है।

कुछ समय पहले अङ्गरेजी में साहित्य-शास्त्र के विद्वानों से यह प्रश्न पूछा गया था कि उनकी राय में अङ्गरेजी की सबसे

अधिक कवित्वपूर्ण लाइन कौनसी है। ग्लैडस्टन ने तीन वाक्य चुने थे, पर वे यह निश्चित न कर सके कि उन तीनों में कौन सबसे अच्छा था। उनमें एक वाक्य यह था—

Or hear old briton blow his wreathed horn.

प्रसिद्ध कवि टेनिसन की राय में वर्डस्वर्थ की निम्न लिखित लाइन सबसे अच्छी है।

Whose dwelling is the light of setting sun

लार्ड गार्लें कहा करते थे कि शेक्सपियर के मेकवैथ में यह लाइन सबसे अच्छी है।

After life's fitful fever he sleeps well.

हमारे देश के भी विद्वान् इस प्रकार की सम्मति देने का लोभ-संवरण नहीं कर सके। संस्कृत में यह प्रसिद्ध है कि नाटकों में अभिज्ञान शकुन्तला सर्वश्रेष्ठ है। उसमें भी चतुर्थ अङ्क सबसे अच्छा है और उसके भी चार श्लोक सबसे अच्छे हैं। संस्कृत में कालिदास अपने एक श्लोक की उत्तमता के कारण दीपशिखा कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। वह श्लोक यह है—

सञ्चारिणी दीप शिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्ण भावं स स भूमिपालः

इसी प्रकार संस्कृत के दूसरे कवियों के विषय में कई श्लोक हैं। इन सब बातों के लिखने से मेरा मतलब यही है कि अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी पद्य को सर्वोत्तम बतलाना सर्वथा अनुचि-

त नहीं है। मुझे तो तुलसीदासजी का यह पद्य सबसे अच्छा लगता है—लोचन मग रामहिं उर आनी—दीन्हीं पलक कपाट सयानी। प्रेम की मुग्धावस्था का ऐसा पवित्र और सुन्दर चित्र मैंने तो अन्यत्र नहीं पढ़ा है। तुम्हारी क्या राय है।

७

सत्य,

हिन्दी में अभी तक भाषा के विषय में साहित्य-मर्मज्ञों के विचित्र विचार हैं। आज कल ब्रज-भाषा की ओर कवियों का कुछ अनुराग कम हो गया है। अधिकांश कवि बोल-चाल की ही भाषा में कविता लिखना पसंद करते हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि ब्रज-भाषा की ऐसी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। उनकी यह भी राय है कि खड़ी बोली की कवितायें नीरस होती हैं। परन्तु सरसता का ठेका न ब्रज-भाषा ने लिया है और न खड़ी बोली ही ने। यदि आज-कल की रचनाओं में कवित्व-गुण का अभाव है तो ब्रज-भाषा के उपयोग-मात्र से हिन्दी में सूर और बिहारी पैदा नहीं होने लगेंगे। सभी समय श्रेष्ठ कवि उत्पन्न नहीं होते और न सभी समय महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। सभी देशों का यही हाल है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा चाहते हैं कि हिन्दी में जितनी कविताएँ निकलें उन सब में रस का स्रोत ही बहे। परन्तु रससिद्ध कवीश्वर टके सेर नहीं बिकते। अन्य विद्वानों का कथन है कि जब उर्दू में सत्कवियों का अभाव नहीं है तब हिन्दी

में कविता का दुर्भिक्ष कैसे आगया? परन्तु यदि हम हिन्दी के इतिहास की ओर ध्यान दें तो हमारी समझ में इसका कारण आ जाय। जब तक किसी साहित्य की गति अवरुद्ध नहीं हुई है तब तक वहाँ सत्काव्य की रचना के लिए उपयुक्त क्षेत्र बराबर तैय्यार होता रहता है। परन्तु हिन्दी में काव्य-शास्त्र की मीमांसामें ही कवि निरत रहे। नये नये भावों की सृष्टि तो बिलकुल ही बन्द हो गई। जिन धार्मिक भावों की प्रेरणा से मध्य-युग में श्रेष्ठ काव्यों की रचना हुई थी वे भाव भी कृत्रिम आचार-व्यवहार की जटिलता में लुप्त हो गये। हिन्दी के कवियों के लिए नख-शिख-वर्णन अथवा नायिका-भेद को छोड़कर दूसरा विषय नहीं था अब कुछ समय से वर्तमान युग के भावों की कवितायें लिखी जाने लगीं हैं। ये रचनायें अभी नीरस भले ही हों, पर इनसे साहित्य में नवीनता आ गई है। अगर हिन्दी-साहित्य की गति इसी तरह अग्रसर होती रही तो हमें विश्वास है कि हिन्दी में भी अच्छे कवि होने लगेंगे।

अपनी इस प्रारम्भिक अवस्था में भी हिन्दी-साहित्य गुप्तजी और उपाध्यायजी की रचनाओं का गर्व कर सकता है। पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की राय कुछ दूसरी है। आप बोल-चाल की कविताओं के विरोधी ही नहीं हैं, परन्तु आपका विश्वास है कि गद्य-पद्य की भाषा एक नहीं हो सकती। अर्थात् यदि गद्य बोल-चाल की भाषा में लिखा जाय तो पद्य के लिए एक ऐसी भाषा

का निर्माण किया जाय जो बोल-चाल में प्रयुक्त न हो। आपने यहां तक कह डाला कि वर्ड्स्वर्थ ने गद्य-पद्य को एक करने की चेष्टा की और उनकी चेष्टा निष्फल हुई। आपके कथन से सूचित होता है कि अंग्रेज़ी में वर्ड्स्वर्थ को छोड़ कर शेक्सपियर, मिल्टन, ब्राउनिंग आदि कवियों ने जिस भाषा में कविता लिखी है वह या तो ब्रज-भाषा के समान कोई प्रांतीय बोली होगी अथवा कोई ऐसी बोली जो गद्य में प्रयुक्त नहीं होती। अङ्गरेज़ी में यह गद्य-पद्य का झमेला नहीं है। तो भी हम मान लेते हैं कि आपही का कथन सच है। वर्ड्स्वर्थ को गद्य-पद्य की एक भाषा करते न बनी, वर्ड्स्वर्थ की भाषा बुरी ही सही। तो भी उनकी रचनाओं का आज तक आदर है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि भावमयी कविता किसी भाषा में लिखी जायगी तो उसका आदर अवश्य होगा। जब हम कहते हैं कि गद्य-पद्य की भाषा में भेद है तब उसका मतलब यही है कि उसका भेद शैलीका है। गद्य की अपेक्षा पद्य की भाषा अधिक सरल होगी। वर्णनीय विषय में पद्य में कहीं कठोर शब्दों का प्रयोग होता है। इसके सिवा कविता की भाषा कवि की रुचि पर निर्भर है। मिल्टन ने वर्ड्स्वर्थ की तरह नहीं लिखा है और न श्रीहर्ष ने कालिदास की तरह। यदि हिन्दी के कुछ समालोचकों का बस चले तो इन कवियों से वो कैफ़ियत मांगें कि तुमने सरल शब्दों को छोड़ कर कठिन शब्दों का प्रयोग क्यों किया है। हिन्दी में जो कवि संस्कृत के समस्त शब्दों

के प्रयोग करते हैं वे अपनी इच्छा से करते हैं। यदि उनकी कविताओं में कुछ गुण होंगे तो लोग उन्हें पढ़ेंगे और उन शब्दों का अर्थ ढूँढने की कोशिश भी करेंगे। यदि उनकी कविता सचमुच शब्द-जाल है तो वह आप से आप नष्ट हो जायगी। किसी समालोचक की सिफारिश की जरूरत भी नहीं है। ऐसे तो कितने कवि उत्पन्न होते हैं और विस्मृत के अंधकार में डूब जाते हैं। समालोचकों को उनके लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

कविता की भाषा के विषय में एक बात अवश्य ही विचारणीय है। वह यह है कि वर्णनीय विषय के अनुसार कविता की भाषा है या नहीं। कहा जाता है कि कवित्व में ओज लाने के लिए कठोर शब्दों का उपयोग आवश्यक है। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि जिस कविता में कठोर शब्द है वह ओजस्वनी ही है। अगर यही बात हो तो ओजस्वनी कविता लिखना बहुत सरल हो जाय। किसी कोष से कर्ण-कटु शब्दों को ढूँढ ढूँढ कर कोई भी अपनी रचना में एकत्र कर सकता है। तो क्या उसकी रचना ओजस्वनी हो जायगी? बाबू मैथलीशरण गुप्त ने भूषण की रचना के बारे में एक बार लिखा था कि कान कोचनेवाले शब्दों से वीर-रस नहीं आता। चतुर्वेदीजी ने कहा है कि वीर-रस में कर्ण-कटु शब्द नहीं रहेंगे तो क्या कोमलकान्तपदावली रहेगी? यदि कर्ण-कटुता

ही वीर-रस का लक्षण है तो कवि को सिर्फ कर्ण-कटु शब्द ही लिख डालना चाहिए। कठोरता की हद हो जायगी और आपके कथानुसार वीर रस का स्रोत फूट पड़ेगा। यह हम नहीं कहते कि भूषण की रचना में वीररस का सर्वथा अभाव है। परंतु इतना तो अवश्य ही कहेंगे कि उनकी रचना में शब्दाडंबर का भी अभाव नहीं है। भाव जभी सजीव होगा जब भाषा सजीव होगी। इसके लिए न तो कृत्रिम बंधनों के द्वारा कवि के व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालनी चाहिए और न साहित्य के स्वाभाविक विकास में। अब तो न कालिदास की भाषा कविता के उपयुक्त है, न चंद और विहारी की। समय ने अब ऐसा पलटा खाया है कि सूर और बिहारी का जमाना लौटने का नहीं। अब हमें समय ही के साथ चलना होगा। तुम क्या समझते हो?

४३—समाज-सेवा

देश की जागृति के लिए हमें अपनी उन्नति का पथ स्वयं निर्मित करना पड़ेगा। जाति की आवश्यकताओं की ओर यदि जाति का ध्यान नहीं गया तो उन्नति की सम्भावना कभी नहीं की जा सकती। यही हम लोग एक बड़ी भूल करते हैं। हम अपनी उन्नति तो चाहते हैं, पर उन्नति के पथ के जो अवरोधक हैं उन्हें नष्ट करने की शक्ति हममें नहीं है। इसका फल यह

होता है कि जब कभी हमारे देश में कोई नया आन्दोलन होता है तब वह थोड़े ही समयके बाद अवरुद्ध हो जाता है और अन्त में उसकी इतिश्री होती है। जो देश के हितचिन्तक हैं उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी आन्दोलन की सफलता के लिए सहनशीलता एक आवश्यक गुण है। हमें अपने क्रोध और क्षोभ को दूर कर कर्त्तव्य-पथ पर विचरण करना होगा। तभी हम सफलता की आशा कर सकते हैं।

देश की जागृति के लिए कितनी ही संस्थायें स्थापित हुई हैं। कुछ राजनैतिक हैं और कुछ सामाजिक। इनमें बम्बई की हितसाधन मण्डली का नाम उल्लेख करने योग्य है। वह चुपचाप अपना काम कर रही है और इसमें सन्देह नहीं कि वह देश का हित-साधन कर रही है। यहाँ उसी के कार्यकलाप का दिग्दर्शन कराया जाता है।

जनता में शिक्षा का प्रचार करने के लिए यह मण्डली ३० स्कूल चला रही है। इन स्कूलों में पढ़नेवाले छात्रों की संख्या १३३९ है। इनमें १२१६ प्रौढ़ पुरुष और बालक हैं और १२३ बालिकायें और स्त्रियाँ। इन ३० स्कूलों में १८ रात्रि-पाठ-शालायें हैं। इनमें रात्रि के ही समय शिक्षा-दान की व्यवस्था है। इनमें ७५४ लोग शिक्षा पाते हैं। इन पाठशालाओं के अतिरिक्त इस मंडली की ओर से ९ पुस्तकालय स्थापित हुए हैं और ५० चलते-फिरते पुस्तकालय भी हैं। पूरे वर्ष में ६८४३५

मनुष्यों ने इनसे लाभ उठाया। क़ैदियों और रोगियों का विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

मजदूरों में शिक्षा-प्रचार करने के लिए इस समिति की ओर से जगह जगह व्याख्यानों का प्रबन्ध होता है। इन व्याख्यानों में मैजिक लालटेनों की सहायता से मजदूरों को स्वावलम्बन और सहयोग की शिक्षा दी जाती है और मद्यपान की बुराइयाँ बतलाई जाती हैं। एक साल ऐसे १९ व्याख्यान दिये गये। शहर में रहने-वाले मजदूरों को प्रायः गन्दे स्थानों में ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। मनोरञ्जन की सामग्री एक-मात्र दुराचार है। अतएव इस मंडली की ओर से उनको स्वच्छ और खुले स्थानों में ले जाने की व्यवस्था की जाती है। वहाँ उनके लिए खेल-कूद का भी प्रबन्ध किया जाता है। एक साल १९ बार उन्हें बाहर ले जाने की व्यवस्था हुई और २७ बार उनके मनोविनोद के लिए खेल-कूद का प्रबन्ध हुआ। १८८२ मजदूर बाहर गये और कितने ही लोग खेल-कूद में भी शामिल हुए। मजदूरों के लड़कों के लिए ब्वायस्काउट-संस्था की स्थापना की गई है, जिससे वे सच्चरित्र और स्वावलम्बी होना सीखें। एक एक दल में चालीस चालीस बालक भर्ती किये जाते हैं।

मंडली की ओर से दो अस्पताल चलाये जा रहे हैं। एक सिर्फ़ स्त्रियों और बालकों ही के लिये है। एक साल इसमें ९८५२ लोगों की चिकित्सा हुई। एक होमियोपैथिक औषधालय भी है।

उसमें २४२६ मनुष्यों की चिकित्सा हुई। दरिद्र मजदूरों की सहायता के लिए ८४ सहयोग-समितियाँ स्थापित हुई हैं। इन सबका मूल धन एक लाख तीस हज़ार रुपया है। इनके सभ्यों की संख्या ५६७५ है। इनसे २ लाख बीस हज़ार रुपये का कारबार चलाया जाता है। ताता—इन्स्टीट्यूट और करीम भाई इब्राहीम इन्स्टीट्यूट से इस समिति को सहायता मिलती है। कारखानों में जो स्त्रियाँ काम करती हैं उनकी सन्तानों के लिए एक आश्रम खोला गया है। इसमें स्त्रियाँ अपने बाल-बच्चों को छोड़ कर काम पर जाती हैं। इस मंडली ने गाँवों में स्वास्थ्य-रक्षा के लिए एक फ़न्ड खोल रक्खा है। उसका नाम है फ्लोरेन्स नाइटिंगेल इस फंड की आयसे ११ गावोंमें स्वास्थ्योन्नति की चेष्टा जाती है।

यदि सभी बड़े बड़े शहरों में ऐसी ही मंडलियाँ स्थापित हो जायँ तो उनसे दरिद्र भारतवर्ष का बड़ा हित साधन हो।

४४—कुछ भीषण रोग और उनका प्रतीकार

रोगों की भीषणता के विशेष कारण हैं अज्ञानता और दरिद्रता। भारतवर्ष में दोनों की प्रधानता है। यही कारण है कि यहाँ प्रति वर्ष हज़ारों मनुष्यों की अकाल-मृत्यु होती है। एक ओर दुर्भिक्ष और दूसरी ओर रोगों का प्रकोप। इन दोनों के बीच पड़कर भारतवर्ष यमलोक की यातना अनुभव कर रहा है। प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है। भारतीय सरकार भी

हम लोगों के दुःखनिवारण की चेष्टा करती है। रोगों के प्रतीकार के लिए उसने हज़ारों अस्पताल खोल रक्खे हैं। सफ़ाई और तन्दुरुस्ती के लिए एक महकमा ही अलग क़ायम कर दिया है। इन सब कामों में सरकार लाखों रुपये ख़र्च भी कर देती है। खेद इसी बात का है कि सरकार के यत्नशील होने पर भी रोगों का प्रकोप बढ़ता ही जाता है। कभी प्लेग, कभी महामारी, कभी इन्फ़्लुएंज़ा, एक न एक रोग भारत के पीछे लगा ही रहता है।

१९१८ में इन्फ़्लुएंज़ा का प्रादुर्भाव हुआ। इसने तो ग़ज़ब ही ढा दिया। गाँव गाँव, घर घर इसके कारण तबाही आई। प्लेग-देव तो पीछा ही नहीं छोड़ते। केवल युक्त-प्रान्त में ही क़रीब डेढ़ लाख आदमी मरे। प्लेग प्राचीन रोग है। एक बार जहाँगीर बादशाह के शासन-काल में भी उसका दौरा हो चुका था। १८९४ में उसका दर्शन चीन के कैन्टन नगर में हुआ। फिर वह हाँगकाँग, मैकाओ और धीरे धीरे, चीन के समूचे दक्षिण-समुद्रतट पर फैल गया। १८९६ में वह बम्बई आया। तब से यहाँ उसका अड्डा सा जम गया है।

यह तो हुआ रोगों का हाल। अब सरकार क्या कर सकती है यह भी सुन लीजिए। प्लेगदूर करने के लिए वह चूहोंका नाश करना चाहती है। इसीके लिए वह बार बार नोटिस निकालती है और तरह तरह के उपाय बतलाती है। अभी हाल में फिर एक

ऐसी ही विज्ञप्ति निकली है। अन्यरोगों के लिए भी ऐसी विज्ञप्तियाँ निकला करती हैं।

इस प्रान्त में एक मेडिकल-कालेज है और दो स्कूल। इसमें कोई तीन-चार सौ लड़के शिक्षा पाते हैं।

सरकार की इस कृपा का अधिकांश लाभ शहरवाले ही उठाते हैं। बेचारे देहातियों के भाग्य में न तो अस्पताल है और न डाक्टर। वे लोग तो सोंठ, मिर्च, पीपल और चिरायते से ही अपने रोगों का इलाज करते हैं। यदि रोग कठिन हुआ तो किसी अताई वैद्य या हकीम की शरण लेते हैं।

यह भारतवर्ष का हाल है। अन्यदेशों की ऐसी दशा नहीं। जापान ही को लीजिए। वहाँ की गवर्नमेंण्ट को लोगों की तन्दुरुस्ती का बड़ा खयाल रहता है। देश भरमें कोई एक हज़ार अस्पताल होंगे। सिर्फ स्कूल के लड़कों की देख-रेख के लिए एक हज़ार डाक्टर नियत हैं। जापान में एक स्वास्थ्य-समिति भी है। उसकी देख-भाल में हजारों डाक्टर काम करते हैं। योरप और अमरीका में चिकित्सा-शास्त्र के वैज्ञानिक अनुसन्धान में ही हज़ारों विद्वान् लगे रहते हैं। जहाँ कोई नई खोज हुई कि वह सर्वसाधारण के सामने लाई गई। लोग उसे सुनते हैं और उसका ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा भी करते हैं। यह सब सुशिक्षा का संस्कार है। यहाँ तो सभी बातों की कमी है।

४५—क़ैदियों के उद्धार की चेष्टा

पतितों के उद्धार की चेष्टा करना महत्कार्य है। जो समाज-सुधारक हैं उन्हें चाहिए कि वे समाजिक कुप्रथाओं को दूर करने के साथ ही साथ अपने उन देश-बन्धुओं की भी दशा सुधारने का प्रयत्न करें जो नीचे ही गिरते जा रहे हैं। प्रति वर्ष छोटे छोटे अपराधों के कारण जो लोग जेल भेजे जाते हैं उनमें से अधिकांश वहाँ से छूटकर फिर आवारागर्दी में पड़ जाते हैं। यदि पहले उनमें थोड़ा-बहुत आत्मसम्मान का भाव रहा भी हो तो वह जेल की हवा खाकर उड़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रति वर्ष ऐसे अपराधियों की संख्या बढ़ती ही जाती है। अभी हाल में मध्य-प्रदेश के जेलों के इन्स्पेक्टर जनरल ने १९१९ की जो रिपोर्ट प्रकाशित की है उसमें उन्होंने यह बात स्वीकार की है। गत वर्ष मध्यप्रदेश में सज़ायाफ्ता लोगोंमें अधिकांश को ६ महीने से कम ही की सज़ा मिली। इसमें भी १००० तो ऐसे थे जिन्हें तीन महीने से भी कम की सज़ा हुई थी। इनमें से अधिकांश तो पेट की ज्वाला से पीड़ित होकर चोरी करने पर बाध्य हुए थे। ये लोग अवश्य दया के पात्र हैं। यदि जेलसे छूटने पर इन्हें जीविका-उपार्जन का कोई ज़रिया मिल जाय तो ये फिर वैसा काम न करें। यदि ऐसी पतितोद्धारिणी संस्थायें हों जो इनकी देख-रेख कर सकें तो ऐसे क़ैदियों को जेल में न रखकर उनके ही संरक्षण में रखना अधिक

लाभदायक है। प्रान्तीय सरकार चाहती है कि ऐसी संस्थायें सर्वसाधारण की ओर से स्थापित हों। वह सहायता देने के लिए तैयार है। मध्यप्रदेश में ऐसी दो संस्थाये हैं भी। एक तो रायपुर में है, दूसरी सागर में। रायपुर की संस्था की ओर से अच्छा काम हो रहा है। सागर में अभी लोगों का ध्यान उसकी ओर इतना आकृष्ट नहीं हुआ है जितना कि चाहिए। फिर भी संस्था का उद्योग स्तुत्य है। एक ऐसी संस्था नागपुर में भी खुली थी, पर थोड़े ही दिनों में वह बन्द हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी संस्थाओं की बड़ी आवश्यकता है यदि एक भी विपथगामी सुपथ में लगाया जा सके तो समझना चाहिए कि उद्योगी का उद्योग सफल हो गया। हमारी समझ में तो ऐसी एक संस्था प्रत्येक जिले में स्थापित होनी चाहिए।

४६—इतिहास

संसार परिवर्त्तनशील है। उत्थान और पतन का चक्र यहाँ अनादि-काल से घूम रहा है। मानव-जाति अपने उद्योग से क्रमशः उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है, फिर उसकी क्रमशः अवनति होने लगती है और अन्त में वह बिलकुल अधोगति को पहुँच जाती है। अभी तक विद्वानों की यह राय थी कि पहले मानव-जाति अत्यन्त असभ्यावस्था में थी, क्रमशः उन्नति करके वह आधुनिक सभ्यता का निर्माण कर सकी है। विकासवाद

का यह सिद्धान्त यह भी कहता है कि मानव-जाति भी सभ्यता के विकास का ही फल है। मनुष्यों के पूर्व-पुरुष बन्दर थे। बन्दरों की अवस्था का विकास होने पर वही मानव-जाति में परिणत हुए। अभी हाल में वायना के एक विद्वान् ने इस सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत मत का समर्थन किया है। उनका कथन है कि मनुष्य बन्दरों के वंशधर ही नहीं, किन्तु उनके पूर्व-पुरुष हैं। आपकी राय है कि पूर्वोतिहासिक काल में मानव-जाति ने पहले तो सभ्यता की खूब उन्नति की। फिर उनकी सभ्यता का ह्रास होने लगा। अन्त में वे बिलकुल असभ्य हो गये। उनकी यह असभ्यता बढ़ती ही गई। वे बर्बर हो गये, यहाँ तक कि अन्त में वे मनुष्य से बन्दर हो गये। आजकल संसार उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। परन्तु यदि हम मिथ्या शिक्षा के भ्रम-जाल में पड़कर स्वाभाविकता की ओर न जाकर अवनति के पथ पर जाने लगें तो दो-तीन हजार वर्ष के बाद पृथ्वी पर फिर मानव-जाति वानर-जाति के रूप में परिणत हो जाय।

चीन, मिस्र, रूस, इटली तथा अन्य देशों में जो नये नये आविष्कार हुए हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि जब अमरीका का संयुक्त राज्य जलमग्न था तब पृथ्वी पर सभ्यता का पूरा प्रसार था। वह सभ्यता अटलांटिक महासागर से भी प्राचीनतर है। उस समय पृथ्वी पर जो मानवजाति निवास करती थी वह वर्तमान मनुष्य-जाति से अधिक सभ्य थी। उसकी सभ्यता

के उत्कर्ष का फल यह हुआ कि मनुष्य महामानव हो गये (—मानव-जाति का अतिक्रमण कर गये—) उनकी मस्तिष्क-शक्ति हद से बाहर हो गई। तब उनकी बुद्धि नष्ट होने लगी। उनमें कामुकता और पशुत्व की प्रबलता होने लगी। अन्त में वे लोग बिलकुल पशु हो गये। वही बन्दर हैं!

इस सिद्धान्त में कितना तथ्य है, इसका निर्णय विशेषज्ञ विद्वान् करेंगे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्नति और अवनति प्रकृति का नियम है। कितनी ही जातियाँ उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच कर अन्त में अवनति के गड्ढे में गिर जाती हैं। उनकी उन्नति और अवनति के कारण जान लेने से मनुष्य-समाज अपने लिए उन्नति का पथ निर्दिष्ट कर सकता है। इसी लिए इतिहास की आवश्यकता है।

इतिहास का मुख्य उद्देश है अतीतकाल का वर्णन करना। यह मनुष्य-मात्र का स्वभाव है कि वह अपने गौरव की स्मृति-रक्षा के लिए कुछ न कुछ अवश्य प्रयत्न करता है। वह चाहता है कि लोग उसके गौरव को न भूलें। इसी उद्देश से कोई मन्दिर बनवाता है तो कोई कीर्ति-स्तम्भ खड़ा करता है। कोई अपनी शक्ति से कुछ ऐसा काम ही कर जाता है जिसके कारण लोगों को उसकी याद बनी रहती है। जिस जाति में ऐसे लोग जन्म लेते हैं वह जाति अपने को धन्य समझती है। वे जाति के शिरोभूषण हो जाते हैं। जाति को उनका गर्व रहता है। वे

अपने गौरव से जाति का गौरव बढ़ाते हैं। ऐसे लोगों को जाति भूलना भी नहीं चाहती, क्योंकि उनका चरित्र अनुकरणीय होता है। इसीलिए जाति स्वयं उनकी चरित्र-कथा को अक्षय बनाये रखती है। इतिहास का आरंभ इन्हीं कथाओं से होता है। इन कथाओं का उद्देश चरित्रगत गुरुता की ही रक्षा करना है। इसके लिए घटना गौण है। उन्हें किसी घटना का यथार्थ वर्णन करना नहीं है, इन्हें मानवीय चरित्र की गुरुता बतलाना है। अतएव यदि घटना को कुछ परिवर्तित कर देने से चरित्र का माहात्म्य बढ़ जाता है तो कथाओं में वैसा करना अपराध नहीं है। संसार में जितनी कथाएँ प्रचलित हैं उनमें यही भाव विद्यमान है। उन सबमें चरित्र का माहात्म्य है। प्रारंभ में इतिहास और कथा में कोई भेद नहीं था। परन्तु पीछे से भेद हो गया। कथा में कल्पना की प्रधानता हुई है और इतिहास में सत्य की।

प्राचीन इतिहासों में राजाओं के कृत्यों का वर्णन है। इसका कारण यह है कि उस समय राजा ही जाति के प्रतिनिधि थे, उन्हीं में जाति की समस्त शक्ति केन्द्रीभूत हो गई थी। राज-शक्ति का ह्रास होने पर जब जाति में शक्ति प्रकट होने लगी तब आधुनिक इतिहासकारों ने जाति की विकास-कथा को अपनाया। उस समय उन्हें जाति के समस्त कृत्यों पर ध्यान देना पड़ा। जाति की शक्ति का उच्चतम विकास साहित्य और कला में हुआ

है। अतएव जाति के उत्थान-पतन को समझने के लिए उन्हें जातीय साहित्य और कला की भी पर्यालोचना करनी पड़ी। भिन्न भिन्न जातियों में पारस्परिक संघर्षण हुआ है। अतएव एक जाति का विकास देखने के लिए दूसरी जातियों की भी विशेषताओं पर ध्यान देना पड़ता है। अतएव साहित्य और कला की तुलना-मूलक विवेचना होने लगी। किसी जाति का विशेषत्व जानने के लिए यह आवश्यक है कि उसके परम्परागत संस्कारों की आलोचना की जाय। अतएव जाति के सम्बन्ध में ऐसी कोई भी छोटी बात नहीं हो सकती जिसके ज्ञान से इतिहास को लाभ न हो। प्राचीन काल में हमारे पूर्वज कहाँ रहते थे, कैसे रहते थे, किन किन लोगों से उनका सम्बन्ध था, उनका समाज कैसा था, उनकी चाल-ढाल कैसी थी आदि बातों को जानना आवश्यक हो गया है। प्राचीन काल में कितनी ही ऐसी जातियाँ हो गई हैं जिनका अब अस्तित्व तक नहीं है। निर्बल जातियाँ या तो नष्ट हो गईं या सबल जातियों में लुप्त हो गईं। परन्तु जातियों के इस पारस्परिक सम्मिलन का भी प्रभाव पड़ता है। अतएव जिनका अब अस्तित्व भी नहीं है उनकी भी विशेषता जानना आवश्यक है। भूगर्भशास्त्र के द्वारा कितनी ही प्राचीनतम जायितों के अस्तित्व का पता लगा और उसी से उनके विषय में विद्वानों को कितनी ही बातें मालूम हुईं। भाषा के द्वारा जाति की कितनी ही विशेषताएँ मालूम होती हैं। भाषा की आलोचना

से मालूम हुआ कि जो जातियाँ आज पृथक् हैं वे कभी एक थीं तब उनकी मूल-जाति की विवेचना होने लगी, इस प्रकार इतिहास का विकास होता ही जा रहा है।

इतिहास प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक तत्त्वों के अनुसन्धान में कितने ही विद्वान् आजीवन प्रयत्न करते रहते हैं।

४७—स्टीन साहब का यात्रा-विवरण

भारतवर्ष की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। प्राचीन काल में उसने विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य आदि में उन्नति भी खूब की थी। कितने ही देशों में उसी ने विद्या और विज्ञान का प्रचार किया। परन्तु प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास अभी तक नहीं बना है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतवर्ष के सम्बन्ध में अच्छी गवेषणा की है, कितने ही भारतीय पुरातत्त्वों का अनुशीलन कर उसके इतिहास की अच्छी उन्नति की है। ऐतिहासिक परीक्षा का सबसे बड़ा अवरोधक अन्धविश्वास और पक्षपात है। कुछ तो जातिगत संस्कारों के कारण और कुछ मिथ्याभिमान के कारण भारतीय साहित्य और इतिहास की समीक्षा में विद्वानों तक ने भ्रमपूर्ण सिद्धान्तों की पुष्टि करने की चेष्टा की है। जब पाश्चात्य विद्वानों ने पहले-पहल भारतीय साहित्य का अनुशीलन करना आरम्भ किया तब उन्हें पाश्चात्य सभ्यता की श्रेष्ठता पर दृढ़ विश्वास था। उनकी यह भी धारणा थी कि भारतीय सभ्यता पाश्चात्य

सभ्यता से सदैव हीन रही है। उनके इस विश्वास का फल यह हुआ कि भारतीय साहित्य तथा कला में उन्होंने जहाँ जहाँ उत्तमता देखी, वहाँ उन्होंने भारतीय सभ्यता पर ग्रीस का प्रभाव भी देखा। यह कहना बड़ा कठिन है कि भारतवर्ष ने ग्रीस से कितना लिया और उसको कितना दिया। इसमें तो सन्देह नहीं कि भारतवर्ष से योरप का सम्बन्ध प्राचीनकाल में ही हो चुका था। मिश्र, ग्रीस और रोम आदि देशों से भारत का सम्बन्ध था। परन्तु इससे अधिक कुछ भी निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता। सच तो यह है कि विद्या और विज्ञान पर किसी जाति विशेष का स्वत्व नहीं है। यदि पाश्चात्य विद्वान कला और विज्ञान की उन्नति का श्रेय एक-मात्र ग्रीस को देना चाहते हैं तो भारतीय विद्वानों में भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं है जो यहाँ तक कहते हैं कि प्रचीन भारत में जो कुछ था वह अब कहीं नहीं है और न कहीं उसके होने की सम्भावना ही है। भारतीय शास्त्रों की पूर्णता पर ऐसे विद्वानों को कभी सन्देह नहीं हो सकता। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष की मौलिकता ही नष्ट हो गई। विद्या के प्रचार और विज्ञान की वृद्धि के लिए यह सबसे अधिक आवश्यक है कि मनुष्य सदैव अपने ज्ञान की परीक्षा करता रहे। परन्तु जहाँ पूर्णता है वहाँ परीक्षा की आवश्यकता ही क्या है?

प्राचीन भारतवर्ष के गौरव की वृद्धि भारतीय पुरातत्त्व-विभाग-द्वारा हो रही है। कुछ समय से पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान

मध्य-एशिया की ओर आकृष्ट हुआ है। कई वर्ष पहले एस लोवाइ नामक एक पुरातत्त्ववेत्ता ने यह सिद्ध किया था कि कभी चीनी तुर्किस्तान पर भारत ही का प्रभुत्व था। काशगर और चीन के बीच में कूच नामक एक समृद्धिशाली देश था, जहाँ बौद्ध-धर्म और संस्कृत-साहित्य का खूब प्रचार था। तब के मध्य-एशिया के सम्बन्धमें अनेक नई बातें मालूम हुई हैं। मध्य-एशिया के सम्बन्ध में जिन विद्वानों ने खोज की है उनमें स्टीन साहब प्रमुख हैं।

आक्सफोर्ड के क्लेरडन प्रेस से सर आरल स्टीन की यात्रा का सम्पूर्ण विवरण चार जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सर आरल स्टीन का यह यात्रा-विवरण बड़े महत्त्व का है। सैकड़ों वर्ष पहले जो देश सभ्यता और समृद्धि के केन्द्र थे वही काल-क्रम से ऐसे नष्ट हो गये कि उनके अस्तित्व का भी किसी को पता नहीं था। स्टीन साहब के उद्योग से सिर्फ उनका पता ही नहीं लगा, किन्तु उनकी सभ्यता और ऐश्वर्य का भी यथेष्ट ज्ञान हो गया है। पुरातत्त्व और इतिहास को तो इससे बड़ा लाभ पहुँचा है। कई निश्चित सिद्धान्तों का खंडन हो गया और कई अनिश्चित सिद्धान्त स्थिर हो गये। स्टीन साहब के इस यात्रा-विवरण का नाम सेरिंडिया (Serindia) है। सन् १९०६ से १९०८ तक उन्होंने मध्य-एशिया में जगह जगह जो खोज की है उसका सविस्तर वर्णन इसमें है। स्टीन साहब की यह

यात्रायें ही समाप्त नहीं हो गईं। उन्हें अपनी यात्रा में दस हजार मील का चक्कर काटना पड़ा था। ढाई वर्ष तक वे सैकड़ों कष्ट सहकर अपने काम में लगे रहे। कभी उन्होंने घोड़े पर यात्रा की और कभी पैदल ही। इस यात्रा का परिणाम यह हुआ कि वे ख़ुद तो पंगु हो गये, परन्तु संसार के लिए उन्होंने ज्ञान का साधन विस्तृत कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि स्टीन साहब की गणना ह्वेनसांग और मार्कोपोलो के समान यात्रियों में की जायगी।

भारत और अफ़ग़ानिस्तान के सीमान्त प्रदेश से आक्सस तक स्टीन साहब और उनके साथी जिन रास्तों से गये उनसे उन्हें यह लाभ हुआ कि वे स्वात, दीर, चित्राल आदि स्थानों की जाँच अच्छी तरह कर सके। पामीर और हिन्दूकुश की ओर से चीन से जो आवागमन हुआ करता था उसका भी पता लग गया। वरवन और अफ़ग़ान प्रान्त में और सरीकोल से काशगर तक उन्होंने जो अन्वेषण किया उससे उनकी पहली यात्रा की कितनी ही बातें स्पष्ट हो गईं। काशगर से सर आरल यारकन्द कुनलन और खोटान गये। वहाँ उन्होंने पैमाइश और खोदाई की। फिर उन्हें रेतीले मैदानों में खोज करनी पड़ी। प्राचीन काल में चीन से खोटान तक एक रास्ता था। उसका पता लगा और ह्वेनसांग और मार्कोपोलो ने उसकी जो समृद्धि देखी थी उसके सारे चिह्न उन्हें प्राप्त हुए। लूलन के पास खुदाई करने से प्रस्तर

युग के कितने ही चिह्न मिले और इसका भी प्रमाण मिला कि पहले वहाँ कोई डेल्टा था। मीरन में उन्हें सैकड़ों तिब्बती ग्रन्थ, लकड़ी और काग़ज़ पर लिखे हुए मिले। एक टूटे-फूटे क़िले से भी कितनी ही पुरानी चीज़ें प्राप्त हुईं। उनसे यह सिद्ध हुआ कि यह स्थान आठवीं और नवीं शताब्दी तक बसा था। वहीं बौद्धों के कुछ चैत्य पाये गये। उनको साफ़ करने से उनकी दीवारों पर सुन्दर चित्र खिंचे मिले। उन पर जगह जगह ख़रोष्ठी-लिपिमें गाथायें भी अंकित थीं।

तुर्किस्तान के मरुस्थल में स्टीन साहब को एक दीवार मिली। यह दीवार ईसा के पहले दूसरी शताब्दी में हूणों के आक्रमण को रोकने के लिए चीनवालों ने बनाई थी। उन दिनों मध्य-एशिया से चीन का राजनैतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध था। सन् १९०७ में स्टीन साहब को एक ग्रन्थ-भांडार ही मिल गया। इसी तरह स्टीन साहब को अपनी यात्रा में जो जो महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त हुईं उन सबको बड़े बड़े १२ सन्दूक़ों में बन्द कर आपने इंग्लेण्ड भेज दिया। जनवरी १९०९ में ये सब चीज़ें ब्रिटिश म्यूज़ियम में पहुँच गईं। वहाँ स्टीन साहब ने कई विद्वानों की सहायता से उनकी परीक्षा की। हार्नले साहब ने हस्त लिखित ग्रन्थों की सूची बनाने में बड़ा परिश्रम किया। अन्य विद्वानों ने भी इस यात्रा-विवरण के लिखने में बड़ी सहायता दी। सच तो यह है कि जितने विद्वान् इस ग्रन्थ के निर्माण में

लगे रहे उतने तो स्टीन साहब की यात्रा में साथ नहीं रहे। तब कहीं यह यात्रा-विवरण सुलभ हुआ है।

४८—शिक्षा

आजकल शिक्षा का उद्देश जीवन-निर्वाह है। हमें अपने मस्तिष्क की उतनी चिन्ता नहीं, जितनी चिन्ता पेट की है। हमें ज्ञान-वृद्धि की चाह नहीं, मतलब उदर-पूरण से है। आप हमें गणित और दर्शन-शास्त्र की शिक्षा न दें तो हमें परवा नहीं। पर आप हमें इतना तो सिखला दीजिए की हम अपनी जीविका का उपाय ढूँढ़ निकालें। आजकल सभी देशों में साधारण लोगों को ऐसी ही शिक्षा देना आवश्यक समझा जाता है। जो दरिद्र हैं, मेहनत-मज़दूरी करके अपने दिन काटते हैं, जिनके पास उच्च शिक्षा की प्राप्तिका कोई साधन नहीं है, उनकी भी शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। योरप में कुछ पाठशालाएँ ऐसी हैं जहाँ उन्हीं लोगों को शिक्षा दी जाती है जिन्हें अपने बाल्यकाल में विशेष शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। ऐसे स्कूलों में मज़दूर भी, अवकाश के समय, पढ़-लिखकर ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान हो जाने से वे अधिक सुगमता से अपनी जीविका का प्रबन्ध कर लेते हैं। डेनमार्क में सरकार अपने प्रत्येक किसान के बच्चे के लिए कोई तीन सौ रुपया खर्च करती है। वहाँ प्रारंभिक शिक्षा तो अनिवार्य है ही। यह शिक्षा पा लेने के बाद

अठारह साल की उम्र में प्रत्येक लड़के को तीन सौ रुपये इस लिए दिये जाते हैं कि वह पाँच अर्द्धांले तक इतिहास, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन करके अच्छा नागरिक बने। जिन स्कूलों में ऐसी शिक्षा दी जाती है वे सरकार के अधीन नहीं हैं। उनकी देख-भाल प्रजा ही करती है। वहां ऐसे ७० स्कूल हैं। उनमें शिक्षा पानेवाले लड़कों की संख्या क़रीब दस हज़ार है। यह प्रणाली वहाँ सन् १८६४ से जारी है। डेनमार्क बड़ा देश नहीं। वह इतना ही होगा जितना हमारे देश का एक बड़ा जिला। पर वहाँ भी इतना अधिक शिक्षा-प्रचार है। सुनते हैं, अब वहाँ एक अन्तर्जातीय महाविद्यालय स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उस विद्यालय में भिन्न भिन्न देशोंके मजदूरों को शिक्षा देने का प्रबन्ध रहेगा। अध्यापकों में कुछ अँगरेज रहेंगे, कुछ डेनमार्क वाले और कुछ जर्मन। संभव है, इससे मजदूरों में शिक्षा के साथ साथ भ्रातृभाव का भी प्रचार हो। यह बड़ी बात है।

स्वीडन कीशिक्षा-प्रणाली का मूलमंत्र है पदार्थ-ज्ञान और मौलिक चिन्ता का उन्नति-साधन। शिक्षा का उद्देश इतना ही नहीं है कि लोगोंको कुछ विषयों का बोध करा दिया जाय। उससे लोगोंमें वह स्फूर्ति आजानी चाहिए जिससे वे स्वयं विचार द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकें।

स्वीडन में उच्च-शिक्षा पर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट है। उसमें विश्वविद्यालयों और कालेजों की संख्या पर्याप्त है। यदि

देश के विस्तार पर खयाल किया जाय तो शिक्षा-केन्द्र पर्याप्त से भी अधिक है। प्रकृति-विज्ञान में उन्नति करके स्वीडन ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। उसने शब्द-विज्ञान और इतिहास में भी अच्छी उन्नति की है। स्वीडन में उन्नसिवीं शताब्दी में धर्म-याचकों की चेष्टा से लोगों में विद्या की रुचि बढ़ी। १६८६ में एक क़ानून बना, जिससे सर्वसाधारण में शिक्षा की अभिवृद्धि होने लगी। शिक्षा-भार भी धर्मयाचकों पर न रहा, वह शासकों पर आ गया। अठारहवीं शताब्दी तक तो शिक्षा-प्रचार में शिथिलता रही। पर उन्नसीवीं शताब्दी से वहाँ शिक्षा-प्रचार का काम तेज़ी से होने लगा। शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए लोगों का आग्रह बढ़ा। १८४२ में फिर एक क़ानून जारी हुआ। इससे यह नियम हो गया कि कुछ गाँवोंके बीच एक स्कूल अवश्य होना चाहिए। उसमें एक शिक्षक की नियुक्त सरकार की ओर से हो, ज़रूरत पड़ने पर ऐसे स्कूलों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए।

उच्च शिक्षा के लिए कालेजों की भी वृद्धि हुई। अब वहाँ कालेजों की अच्छी संख्या हो गई है। उनका काम है छात्रों की मानसिक, नैतिक और शारीरिक उन्नति करना। इन कालेजों पर देख-भाल करने के लिए सरकार की ओर से एक कमेटी नियुक्त है। शिक्षक तैयार करने के लिए ट्रेनिंग कालेज हैं। आज-कल ऐसे १५ कालेज हैं, ९ पुरुषों के लिए और ६ स्त्रियों के लिए। इनके सिवा स्त्रियों के लिए और भी शिक्षा-केन्द्र हैं, जहाँ पाठ्य-

क्रम चार वर्षों में समाप्त होता है। कहने की जरूरत नहीं, शिक्षा मातृ-भाषा में दी जाती है। विदेशी भाषाओं में अँगरेजी और जर्मन को स्थान मिला है। प्रत्येक शिक्षालय में एक डाक्टर रहता है। वह छात्रों को स्वास्थ्य-विज्ञान की मौलिक शिक्षा देता है। प्रारंभिक पाठशालाओं में ७ से १४ वर्ष तक के लड़के पढ़ते हैं। जो दरिद्र हैं—अपने लड़कों की शिक्षा देने में असमर्थ हैं—उनके भी बच्चों के लिए अच्छा प्रबन्ध है। बुरे लड़कों को सुधारने के लिए एक स्कूल अलग है। वहाँ ८ महीने तक लड़के रक्खे जाते हैं।

छात्रों की शारीरिक उन्नति पर खूब ध्यान दिया जाता है। व्यायाम का एक अलग ही विषय रक्खा गया है। रोगी होने पर छात्रों की बड़ी सेवा की जाती है। इस काम के लिए एक समिति है। उसी के निरीक्षण में रुग्ण छात्र किसी अच्छे स्थान में रक्खे जाते हैं।

देश की भविष्य उन्नति छात्रों पर ही अवलम्बित रहती है। जो देश उनके सुधार के लिए इतना यत्नशील है उसकी क्यों न उन्नति हो? इसी लिए सभी उन्नति-शील देश यही प्रयत्न करते हैं कि वहाँ सभी साक्षर हो जायँ। गूंगे और अन्धे तक की शिक्षा के लिए यथेष्ट प्रबन्ध किया जाता है।

४९—भारतवर्ष में अन्धों के लिए स्कूल

अन्धों के लिए सबसे पहले पेरिस में एक संस्था खोली गई। यह सन् १२६० ईसवी की बात है। यह एक अस्पताल था। यह

उन सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा के लिए स्थापित हुआ था जो क्रसेड नामक धर्मयुद्ध में अपनी दृष्टि-शक्ति खो बैठे थे। इसके संस्थापक सेंट लुई थे। ऐसे और भी कई अस्पताल अपाहिजों के लिए खुले। परन्तु उनमें शिक्षा देने का कभी प्रयत्न नहीं किया गया। सन १६५७ ईसवी में जे० बर्नूली नामक एक सज्जन ने एक अन्धी लड़की को अक्षर लिखना सिखा दिया। बस इसके बाद अन्धों को शिक्षा देने की किसीने चेष्टा न की। १७८४ ईसवी में पेरिस के वेलनशिया हाय को ही सबसे पहले इस काम में सफलता प्राप्त हुई। उस उदारचेता पुरुष ने अन्धों की शिक्षा के लिए बड़ा आन्दोलन किया। उसीके उद्योग का यह फल है कि अब सभी सभ्य देशों में अन्धों की शिक्षा के लिए अच्छी अच्छी संस्थाएँ खुल गई हैं, ऐसे कारखाने भी स्थापित हो गये हैं जहाँ अन्धे आदमी काम करके मजे में अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं। ऐसी संस्थाओं के हम छः विभाग कर सकते हैं—(१) स्कूल जहाँ रह कर अन्धे छात्र शिक्षा पाते हैं, (२) ऐसे स्कूल जहाँ कारखाने भी हैं, (३) कारखाने जो सिर्फ अन्धों के लिए हैं, (४) सेवाश्रम जहाँ अन्धे रक्खे जाते हैं, (५) स्कूल और सेवाश्रम, (६) कारखाने और सेवाश्रम।

अन्धों के लिए पहले जो पुस्तकें तैयार होती थीं उनके अक्षर उभड़े हुए रहते थे। अन्धा आदमी उन्हें टटोल कर

पढ़ सकता था। कुछ समय के बाद एक अन्धलिपि का आविष्कार किया गया। इससे अन्धों को पढ़ाने लिखाने में बड़ी सुविधा हो गई। उनके लिए उसी लिपि में तरह तरह को पुस्तकें लिखी गईं, पर कुछ समय से वैज्ञानिक इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि अन्धे साधारण छापे की भी पुस्तकें पढ़ने लगें। एक ऐसे यंत्र का आविष्कार हुआ भी है। उसका नाम है ओलोफ़ोन, पर यह यंत्र निर्दोष नहीं था। उसके दोषों को दूर करने के लिए गत दो वर्षों से वैज्ञानिक विद्वान् परिश्रम कर रहे हैं। उन्हें अब अपने उद्योग में अच्छी सफलता हो गई है। ओलोफोन में बहुत कुछ सुधार हो गया है। उसकी सहायता से अन्धा आदमी एक मिनट में २५ शब्द तक पढ़ सकता है। यही बहुत है। यह परिणाम ग्लासगो के डाक्टर बार और स्ट्राउड नामक विद्वान् के दो वर्षों के अनवरत परिश्रम का है।

अन्य देशों में प्रायः अन्धों की शिक्षा का प्रबन्ध सरकार ही करती है। भारतवर्ष में ऐसी संस्थायें प्रायः सर्वसाधारण के ही धन से चलती हैं। सरकार से उनको सहायता जरूर मिलती है। एक ऐसे ही संस्था कलकत्ते में है। १८९७ में उसे श्री युत लालविहारी शाह नामक एक ईसाई सज्जन ने खोला था। उसमें सभी धर्मों के अन्धे लड़कों को रखने का प्रबन्ध है। लड़के वहाँ घर ही की तरह आराम से रहते हैं और ऐसी शिक्षा पाते हैं जिससे वे

जीविकोपार्जन कर सकें। उन्हें निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। भोजन भी मुफ़्त दिया जाता है। वे बेत से कुर्सी, चिक, टोकरी आदि बनाना सीखते हैं। उन्हें कुछ साधारण सी शिक्षा भी दी जाती है और संगीत भी सिखाया जाता है। इस संस्था का खर्च उदारचेताओं के दान से ही चलता है। बंगाल की सरकार और कलकत्ता म्युनिसिपल कारपोरेशन से भी कुछ वार्षिक सहायता मिलती है। अन्धों के कुछ स्कूल और भी हैं। लाहौर में अन्धों के लिए एक सरकारी स्कूल है। वह पञ्जाब के शिक्षा-विभाग की ओर से सन् १९०६ ईसवी में स्थापित हुआ था। आज कल उसमें विद्यार्थियों की संख्या सिर्फ २० है। देहरादून के पास राजपुर में ईसाइयों ने एक स्कूल खोल रक्खा है। वहाँ चार या पाँच रुपये महीने का खर्च है। लड़कों को उद्योग-धन्धे की बातें भी सिखाई जाती हैं। इनके सिवा जमनामिशन, इलाहाबाद; डबलिन यूनीवर्सिटी मिशन, छोटा नागपुर; विक्टोरिया ब्लाइंड स्कूल, बम्बई; स्कोच मिशन, पूना; और कोटा में मिस ऐशवर्थ का स्कूल भी अन्धों के लिए है।

५०—योरप में नये ढङ्ग के विद्यालय

पाश्चात्य देशों में आजकल शिक्षा-प्रचार के लिए बड़े बड़े प्रयत्न किये जा रहे हैं। वहाँ के शिक्षा-विभागवालों और अन्यान्य शिक्षाप्रेमी सज्जनों का अधिक समय सदा इन्हीं बातों के सोचने में अतिवाहित हो रहा है कि किन उपायों-द्वारा देश के

नवयुवक सुशिक्षित बनाये जा सकते हैं। शहर की कोलाहल-पूर्ण सड़कों और अँधरी तथा तँग गलियों में अवस्थित स्कूलों और कालेजों की बड़ी बड़ी इमारतों में ठूँस ठूँस कर विद्यार्थियों को पढ़ाना अब बहुत ही हानिकारक समझा जा रहा है। अब बेंचों तथा कुर्सियों पर बैठकर पढ़ना अस्वस्थ कर ठहराया जा रहा है। पाश्चात्य देशों में अब खुली हवा में और खुले हुए स्थानों में ही जहाँ प्रकृति का पूर्ण विकास दिखाई देता है और बालकों के हृष्टपुष्ट रहने की हर प्रकार की आशा की जा सकती है, शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जा रहा है। इसी बात को ध्यान में रखकर अब खुले हुए स्थानों में स्कूलों के बनवाने का प्रबन्ध किया जा रहा है। शाटलाहनबरा नामक शहर की शिक्षा-परिषद् ने इस प्रकार का एक स्कूल बनवाया भी है। शहर से दूर एक बड़े जँगल के बीच में दो स्कूल तैयार हुए हैं। शिक्षार्थी बालक-बालिकायें यहीं रहती और पढ़ती लिखती हैं। शहर से दूर धूलि-धूम-रहित और जन-कोलाहल-शून्य इस निर्जन अरण्य में ये स्कूल बहुत ही सुन्दर मालूम होते हैं। यहाँ सवेरे साढ़े ग्यारह बजे तक पढ़ाई होती है। एक घंटा चालीस मिनट का होता है। हर घंटे के बीतने पर बालकों को कुछ मिनटों की छुट्टी दी जाती है। पढ़ाई के घंटों में जितने समय की वृद्धि होती है उसी हिसाब से छुट्टी का समय भी बढ़ा दिया जाता है। शिक्षार्थी और शिक्षक सभी ज़मीन पर घास के आसनों पर

बैठते हैं। अध्यापक लोग अपने गाम्भीर्य और गौरव के ध्यान को बिलकुल भूलकर बड़े सरल भाव से बालकों के बीच जमीन पर बैठे रहते हैं। यहाँ जितने लोग हैं सब के चेहरों पर आनन्द और उत्साह की ज्योति दिखाई देती है। एक शिक्षक बीस बालकों से अधिक बालकों के पढ़ाने का भार अपने ऊपर नहीं लेता। इससे यह लाभ होता है कि विद्यार्थियों की मानसिक विशिष्टता पर ध्यान रख कर उनकी धारणाशक्ति के अनुसार उन्हें यथेष्ट शिक्षा देता है।

इन स्कूलों के विद्यार्थी अपना सब काम अपने ही हाथ से करते हैं। इससे उनमें स्वावलम्बन और परस्पर साहाय्य करने का भाव उदित हो जाता है। इस शान्त और निस्तब्ध स्थान में रहने से विद्यार्थियों को गहन से गहन विषयों पर भी अचंचल रूप से सोच-विचार कर सकने का बहुत ही अच्छा अभ्यास हो जाता है।

यहाँ जितने लोग हैं उन सबको बहुत ही सादा और मोटा-झोटा भोजन मिलता है। परन्तु स्वच्छ और स्वास्थ्य-कर वायु में रहने के कारण पाचन-शक्ति ऐसी बढ़ जाती है और ऐसी मीठी भूख लगती है कि वही सादा और मोटा भोजन राज-भोग के समान स्वादिष्ट प्रतीत होता है। यहाँ जो रोगी बालक और बालिकायें आती हैं वे भी दो ही तीन हफ़्तों के भीतर स्वस्थ हो जाती हैं और उनके शरीर का वज़न बढ़ने लगता है।

स्कूल से छुट्टी पाकर शिक्षार्थी और शिक्षक इधर-उधर टहलने और अपना मन बहलाने लगते हैं। बालक और बालिकायें अनेक प्रकार के खेल खेला करती हैं। झुण्ड के झुण्ड बालक देवदार के वृक्षों के नीचे बैठ कर अनेक प्रकार के खेल खेलते हैं। बालिकायें वृक्षों के नीचे बैठकर मालायें गूँथती और कहानियाँ कहती और सुनती हैं। इसी प्रकार वहाँ जितने लोग रहते हैं वे सब चारों ओर घूम घूमकर प्रकृति की शोभा का आनन्द लूटते हैं।

इन स्कूलों के विद्यार्थियों के इस आनन्दपूर्ण जीवन को देख कर लोग बिना किसी रोक-टोक के अपने बच्चों को वहाँ रहने के लिए खर्च भेजते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाश्चात्य देशों में इन अरण्य-विद्यालयों की स्थापना हमारे भारतीय तपोवनों और आश्रमोंवाली प्राचीन पाठशालाओं के ही नमूने पर हुई है। परन्तु दुःख का विषय है कि हम अभी तक आधुनिक मदरसों और स्कूलों में ही अपने बालकों की मिट्टी पलीद कर रहे हैं। मध्याह्नकाल में पशुओं की तरह एक ही कमरे में बहुत से विद्यार्थियो को भर कर अध्यापक महाशय को चरवाहे के रूप में बैठा देते हैं। इसका जो बुरा प्रभाव विद्यार्थियों के स्वास्थ्य और मस्तिष्क पर पड़ता है उससे प्रायः सभी लोग अब भली भाँति अवगत हो गये हैं।

५१—प्राचीन भारतीय नरेशों की जीवन-चर्या

कालिदास के स्थितिकाल का निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। अधिकांश विद्वानों की यह सम्मति है कि कालिदास गुप्त-वंश के उत्कर्षकाल में हुए। पर अभी हाल में कुछ विद्वानों ने यह प्रमाणित किया है कि ईसा के पहले प्रथम शताब्दी में कालिदास का आविर्भाव हुआ था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास के समय में भारतवर्ष खूब उन्नतावस्था में था। कला-कौशल और वाणिज्य-व्यवसाय में तो वह खूब बढ़ा-चढ़ा था ही, उसकी राजशक्ति भी प्रचण्ड थी। सभ्यता में वह संसार के सभी देशों में अग्रगण्य था। कालिदास के काव्यों में उसी सभ्यता का विशद चित्र अंकित किया गया है। यहाँ हम उन्हीं के वर्णन के आधार पर प्राचीन भारतीय नरेशों की जीवनचर्या का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। जन्म से लेकर मृत्युकाल तक भारतीय अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करते थे, उनकी शासन-प्रणाली कैसी थी, उनके अन्तःपुर में किस प्रकार के अमोद-प्रमोद होते थे, प्रजा के साथ उनका कैसा व्यवहार था आदि बातों की चर्चा यहाँ की जायगी।

भारतीय नरेशों के लिए निस्सन्तान होना बड़ा ही क्लेश-दायक था। उनका विश्वास था कि विशुद्ध सन्तति से इह लोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है। पितृऋण से किसी

मनुष्य का उद्धार तभी हो सकता है जब वह अपने पीछे कोई सन्तान छोड़ जाय, जो पितरों को पिण्डदान और तर्पण करे। पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञों तक का विधान था। यदि दैव की कृपा से राजमहिषी गर्भवती हुई तो उससे राजा और प्रजा दोनों को अपार आनन्द होता था। गर्भवती रानी की सेवा में बराबर नौ महीने तक कुशल और विश्वासपात्र राजवैद्य लगे रहते थे। उसकी सभी इच्छाएँ पूरी की जाती थीं। बालक के उत्पन्न होने पर कुलगुरु अथवा पुरोहित आकर उसका जातकर्म-संस्कार कराता था। पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में खूब उत्सव किया जाता था। आमोद-प्रमोद में नृत्य और गान मुख्य था। राजे-महाराजे अपने क़ैदियों को छोड़कर हर्ष प्रकट करते थे। दान भी खूब दिया जाता था। बच्चे के लिए एक धाय रक्खी जाती थी। जब बालक कुछ बड़ा हो जाता तब उसका चूड़ा-कर्म होता। इसके बाद विद्यारंभ कराया जाता था। पहले लिपि और संख्या-ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। ११ वर्ष की अवस्था में क्षत्रियों का उपनयन-संस्कार होता था। तब तक शिक्षा घर ही पर दी जाती थी। नदी के द्वारा जैसे जलचर जीव समुद्र के भीतर घुस जाते हैं, उसी प्रकार वर्णमाला की शिक्षा पाकर राजकुमार का प्रवेश शब्दशास्त्र में हो जाता था। यज्ञोपवीत हो जाने के बाद राजकुमार को पढ़ाने के लिए बड़े बड़े विद्वान् नियुक्त होते थे। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति,

इन चार विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देने के लिए एक दूसरा ही श्रेष्ठ योद्धा नियुक्त होता था। राजकुमार को ब्रह्मचारी बनकर शिक्षाग्रहण करनी पड़ती थी। शिक्षा-काल में उसको हिरन का चर्म पहनना पड़ता था। शिक्षाकाल समाप्त हो जाने पर गोदान-संस्कार होता था। तब विवाह होता था। पर राजकुमार की शिक्षा का अन्त यहीं न हो जाता था। सच पूछा जाय तो उसकी शिक्षा तभी प्रारम्भ होती थी जब राजकुमार युवराज के पद पर बैठाया जाता था। तब उसे राज्य के भिन्न-भिन्न विभागों में बड़े बड़े अधिकारियों की देख-रेख में भिन्न भिन्न विषयों का अनुभव कराया जाता था। इसके बाद उसे सेनानायक का पद सौंपा जाता था। राजकुमार का विवाह खूब धूम-धाम से होता था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के समय में कन्या का पिता वर की खोज नहीं करता था, कम से कम वह वर की याचना तो नहीं करता था। बारात बड़ी धूम से जाती थी। गृह-प्रवेश करने के बाद वर को आसन दिया जाता था। फिर मधुपर्क और अर्घ्य आदि से उसकी पूजा की जाती थी। इसके बाद उसे रमणीय रत्न और रेशमी कपड़ों का एक जोड़ा दिया जाता था। वर को कपड़े पहनाकर लोग वहाँ पहुँचाते थे, जहाँ वधू बैठी रहती थी। वहाँ पुरोहित पहले हवन करता था। हवन समाप्त होने पर उसी अग्नि को विवाह का साक्षी करके वर और वधू का

ग्रन्थि-बन्धन कर दिया जाता था। फिर पाणी-ग्रहण होता था। कन्या-दान हो जाने के बाद वे दोनों प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे। प्रदक्षिणा खतम होने पर पुरोहित वधू को हवन करने की आज्ञा देता था। तब वधू अग्नि में धान की खीलें डालती। इसके बाद वर और वधू के सिरपर गीले अक्षत डाले जाते थे। पहले स्नातक गृहस्थ अक्षत डालते, फिर बन्धु-बान्धव, फिर सौभाग्यवती पुरवासिनी स्त्रियाँ। घर लौट आने पर विवाह का कंकण खोला जाता था।

राजा की मृत्यु हो जाने पर युवराज का राज्याभिषेक-संस्कार होता था। अभिषेक के लिए चार स्तम्भों का एक मंडप खड़ा किया जाता था। उसके बीच में एक ऊँची सी वेदी बनाई जाती थी। वहाँ पैतृक सिंहासन रक्खा जाता था। युवराज उसीपर जाकर बैठता था। तब तीर्थों के जल से भरे हुए सोने के कलश से लेकर सब मंत्री सामने खड़े होते। अभिषेक का आरम्भ होते ही तुरहियाँ बजाई जातीं। सबसे पहले दूब, जौ के अंकुर, बरगद की छाल और कोमल पल्लव थाली में रखकर बूढ़े बूढ़े सजातीय राजा की आरती उतारते। तदनन्तर वेद-वेत्ता ब्राह्मण पुरोहित को आगे करके अथर्ववेद का मंत्र पढ़कर राजा ब्राह्मणों को अपार धन देता। क़ैदी और अपराधी बन्धन से उन्मुक्त किये जाते। गाय-बैल और तोते आदि पक्षी तक छोड़ दिये जाते थे।

कालिदास ने अपने रघुवंश में सभी राजाओं के दिग्विजय का उल्लेख किया है। इससे यह जान पड़ता है कि उस समय प्रत्येक हिन्दू राजा के चित्त में आसमुद्र क्षितीश बनने की अभिलाषा रहती थी। सारे देश को अपने आधिपत्य में लाकर उसे समृद्धिशाली और सुखी बनाना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। जब राजा युद्ध के लिए प्रयाण करता तब पुरोहित आकर पवित्र मंत्रोच्चारण-पूर्वक राजा के शरीर पर जल छिड़कता। फिर वाजिनीरांजन की विधि की जाती थी और हवन किया जाता था। जब राजा जाने लगता तब उसपर पुरवासिनी धान की खीलें बरसातीं। दिग्विजय कर लेने के बाद यज्ञ किया जाता था। इस प्रकार के यज्ञ हिन्दुओं के असीम राजनैतिक ज्ञान के परिचायक हैं। इस सम्बन्ध में वाजपेय और राजसूय यज्ञ ध्यान देने योग्य हैं। राजसूय-यज्ञ करने से राज-पद मिलता था, पर वाजपेय करने से सम्राट्-पद मिलता था।

कालिदास ने यत्रतत्र राजाओं की भोगविलासता का वर्णन किया है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने राजा के अविश्रान्त परिश्रम का भी उल्लेख किया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में कञ्चुकी ने कहा है—'अथवा विश्रमोऽयं लोकतंत्राधिकारः। कुतः।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव, रात्रिं दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहित भूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥,

इससे यह जाना जाता है कि प्राचीन काल में भारतीय नर-पति राज-काज में अपना कितना अधिक समय लगाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय राजा यथाकाल प्रबोधी थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को तीन बजे उठ जाना चाहिए। जब राजा के सोकर उठने का समय होता तब सूत-पुत्र आकर उसका स्तुति-गान करते। राजसभा में आने के पहले राजा शृंगार करता था। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय राजाओं को लम्बे केश रखने का बड़ा शौक था। उनका यह केश-कलाप मोतियों की माला से बाँध दिया जाता था। शरीर पर चन्दन का लेप करके उस पर गोरोचन से बेल-बूटे बनाये जाते थे। उनकी पोशाक में दो ही वस्त्र रहते थे, एक पहनने के लिए और दूसरा ओढ़ने के लिए। राजा रत्नजटित मुकुट सिर पर धारण करते थे, कानों में कुंडल पहनते थे। गले में पहनने के लिए मोतियों और रत्नों के हार थे। भुजाओं में केयूर या अङ्गद पहने जाते थे। हुएनसांग ने लिखा है कि राजाओं के सिंहासन ऊँचे और तंग होते थे। उनमें मोतियों की झालरें लगी रहती थीं। सिंहासन के नीचे रत्नों से विभूषित एक पाद-पीठ रक्खा रहता था। राजा उसी पर पैर रखता था। सामन्त और उच्च पदाधि-कारी उसी पर सिर रख कर प्रणाम करते थे। राजा शासक था और न्यायाधीश भी। धर्मशास्त्र में पारङ्गत पण्डितों के साथ बैठ कर प्रतिदिन वह स्वयं ही वादियों और प्रतिवादियों के अभियोगों

को सुनता और उनका फैसला करता था। प्रतिदिन मंत्रियों के साथ गुप्त मन्त्रणाएँ करने के लिए एक सभा होती थी। उसमें पहले वाद-विवाद होता था और तब कोई विचार स्थिर किया जाता था। ये सब बातें बड़ी गुप्त रक्खी जाती थीं। गुप्त भेद लेने के लिए जासूस रक्खे जाते थे। उनका काम शत्रुओं ही की खबर रखना नहीं था, किन्तु मित्रों का भी हाल-चाल देखते रहने की उन्हें आज्ञा थी। राजा को प्रतिदिन अपनी प्रजा को दर्शन देना पड़ता था। जान पड़ता है, इसके लिए एक झरोखा बना रहता था। जब अग्निवर्ण अन्तःपुर में ही रहने लगा तब मंत्रियों से बाध्य किये जाने पर उसे अपना पैर एक खिड़की में लटकाना पड़ा। प्रजा ने उसके पैरों ही के दर्शन से सन्तोष कर लिया।

राजा प्रायः अपनी राजधानी में ही रहा करते थे। नगर ऋद्धि-सम्पन्न होते। उसके चारों ओर एक परकोटा घिरा रहता था। वहाँ बड़ी बड़ी ऊँची अट्टालिएँ बनी रहती थीं। राजमार्ग खूब चौड़े और साफ होते थे। उनपर पानी का छिड़काव किया जाता था। वाटलियों की संख्या अगण्य थी। घर के भीतर दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। भारतीयों को बाग़-बगीचे लगाने का बेहद शौक था। पुरुष घूमने जाते थे और उनमें बसन्तोत्सव के समय लोगों की खूब भीड़ होती थी। इन बाग़ों के सिवा सभी श्रीमानों के घरों

में पुष्पोद्यान होते थे। जब गरमी खूब पड़ने लगती थी तब अमीर ऐसे मकानों में रहते थे जिनमें जल के फ़ौवारे चला करते थे। फ़र्श पर चन्दन का छिड़काव किया जाता था फूलों की शय्या बनाई जाती थी। नगर में सैकड़ों बड़े बड़े मन्दिर थे। उनमें देवताओं की मूर्त्तियाँ स्थापित थीं, जिनकी पूजा-अर्चना बड़ी धूमधाम से की जाती थी।

राजाओं को शिकार खेलने का भी खूब शौक था। राजा राजसी ठाट के साथ शिकार खेलने के लिए निकालता था। उसके साथ कितने ही शिकारी और कर्मचारी जाते थे। शिकार खेलने के लिए शिकारी कुत्ते पाले जाते थे। किसी किसी राजा के समय कुछ स्त्रियाँ भी जाती थीं। मेगा-स्थनीज़ ने भी लिखा है कि शिकार के समय चन्द्रगुप्त को सैकड़ों स्त्रियाँ घेरे रहती थीं। अभिज्ञान-शाकुन्तल में ऐसी स्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

राजाओं की अन्तः पुर सौन्दर्य और विलास का निवास-स्थान था। अन्तःपुर में द्वारक्षक का पद कंचुकी को दिया जाता था। जब राजा अन्तःपुर में हो तब उससे भेंट करने के लिए कंचुकी के द्वारा खबर भेजनी पड़ती थी। आवश्यक काम होने पर मंत्री अन्तःपुर में जा सकता था। राजाओं में बहुपत्नी-विवाह की प्रथा होती थी। सभी राजाओं की एकाधिक रानियाँ होती थीं इनके सिवा दासियाँ भी वहाँ रहा करती थीं। अन्तः पुर में सदैव आमोद-प्रमोद होते रहते थे। नृत्य और संगीत की

धूम मची रहती थी। इसकी शिक्षा देने के लिए बड़े बड़े कलाकोविद नियुक्त होते थे। वाद्यों में मृदङ्ग और वीणा का प्रचार था। स्त्रियाँ वीणा ही बजाया करती थीं। चित्र-कला में वे दक्ष होती थीं। स्त्रियाँ साड़ी पहना करती थीं। चोली का भी प्रचार था। पर्दे का रवाज नहीं था, तो भी बाहर निकलने पर स्त्रियाँ मुँह पर घूँघट निकाले रहती थीं। उनके अलंकारों में कांची और नूपुर मुख्य थे। वे आँखों में कज्जल और पैरों में महावर लगाती थीं। केशों को फूलों की माला से बाँधा करती थी। फूलों के गहने पहनना उन्हें खूब पसन्द था। मदिरा का प्रचार था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के समय में शराब पीने की आदत खब बढ़ गई थी। स्त्री-पुरुष दोनों खुल्लमखुल्ला शराब पीते थे।

कालिदास के समय में सामाजिक व्यवस्था वैसी ही थी, जैसी आज-कल है। हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मणों का बड़ा मान और आदर था। प्रत्येक वर्ण के मनुष्य अपने ही वर्ण में विवाह करते थे। सती की प्रथा का जोर नहीं था। मिट्टी के बर्तन भी काम में लाये जाते थे। स्पर्शास्पर्श का विचार था।

राज्यशासन का समस्त भार राजा ही पर था। वही अपने विस्तृत राज्य का निरीक्षण करता था अपनी प्रजा के साथ राजा सदैव सद्व्यवहार करता था। शासन कठोरता से नहीं किया जाता था। राज्य की आमदनी का मुख्य द्वार भूमिकर था। उपज का छठाँ हिस्सा भूमिकर के रूप में लिया जाता था। प्रजा सन्तुष्ट

और सुखी थी। वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नतावस्था थी। बड़े बड़े व्यापारी जहाजों पर चढ़ कर दूर दूर देश जाते और वहाँ व्यापार करते। चोरों और डाकुओं का कम भय था। चोरों को प्राणदण्ड दिया जाता था। सोने के सिक्कों का प्रचार था। राज्य-कर्मचारी घूस लिया करते थे। सेना-विभाग की अच्छी व्यवस्था थी। सेना के चार भाग थे—पैदल, सवार, रथ और हाथी। शिक्षा का अच्छा प्रचार था। राजा विद्वानों का आदर करते थे।

५२—कवि-रहस्य

सत्य,

कवि होना बड़ा कठिन माना गया है। इसके लिए ईश्वर प्रदत्त शक्ति चाहिए। कहावत प्रसिद्ध है कि कवि बनाया नहीं जाता, वह जन्म लेकर आता है। तोभी अभ्यास से लोग कवित्व-पूर्ण पद्यों की रचना कर सकते हैं। यह सच है कि ऐसी पद्य-रचना से कोई कवियों की पंक्ति में नहीं बैठ सकता। पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उसकी अच्छी क़द्र होती है। इसलिए यह सर्वथा निरर्थक नहीं कही जा सकती। हिन्दी के पत्रों में जो कवितायें छपती हैं उनके विषय में हम राय देने का साहस नहीं कर सकते। पर अँग्रेज़ी पत्रों के विषय में हम यह कह सकते हैं कि वे ऐसी रचनाओं की क़द्र करते हैं जो चटपटी हों। वहाँ करुण-रस की अपेक्षा हास्य-रस का आदर अधिक है। यह

उचित भी है। भला यह बात कौन पसंद करेगा कि हम पत्र तो उठावें मन बहलाने के लिए, पर पढ़ते ही रोने लगे। मैं स्वयं एक लेख पढ़कर कवि हो गया हूँ। मैं तुम्हें भी उसका मर्म बतला देना चाहता हूँ। संभव है, इससे तुम्हरा भी कुछ उपकार हो सके। तुम भी कवि हो कर ख्याति प्राप्त कर लो। सुनते हैं कि कलकत्ते में किसी उदार चेता सज्जन ने एक दूकान ही खोल दी है और घर बैठे लोग कवि बना दिये जाते हैं।

पाश्चात्य देशों में पत्र के संपादकों का यह एक नियम हो गया है कि ज्यों ही किसी का कुछ नाम सुना, त्योंही वे उसके रहस्य जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्यों के सभी कृत्यों में कुछ न कुछ रहस्य छिपा रहता है। यदि हम यह रहस्य जान लें तो उससे पूरा लाभ उठा लें। यह जानने की मेरी बड़ी इच्छा है कि हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि किस तरह कविता-रचना करते हैं। उनकी कविता-कामिनी का निवास-स्थान हृदय में है या मस्तिष्क में। वे भाव के उद्वेग से कविता लिखते हैं या मस्तिष्क की उत्तेजना से।

अपनी रचना में उन्हें कभी अड़चन पड़ती है या नहीं? यदि किसी तरह की अड़चन होती है तो वे उसे किस तरह पार करते हैं। किन्तु इन सब बातों के जानने का कोई उपाय नहीं। अतएव वर्तमान हिन्दी-कविता का रहस्योद्घाटन करना संभव नहीं। एक बार उसका आभास मुझे जरूर मिला था।

हिन्दी के पत्रों में कवि नाम का एक चित्र प्रकाशित हुआ था। उसमें दिखालया गया था कि सरोवर के किनारे बैठ कर एक कवि कविता लिख रहा है। पर मैं नहीं कह सकता कि हिन्दी के सभी कवि इसका अनुकरण करते हैं। मैं तो कभी ऐसा नहीं करता। खैर, हिन्दी के कवि अपना कला-कौशल गुप्त रक्खें। यहाँ तुम्हें अपने ही कला-कौशल का रहस्य बतलाते हैं। किस तरह कविता लिखी जाती है? भला यह भी किसी तरह बतलाया जा सकता है। कवि तो ईश्वरीय शक्ति की प्रेरणा ही से भावोन्मेष में कविता की रचना करता है। यदि मुझ में भी ईश्वरीय शक्ति का कुछ अंश होता तो मैं ऐसी बातों को अपमान जनक समझता। पर बात यह है कि मुझ में ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा नहीं है। मैं तो तुक्कड़ हूँ। सच तो यह है कि मेरी कला बड़ी सरल है, मुझे आश्चर्य इसी बात का है कि सभी लोग कवि क्यों नहीं हो जाते। पद्य-रचना से सबसे बड़ा लाभ यह है कि समय अच्छी तरह से कट जाता है। जहाँ तबीयत घबराने लगी वहीं एक कोने में बैठकर कविता लिखने लगे। बस, समय कट गया। दूसरी बात यह कि अपने मित्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने का सबसे सुगम उपाय यही है। और सामयिक पत्रों में संपादक की दया से, इससे अर्थ की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार यह पद्य-रचना चतुर्वर्ग प्राप्ति का साधन है। कवियों के लिए दो चीजों की बड़ी जरूरत है। एक तो फाउन्टेन पेन और दूसरा कोरा कागज।

जो अभी छोटे कवि हैं उन्हें चाहे एक-आध चीज़ की और ज़रूरत पड़े। उदाहरण के लिए एक कोष और दूसरा मस्तिष्क। पर प्रायः ऐसा होता है कि कोरे काग़ज़ पर दीर्घ काल तक दृष्टि जमाये रहने से कविता के रूप में कुछ न कुछ प्रकट हो जाता है। काग़ज और क़लम के बाद कवि के लिए एकान्त-स्थान होना चाहिए। मात्रा और छन्द का ज्ञान होना चाहिए और मस्तिष्क में शब्दों का असर होना चाहिए, जिससे बार बार कोष देखने की ज़रूरत न पड़े। इसके साथ उसके अदम्य उत्साह होना चाहिए। कवियों को तरह तरह की अड़चनों से सामना करना पड़ता है। उनसे घबराकर कविता करना छोड़ नहीं देना चाहिए।

सबसे पहले कवियों को यही सोचना पड़ता है कि क्या लिखूँ। अर्थ की सिद्धि तभी होती है जब सम्पादकों के बाज़ार में जिन विचारों की क़द्र नहीं होती उन्हें दूर करने की शक्ति हो। कवि सिर्फ़ उन्हीं विचारों को पद्य-बद्ध करे जिनकी बिक्री होती है। कभी कभी मस्तिष्क में बिजली की तरह कोई विलक्षण विचार उपज पड़ता है। पर ज्योंही उसे काग़ज़ में व्यक्त करो उसकी चमक जाती रहती है। कभी कभी विचार इधर से आता है और उधर से निकल जाता है। विचार बड़े ही चपल होते हैं। मैं तो यह समझता हूँ कि इन मछलियों को फन्दों में फँसाना सहज नहीं है। एक बार मुझे एक कविता के अन्तिम दो चरण

बनाने थे मुझे एक विचार की जरूरत थी। मैं फन्दा लिये बैठा ताक रहा था। वह आया, आ गया, तुरन्त ही फन्दे में फँसाना चाहा, इतने में किसी ने बाहर से दरवाजे को खटखटाया, मछली भाग गई। मैंने विरक्त होकर दरवाजा खोल दिया। छोटे छोटे कवियों को ऐसी ही बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसके लिये एकान्त-स्थान की बड़ी जरूरत है।

छन्द और मात्रा के साथ ही शब्दों की गति का ज्ञान बड़ा आवश्यक है। कहानी प्रसिद्ध है कि किसी ने एक जाट से कहा, 'जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट' जाट ने उत्तर दिया, 'तेरे सिर पर कोल्हू'। उस आदमी ने कहा, 'भाई तुक तो नहीं मिला'। जाट ने कहा न मिले मुझे क्या परवा है। पर कवि को इसकी परवा करनी पड़ती है।

लोग कहा करते हैं, बात अनोखी चाहिए भाषा कैसी भी होवे। पर यह बात ठीक नहीं है। विचारों के लिए कोई कवि नहीं रुकता है। रुकता है तो भाषा के कारण। बात पहले गद्य भाग में होती है, फिर वह पद्य भाग में हो जाती है और तब उसका रूप दिव्य हो जाता है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्टत्यग्रे' गद्य भाग का है। और पद्य भाग में उसका रूप होता है 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः'। अच्छा अब एक उदाहरण लीजिए।

गद्य-भाग—एक वृक्ष है, इसका नाम शाल है। देखो, यह कितना ऊँचा है, जमीन को फाड़ कर आकाश को छा रहा है।

यहाँ चिड़ियाँ बसेरा करती हैं। इसे देख कर आँखें ठण्डी हो जाती हैं। इसके नीचे मुसाफिर ठहर कर विश्राम करते हैं। पर खूब मजबूत झाड़ है। हवा इसे गिरा नहीं सकती। सुगन्धि हवा में फैल रही है। आओ इस झाड़ को प्रणाम करें। यदि हम इसे किसी पत्र सम्पादक के पास भेजें तो वह कूड़ा-कचरा समझ कर फेंक देगा। पर जब हम इसे अपने मस्तिष्क के पद्य-भाग में भेजते हैं तब देखिए, इसका रूप दिव्य हो जाता है। जो पढ़ेगा वही मुग्ध हो जायगा।

पद्य भाग—

हे कलकंठ खगों के आश्रम, पोषक था प्रतिपाल प्रणाम,
अय भूतल को भेद गगन में उठनेवाले शाल प्रणाम।
हरे-भरे, आँखों के शीतल करनेवाले तुम्हें प्रणाम।
छाया देकर पथिकों के श्रम हरनेवाले तुम्हें प्रणाम।
अटल अचल, न किसी बाधा से डरनेवाले तुम्हें प्रणाम।
सुहृद सुमन, सौरभ समीर में भरनेवाले तुम्हें प्रणाम।

यह एक उत्कृष्ट कविता है। कविता में जो जो गुण चाहिए वे सब इसमें हैं। इसमें माधुर्य है, भाषा सौष्ठव है और वह भाव है जो पाठकों को क्षण भर पृथ्वी से हटा कर ऊँचे ले जा सकता है।

कविता का प्रधान गुण है भाव और भाषा की सरलता। छोटे कवियों के लिए यह सबसे आवश्यक गुण है आपको जो जो कहना हो साफ़ साफ़ कह दीजिए।

भला लोग कोई क्षुद्र कवि का अर्थ समझने का प्रयास क्यों उठावेंगे। हाँ किसी प्रतिभा-संपन्न महाकवि का अर्थ न समझने पर सभी उसकी विलक्षणता पर मुग्ध हो जायेंगे। भाषा की सरलता का एक बड़ा उदाहरण नीचे दिया जाता है।—

प्यारी बहिन सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खजाना।

है इस पर अधिकार तुम्हारे बेटे को मनमाना॥

यह तो सभी जानते हैं कि कवि अपनी कल्पना के जोर से कविता लिखता है। पर यह बात शायद किसी को मालूम न हो कि अखबारों से कल्पना की तीव्रता बहुत हो जाती है। मतलब यह है कि अखबारों से कविता के लिए बहुत मसाला मिल जाता है। अङ्गरेजी में एक कविता खूब प्रसिद्ध है। उसका नाम है 'दि ब्यूरिअल आफ सरजान मूर' उसकी रचना उल्फ नामक एक कवि ने की है। इसी कविता से उल्फ का नाम अङ्गरेजी साहित्य में अमर हो गया है। जब यह कविता पहले-पहल प्रकाशित हुई तब कुछ लोगों ने समझा कि लार्ड बैरन ने उसकी रचना की है।

बैरन ने कहा, "भाई यह मेरी कविता नहीं है।" यदि यह मेरी कविता होती तो इसका मुझे बहुत गर्व होता। जिस कविता की इतनी तारीफ है उसका मूलाधार अखबार का एक कतरन था। लांग फेलो नामक कवि ने अखबार के एक पल-टन पर एक बड़ी सरल कविता लिखी है। खोज करने से ऐसे

कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। मैं तुम को सलाह देता हूँ कि तुम अखबारों से कविता के उपयुक्त मसाला का संग्रह किया करो। तब तुम्हारे पास विचारों की इतनी विशाल राशि खड़ी हो जायगी कि तुम भी कहने लगोगे, "बादल से चले आते हैं मज़मूं मेरे आगे"।

हिन्दी के कवियों के लिए अलंकार का एक बड़ा झमेला है। नवीन छन्दों की अब काफ़ी संख्या हो गई है। पर अलंकार पुराने ही हैं। इसी से मेल नहीं खाता। प्राचीन काल के कवि प्राकृतिक दृश्य से अलंकारों की सृष्टि करते थे। अब नगरों की वृद्धि होने के कारण कवि प्रकृति का आश्रय नहीं ग्रहण कर सकते। उन्हें एक छोटी सी कुर्सी में बैठ कर अनन्त प्रकृति को विशाल कल्पना द्वारा देखना पड़ता है। इससे मस्तिष्क पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। पाश्चात्य सभ्यता की वृद्धि से कवि अपनी कविता-कामिनी के पैरों पर नूपुर के स्थान में बूट जकड़ देते हैं और कलाई में कंकण का स्थान रिस्टवाच के चमड़े के बन्द को दे डालते हैं। इससे कविता-कामिनी का रूप स्वाभाविक हो जाता है। उनका भाषा-परिच्छद भी अल्पाअल्प हो रहा है। बङ्गाल में हरिप्रसाद शास्त्री ने इन त्रुटि की कविताओं पर एक बार बड़ा रोष दिखाया, पर मेरी समझ में वर्तमान कविता का यह स्वाभाविक रूप है। अब उदाहरण लीजिए। हमें एक आधुनिक वियोगिनी का वर्णन करना है।

वियोग-व्यथा के वर्णन में संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। इससे गम्भीरता आ जाती है। अतएव हम इसे यों कहेंगे 'नयी भोली भाली वधू। जिसमें सुहाग की लाली थी, अब ऐसे कुम्हलाई जैसी कैट वाली अथवा अस्तचन्द्र की उजियाली। यह मूर्छित पड़ी हुई है। बिलकुल चुप है, बोलती तक नहीं। हाय, हाय इस कुमुदनी को जल से किसने भिन्न किया, किसने अपने तीक्ष्ण करों से छिन्न कर दिया। आँखें भरभर कर सखियाँ इसे जगा रही हैं। पर भयङ्कर खरतर, शोक है। चैतन्य मोह से बढ़ कर है।" यह तो गद्य-भाग हुआ। इसे अब पद्य-भाग में ले जा कर इसे देखिए कैसी अच्छी कविता बन कर निकलती है।

यह नई बहू भोली भाली।
जिसमें सुहाग की थी लाली।
कुम्हलाई कि ज्यों कैट वाली।
या अस्त-चन्द्र की उजियाली।
किन्न तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई।
यह कुमुदनी जल भिन्न हुई।
भर भर कर भीति भरी अँखियाँ
करती थीं उसे सभी सखियाँ।
पर शोक भयङ्कर खरतर था
चैतन्य मोह से बढ़कर था।

तुम अपनी कल्पना के द्वारा कुर्सी-टेबिल से सज्जित एक गल्प को देखो। बीचों बीच एक कोच पड़ा है। उस पर सुशिक्षिता नायिका मौन पड़ी हुई है। आँखें वियोग के दुःख से बन्द हैं। इतनी कल्पना कर लेने के बाद तुम उपर्युक्त पद्यों को पढ़ो। इसका विपर्यय अवश्य हो जायगा। करुण-रस हास्य-रस हो जायगा और हास्य रस करुण-रस में परिणित हो जायगा। यदि तुम हिन्दी में हास्य-रस का आचार्य होना चाहते हो तो तुम्हारे लिए यह एक अच्छी कुञ्जी है। बस, बुद्धिमानों के लिए इतना इशारा काफी है।

तुम्हारा—

हृषीकेश

५२—बौद्ध-युग

भारतीय इतिहास में बौद्ध-युग सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। सच पूछिए तो बौद्ध-युग से ही भारतवर्ष का प्रारम्भिक इतिहास प्रारम्भ होता है। बौद्ध-युग में भारतीय सभ्यता की विशेष श्री-वृद्धि हुई है। साहित्य और कला, विज्ञान और दर्शन की विशेष उन्नति इसी युग में हुई है। बौद्धधर्म के प्रचारकों-द्वारा भारतीय सभ्यता की विस्तृति विदेशों में भी हुई। सम्राट् अशोक के शासन-काल में बौद्ध श्रमण सीरिया, स्याम, मिश्र मकदूनिया और एपरस तक गये थे। और वहाँ भगवान् बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया था। भारतीय धर्म ही नहीं, भारतीय चित्रकला,

मूर्ति-निर्माण-विद्या और सङ्गीत तक ने मध्य-एशिया, चीन और जापान में विस्तृति प्राप्त की थी।

ईसा के लगभग ६०० वर्ष पहले भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ था। उन्होंने विश्व की यातनाओं को दूर करने के लिए सत्यचतुष्टय के उपदेश किये। इस प्रकार ईसा के ६०० वर्ष पहले बौद्ध-युग का आरम्भ होता है और ईसा की छठीं शताब्दी में उसका अवसान होता है। बौद्ध-युग के प्रारम्भकाल में शैशु नागवंश की विशेष प्रतिपत्ति थी। राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के राज्य को हस्तगत किया और २४ वर्ष तक उसने उत्तर-भारत पर शासन किया। वही भारत का पहला सम्राट् कहा जा सकता है। उसका राज्य दक्षिण में अधिकतर था। उसने सिल्यूकस को परास्त कर काबुल, कन्धार और हिरात को स्वाहस्त कर लिया था। उसके बाद उसके पुत्र बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक शासन किया। इसके बाद अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ। अशोक ने युवावस्था में बौद्ध-धर्म स्वीकार किया और इसी के प्रचार में वह आजीवन लगा रहा। मौर्यकाल में भारतवर्ष सुख और समृद्धि से पूर्ण था। अशोक के बाद मौर्य-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

कुशान-वंश का आधिपत्य ईसा के १० वर्ष पहले सन् ३५० ईसवी तक रहा। उसी समय आन्ध्रों का भी प्रभुत्व बढ़ा। उनका

यह प्रभुत्व ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक रहा। तिब्बती और चीनी ग्रन्थों से विदित होता है कि कनिष्क (अथवा कणिक) कुशान-वंश के सभी राजाओं के लिए व्यवहृत होता था, जिस प्रकार स्व० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर की राय में, सातवाहन आन्ध्रवंश के सभी राजाओं का नाम था। संस्कृत में त्रिपिटक का अनुवाद करने के लिए बौद्ध विद्वानों की चौथी समिति जालन्धर में बैठी थी। इस समिति के संरक्षक कुशानवंश के एक कनिष्क थे। जान पड़ता है कि इसी कनिष्क के पुत्र के लिए प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष ने 'महाराज कणिक-लेख' लिखा था। इसका अनुवाद तिब्बत के एक बौद्ध-विश्व-कोष में अभी तक सुरक्षित है। उसमें कनिष्कसुत सूर्यवंशोत्पन्न कहा गया है और उसे धर्म का अनुसरण करने के लिए उपदेश किया गया है। यह देव शब्द देवता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। और इससे आर्य देव की ओर भी इशारा किया गया है। कनिष्कसुत आर्य-देव का समसामयिक था और उसके पूर्वजों को भारतवर्ष में राज्य-शासन करते कितनेही वर्ष बीत चुके होंगे, तभी तो वह सूर्य-वंशोद्भव कहा गया।

नागार्जुन अश्वघोष का समकालीन था। उसने आन्ध्रवंश के किसी सातवाहन नरपति को एक पत्र लिखा था। इसका भी अनुवाद तिब्बती भाषा में विद्यमान है। उसमें नरपति के नाम का स्पष्टोल्लेख है। वह नाम है उदयिभद्र। आज तक आन्ध्र-वंश

के जितने नरेशों का पता लगा है उनमें उदयिभद्र नाम का कोई राजा नहीं है। सम्भव है, यह कोई स्वतंत्र अधिपति न रहा हो, कोई क्षमताशाली सामन्त राजा ही रहा हो।

कुमारजीव के एक चीनी शिष्य ने लिखा है कि आर्यदेव का आविर्भाव बुद्ध देव के निर्वाण-पद प्राप्त करने के ८०० वर्ष बाद हुआ था। ईसा के ४८० वर्ष पूर्व बुद्ध का निर्वाण-काल माना जाता है। इस हिसाब से आर्यदेव और उसका समकालीन कवि अश्वघोष सन् ३२० ईसवी के लगभग हुए होंगे। तब नागार्जुन का स्थितिकाल सन् ३०० में माना जा सकता है और कनिष्क का शासनकाल भी इसी समय में होना चाहिए, क्योंकि उसी के संरक्षण में बौद्धों की चतुर्थ समिति सम्मिलित हुई थी। यह समय मान लेने पर राजतरंगिणी का यह कथन भी सार्थक हो जाता है कि कनिष्क और मिहिरकुल (सन् ५१५ ईसवी) के मध्यवर्ती बारह नरेश हुए। लामा तारानाथ ने लिखा है कि नागार्जुन नेमिचन्द्र नामक अपरान्तक के अधिपति के शासन-काल में हुए थे। उसकी मृत्यु के बाद मगध देश में दो और छोटे छोटे राजाओं की प्रभुता रही। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने सन् ३१९ ईसवी में गुप्त-साम्राज्य स्थापित किया।

कनिष्क की बौद्ध-समिति ने बौद्धों में संस्कृत-साहित्य का प्रचार किया। आन्ध्रवंश के पिछले राजाओं ने भी संस्कृत-

साहित्य की उन्नति के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। गुप्तवंश के राजाओं के शासन-काल में ब्राह्मणों ने भी संस्कृत साहित्य की उन्नति की। संस्कृत-साहित्य के पुनरुद्भव-युग को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं। पहले काल में नागार्जुन (सन् ३०० ईसवी) आर्यदेव (सन् ३२० ईसवी) और अश्वघोष (सन् ६२० ईसवी) हुए। दूसरे काल में प्रशस्तपाद, वात्स्यायन (सन् ४०० ईसवी) और शबर स्वामी हुए। तीसरे काल में दिङ्नाग (सन् ५०० ईसवी), कालिदास (७३० ईसवी) और वराहमिहिर (५०५-५८५ ईसवी) हुए। पुराणों की रचना इसी काल में हुई।

संस्कृत-साहित्य के पुनरुद्भवकाल का पहला ग्रन्थ नागार्जुन था। नागार्जुन का नाम वैद्यकशास्त्र और रसायनशास्त्र में जितना प्रसिद्ध है उतना ही दर्शन-शास्त्र में है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ में हुआ था। उस समय आन्ध्र-वंश का सातवाहन राज्य कर रहा था। कृष्णानदी के तीर पर त्रिपर्वत की एक गुहा में नागार्जुन ने कुछ समय तक चिन्तन किया। अमरावती-स्तूप के पास की एक बुद्धमूर्ति पर जो लेख खुदा है उससे यह विदित होता है कि नागार्जुन विदर्भ-देश में अवश्य रहते थे। इस लेख की लिपि सातवीं शताब्दी की है। सन् ४०१ के परवर्ती तो नागार्जुन हो ही नहीं सकते क्योंकि इसी समय कुमारजीव ने चीनी भाषा में उनका जीवनचरित

लिखा था। अतएव यही मानना अधिक सचमुच होगा कि नागार्जुन सन् ३०० ईसवी में हुए।

नागार्जुन ने न्यायशास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। जान पड़ता है कि वात्स्यायन ने उनके ही एक ग्रन्थ—विग्रह-व्यावर्तनी कारिका—से अपने न्याय-भाष्य में कुछ अवतरण उद्धृत किये हैं। नागार्जुन का कीर्त्ति-स्तम्भहै उनका माध्यमिक दर्शन। पक्षपात-रहित विद्वानों की राय है कि शंकराचार्य का मायावाद उसी से मिल गया है। सच तो यह है कि नागार्जुन भारतवर्ष के अरिस्टाटिल थे।

ईसा की तीसरी शताब्दी के आरम्भ में कुशानवंश का अन्त हो गया। चौथी शताब्दी के आरम्भ में गुप्त-साम्राज्य का उदय हुआ। गुप्तों के शासनकाल में भारतवर्ष की सभ्यता चरम सीमा को पहुँच गई थी। इसी समय हिन्दू-धर्म और संस्कृत-साहित्य का अभ्युदय हुआ। पाँचवीं-शताब्दी के अन्त में हूण नामक जाति के आक्रमण होने लगे। ईसा की ७ वीं शताब्दी में हर्ष-साम्राज्य की स्थापना हुई। महाराज हर्ष ने सन् ६०६ से ६४७ तक शासन किया। उन्हीं के समय में बौद्ध यात्री हुएन्सङ्ग भारतवर्ष में आया था। यही बौद्ध-धर्म का ह्रास काल और पौराणिक धर्म का उत्थान-काल है।

प्राचीन काल में हिन्दू-समाज में स्त्रियों का स्थान उच्च था। धार्मिक तथा अन्य सामाजिक कृत्यों में उनका अधिकार पुरुषों

ही के समान था, परन्तु जब पुरुष चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर संन्यास ग्रहण करता था तब स्त्रियाँ पुरुषों का स्थान न दे ..कती थीं। सच तो यह है कि स्त्रियाँ उस समय विघ्न-स्वरूप मानी जाती थीं। जब बौद्ध-धर्म का पहले-पहल प्रचार हुआ तब उसमें स्त्रियों को दीक्षा लेने का अधिकार न था। बौद्ध-धर्म का प्रारम्भिक रूप निवृत्ति-मूलक था। जो उसमें दीक्षित होते थे उन्हें सांसारिक विषयों से अपना सम्बन्ध तोड़ देना पड़ता था। बौद्ध भिक्षु स्त्रियों पर दृष्टि-पात तक न करते थे। परन्तु पीछे से अपने शिष्य (आनन्द) के आग्रह से बुद्धदेव ने स्त्रियों को दीक्षा देना स्वीकार कर लिया। गौतमी तथा अन्य भी कई स्त्रियाँ भिक्षुणी होकर बौद्ध-धर्म में सम्मिलित हुईं।

बौद्ध-साहित्य में जगह जगह स्त्रियों का बड़ा अच्छा चित्र अंकित हुआ है। छः वर्ष तक घोर तपस्या करने के बाद जब बुद्धदेव अशक्त हो गये थे तब सुजाता ने आकर उन्हें भोजन दिया था। विशाखा ने भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों की बड़ी सेवा की थी। बौद्ध-साहित्य में उसका चरित बहुत उज्ज्वल वर्णित हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या बहुत कम थी। तो भी समाज में उनका बड़ा प्रभाव था। उनकी विद्वता और धार्मिकता की अनेक कथायें प्रचलित हैं। थेरीगाथा के अधिकांश भागों की रचना स्थविराओं ने की है।

उन थेरियों में से कुछ आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित थीं। उनके पास कितने ही भिक्षु बौद्ध-धर्म के तत्त्व समझने के लिए आया करते थे। थेरी-गाथा में सोम नाम की एक स्त्री का उल्लेख है। वह राजा बिम्बसार के सभा-पंडित की कन्या थी। वह अपने स्वाध्याय और योग के बल से अर्हत् के पद पर पहुँच गई थी। सुमेधा नाम की भी एक राजकन्या उल्लिखित हुई है। उसकी प्रतिभा विलक्षण थी। उसने सांसारिक सुखों का त्याग करके विश्व-सेवा स्वीकार की थी। शिक्षा और पतिव्रता किसी एक ही जाति की स्त्रियों में नहीं पाई जाती। सभी जातियों और सभी समाजों में विदुषी और सदाचारिणी स्त्रियाँ हुई हैं। उनके प्रयत्नों से बौद्ध-धर्म की बड़ी उन्नति हुई और उसका खूब प्रचार हुआ।

बौद्ध-युग में कितने ही विद्या-केन्द्र थे। उनमें नालन्दा की विशेष ख्याति है। दूर दूर के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे।

५४—विक्रम-शिला का तिब्बती पंडित

बंगाल के प्राचीन विद्या-केन्द्रों में विक्रम-शिला का नाम प्रसिद्ध है। ईसा की अष्टम शताब्दी में बङ्गाल के राजा धर्म-पाल ने इसकी स्थापना की थी। इस मठ से कितने ही पंडित सद्धर्म का प्रचार करने के लिए तिब्बत जाते थे। यहाँ चीन और तिब्बत से कितने ही लोग शिक्षा प्राप्ति के लिए आते थे।

तिब्बत से जो भिक्षु यहाँ ज्ञानार्जन के लिए आये थे उन्हीं में एक के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी जाती हैं। इस भिक्षु का नाम धर्मकीर्ति है। नाम से तो यह भिक्षु भारतवासी जान पड़ता है; परन्तु यथार्थ में यह भारतीय नहीं था। वह तिब्बत का था। इसका निवासस्थान 'खमस' प्रदेश में था। रायबहादुर शरच्चन्द्रदास ने अपने तिब्बती अभिधान में लिखा है कि यह प्रदेश तिब्बत के पूर्व-भाग में अवस्थित है, अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति तिब्बतीय था।

बौद्ध पंडितों में एक दूसरे धर्मकीर्ति का भी नाम पाया जाता है। वह बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग का शिष्य था और स्वयं न्यायशास्त्र में निष्णात था। परन्तु विक्रम-शिला से इस धर्मकीर्ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। नालन्दा से उसका सम्बन्ध अवश्य था, क्योंकि वह धर्मपाल का शिष्य था और धर्मपाल शीलभद्र के पहले नालन्दा का अध्यक्ष था। यदि हम तारानाथ के कथन को विश्वसनीय समझें तो हमें मानना पड़ेगा कि इस धर्मकीर्ति के जीवनकाल में विक्रमशिला का अस्तित्व ही न था। विक्रमशिला से तिब्बतीय पण्डित धर्मकीर्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। पी० कार्डियर नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने तिब्बतीय त्रिपट की जो सूची प्रकाशित की है उसमें तिब्बतवासी धर्मकीर्ति का उल्लेख हुआ है। उससे यह मालूम होता है कि धर्मकीर्ति ने कुछ संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया था। उस ग्रन्थ का नाम

है समय पश्च और उसके कर्त्ता हैं आचार्य पद्मसंभवपाद। जान पड़ता है कि धर्मकीर्ति तिब्बत से संस्कृत पढ़ने के लिए ही यहाँ आये थे और जब ये यहाँ रहने लगे तब से तिब्बती भाषा में संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद भी करने लगे। अनुवाद कार्य में दूसरे बौद्ध-भिक्षुओं से भी इन्हें सहायता मिलती थी। काल-चक्रावतार नामक ग्रन्थ के अनुवाद में इन्हें उसके रचयिता अभयंकरगुप्त से सहायता मिली। एक ग्रन्थ के अनुवाद में इन्होंने सुगतश्री को सहायता दी। धर्मकीर्ति ने कुल १४ ग्रन्थों का अनुवाद किया है।

५५—विज्ञान

१

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान को परिमित नहीं देखना चाहता। वह सदैव नूतन तथ्यों के संग्रह करने में व्यग्र रहता है। इसी को जिज्ञासा कहते हैं। इसीसे प्रेरित होकर मनुष्य आत्म-कल्याण-साधन करने में समर्थ होता है, इसी से वह अपने ज्ञान की वृद्धि करके उन्नति की चरमसीमा को पहुँच जाता है। जिसमें यह जिज्ञासा नहीं, यह ज्ञान-लिप्सा नहीं, उसकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। अनन्त काल से ज्ञान का अविराम स्रोत बह रहा है। कहाँ इसका अन्त होगा, यह कोई नहीं कह सकता। पर इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यों के ज्ञान का विकास होता ही जा रहा है।

आज-कल विज्ञान-विषय के एक से एक विलक्षण आविष्कार हो रहे हैं। हाल में ही वैज्ञानिकों का ध्यान एक विस्मयोत्पादक शक्ति के आविष्कार की ओर आकृष्ट हुआ है। यदि उन्हें अपने उद्योग में सफलता प्राप्त हो गई तो संसार का रूप ही पलट जायगा। बरमिंहम-विश्वविद्यालय के अध्यापक अर्नेस्ट रदरफ़र्डने अणुओं को विभक्तकर दिया है। कुछ लोगों ने और भी आविष्कार किये हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि अणुओं के विभक्त होने पर एक ऐसी शक्ति उद्भूत होती है जो वर्तमान सभ्यता का संहार कर सकेगी। और मनुष्यों को देवोपम बना सकेगी। यह है परमाणु की शक्ति।

परमाणु अनन्त है। इसलिए यह शक्ति भी अनन्त है। यदि कोई इसका दुरुपयोग करना चाहे तो यह सर्वसंहारिणी शक्ति क्षण भर में किसी भी देश का का नाश कर सकती है। इसके लिए सामग्री की जरूरत नहीं। एक ग्लास पानी में इतनी शक्ति है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के बड़े बड़े जहाजों को उड़ा कर हिमालय की चोटी पर धरदे। पर यदि उसका सदुपयोग किया जाय तो इससे व्यवसाय की बड़ी समृद्धि हो सके। मजदूरों का झगड़ा दूर हो जाय। डाकुओं और चोरों का भय न रहे। पुलिस की भी जरूरत न रहे। युद्ध सदा के लिए लुप्त हो जाँय। और मानव-जीवन की क्षणभंगुरता भी नष्ट हो जाय।

ये केवल मनोमोदक नहीं। ख्यातनामा वैज्ञानिकों की सम्मति है। वैज्ञानिक-शिरोमणि सर आलिवर लाज का नाम खूब प्रसिद्ध है। उनका भी यही विश्वास है। न्यूयार्क के डाक्टर आरविङ्ग लैङ्गम्यूर जो वहाँ जनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी के मुखिया हैं, ऐसा ही खयाल करते हैं। अतएव इसकी सत्यता पर हमें विश्वास करना ही पड़ता है।

यह शक्ति कैसी उत्पन्न होती है, यह जानने के लिए हमें दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। पहली बात तो यह है कि संसार के सभी पदार्थ अनन्त अणुओं के मेल से बने हैं। दूसरी बात यह है कि ये अणु भी स्वयं परमाणुओं से बने हुए हैं। इन परमाणुओं से ही यह शक्ति पैदा होती है।

अच्छा तो यह शक्ति आती कहाँ से है? हम देखते हैं कि जब पानी भाफ के रूप में बदल जाता है तब भाफ में यह शक्ति आ जाती है कि उससे बड़े बड़े एंजिन चलने लगते हैं। शक्ति आने का कारण यह है कि पानी भाफ के रूपमें परिवर्त्तित होने पर अणुओं में विभक्त हो जाता है। अणुओं में स्वभाव से ही तीव्र गति है। उन्हीं की गतिसे भाफ की शक्ति प्रकट होती है।

अणुओं से भी तीव्रतर गति परमाणुओं की है। इस लिए यदि हम अणुओं को परमाणुओं में विभक्त कर सकें तो उससे असीम शक्ति उत्पन्न हो सकती है। यह शक्ति भाफ की शक्ति

से करोड़ों गुनी अधिक होगी। वैज्ञानिकों ने यंत्रों के द्वारा इस शक्ति का परिचय प्राप्त कर लिया है। उनका कहना है कि जैसे आज कल भाप के बल से एंजिन चलाये जाते हैं वैसे ही हम इसका उपयोग कर सकेंगे। यह शक्ति सभी पदार्थों में अन्तर्हित है। केवल उनके उपयोग का ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए सब से पहले आवश्यक यह है कि हम अणु को परमाणुओं में विभक्त कर सकें। इसमें सर अर्नेस्ट रदरफर्ड को सफलता प्राप्त हो गई है। देखें कब इसका उपयोग होने लगेगा।

हम लोग इस भीषण शक्ति की कल्पना रेडियम से कर सकते हैं। रेडियम से जो परमाणु उद्भूत होते हैं उनकी सब से मन्द गति एक सेकेण्ड में ७००० मील है। उनमें ऐसी प्रबल शक्ति है कि कैसा भी दृढ़ पदार्थ क्यों न हो वे अनन्त उत्ताप पैदा करके उसमें प्रवेश कर जाते हैं। एक्सरेज़ इसी परमाणु शक्ति का नमूना है।

वैज्ञानिकों के इस कथन पर कोई भी सहसा विश्वास न करेगा। पर विज्ञान ने अभी तक असंभव को सम्भव कर दिखाया है। जब जेम्स वाट ने भाफ की शक्ति का हाल लोगों से कहा तब किसने उसे सच समझा था? पर आज हम उसे प्रत्यक्ष देख रहे हैं। एच० जी० वेल्स ने, बीस ही वर्ष पहले अपने एक उपन्यास में लिखा था कि शीघ्र ही मनुष्य पक्षियों की तरह आकाश में भ्रमण करने लगेगा। तब सब लोग उसे

एक औपन्यासिक की कल्पना समझते थे। सम्भव है, कभी परमाणु की शक्ति का भी उपयोग होने लगे। कम्पनी खड़ी की जा रही है और वैज्ञानिक इसके लिए एंजिन निर्माण करने में लगे हैं।

यह तो परमाणु शक्तिकी बात हुई। अब विद्युत के सम्बन्ध में भी कुछ सुनलीजिये।

२

संसार अद्भुत और अलौकिक है। पर शक्ति और सौन्दर्य के मधुर समावेश से वह अत्यन्त रमणीय और स्वाभाविक मालूम पड़ता है। जिस जल का संगीत-व्यंजित मन्द प्रवाह और शीतलता हमें आनन्ददायक प्रतीत होती है उसी जल की अन्तर्निहित शक्ति कैसी प्रचंड है, यह बात रेलगाड़ी या अन्यान्य वाष्पपरिचालित कल-कारखानों के देखने से हम अच्छी तरह हृदयंगम कर सकते हैं। काले बादल के अंक में चमकती हुई जिस बिजली की स्वर्णच्छटा से मुग्ध हो कर भय कल्पना और उपमा की सृष्टि होती है उस हेमवल्ली में कैसी विचित्र शक्ति संचित है, इसका पता टेलीग्राफ, बिजली से चलनेवाली रेलगाड़ी, बिजली के प्रकाश आदि से भले प्रकार लग जाता है। आधुनिक विज्ञान की बदौलत हम लोगों का कैसी कैसी अद्भुत बातों से परिचय हुआ है उनकी गिनती ही नहीं की जा सकती। पर उनमें से दो नैसर्गिक शक्तियों के आविष्कार और उनके उपयोग

प्रधान माने जाते हैं—वाष्प और बिजली। ये दोनों की शक्तियाँ अत्यन्त ही आश्चर्यजनक हैं। यहाँ केवल बिजली की शक्ति के वैचित्र्य के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ लिखा जाता है।

योरप में सर्वप्रथम बिजली का आविष्कार इटली में हुआ था। यह बात ईसा के जन्म के पूर्व की है। इस बीच में कई सदियाँ बीत गईं और बिजली की शक्ति के कई नये प्रयोग भी उद्भावित किये गये। बिजली की शक्ति से तार से खबर भेजना गृह, राजपथ और नगर आदि आलोकित करना और कल-कारखाने का चलाना आदि कितने ही लोकोपयोगी काम किये जाते हैं। पर बीसवीं सदी के प्रारंभ में उसकी एक अभिनव शक्ति का आविष्कार हुआ है। वह है बिना तार के उसकी शक्ति का अद्भुत उपयोग। आधुनिक विज्ञान के इस आविष्कार ने विलक्षणता की हद कर दी है। इसमें एक खूबी यह भी है कि जिस इटली में सर्वप्रथम बिजली की शक्ति आविष्कृत हुई थी वहीं इस नये आविष्कार का भी सूत्रपात हुआ है। विज्ञानाचार्य मार्कोनी की यह उद्भावना है।

मार्कोनी के पहले उन्नीसवीं सदी के शेष भाग में हेनरीहार्ट्ज Heinrich Hertz नामक एक जर्मन विज्ञान-वेत्ता ने बिजली की शक्ति के कई एक नूतन गुण खोज निकाले थे। बिजली की शक्ति तार में प्रवाहित न होकर भी दूरस्थ किसी वस्तु पर प्रभाव डाल सकती है, यह बात उस समय के अनेक वैज्ञानिकों

को मालूम रहने पर भी उनमें से किसी ने उसे सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न न किया। विद्युद्-वाही तार के सन्निकट स्थित नाविक के दिक्सूचक यंत्र का काँटा बिना किसी कारण के क्यों कुछ घूम कर फिर एक जगह ठहर जाता है, यह देख कर भी किसी ने इसका कारण अन्वेषण करने की चेष्टा नहीं की। हेनरी हार्टज़ ने सब से पहले इस शक्ति का उपयोग करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पहले बिजली की धारा पैदा करनेवाले एक यंत्र का आविष्कार कर उसे दिक्सूचक यंत्र से थोड़ी दूर पर एक तार के कुंडलाकृत-रूप से एक खम्भे में लटका दिया। इस तार के दोनों मुँह कुछ खुले रक्खे गये। इसके बाद यह दिखाई दिया कि जितनी बार उनका पूर्वोक्त यंत्र बिजली की धारा पैदा करता है उतनी ही बार इस तार के असम्बद्ध मुँह के अन्तराल में भी बिजली की धारा पैदा हो जाती है। इसके सिवा और कई परीक्षाओं से यह सिद्ध कर दिखाया गया कि बिना तार के बिजली शून्य में भी प्रवाहित हो सकती है। यह भी प्रमाणित हुआ कि वायु से भी अधिक स्वच्छ और हलके एक प्रकार के पदार्थ का स्रोत अनन्त काल से विश्व ब्रह्माण्ड में बहता रहता है। परन्तु वह क्या है, यह बात वे निश्चित नहीं कर सके। आधुनिक वैज्ञानिकों ने उसका नाम ईथर बताया है। हेनरी हार्टज़ के यंत्र से उत्पन्न होनेवाली बिजली की धारा के पूर्वोक्त तार के मुँह में दिखाई देने का कारण यह था कि यंत्र में स्फुलिंग के उत्पन्न होने से एक विद्युत्

तरङ्ग की सृष्टि होती है, जो ईथर में प्रवाहित हो उस तार के मुख में टकराती है, इस कारण वहाँ भी विद्युत्-फुलिङ्ग दिखाई देता है। इस विद्युत्तरंग की गति आलोकतरंगों की तरह वेगवती होती है—प्रति सेकण्ड यह एक लाख छियासी हजार मील भ्रमण करती है।

दुर्भाग्यवश शीघ्र ही हेनरी हार्टज का देहान्त हो गया। उनके द्वारा आविष्कृत बिजली की नूतन शक्ति के उपयोग में और अधिक उन्नति नहीं हो सकी। वे अपने जीवनकाल में केवल यही बात निश्चित कर सके कि विद्युत्तरंग किस प्रकार प्रवाहित होती है। इस बात की ओर उनका ध्यान ही न गया कि तार के बिना बिजली की शक्ति से संसार के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को मुहूर्त भर में खबर भेजी जा सकती है। परन्तु उस समय सुदूर इटली के जेगहान नामक शहर के एक स्कूल के छात्र के मन में इस बात का अंकुर उग गया था। मार्कोनी कहते हैं कि जिस दिन उनके मन में हेनरी हार्ट्ज की नूतन आविष्कृत विद्युत्तरङ्ग सम्बन्धी बातें आईं उसी दिन मेरे मन में यह धारणा दृढ़ हो गई कि यदि यह आविष्कार सत्य होगा तो मैं एक दिन घर बैठे ही सारे संसार की खबरें मालूम कर लूंगा।

सन् १८९५ में मार्कोनी ने इस विषय की स्वतंत्र परीक्षा आरम्भ की। उनकी परीक्षा केवल रसायन-शाला में ही आबद्ध नहीं थी। वे समय समय पर विद्युत्सम्बन्धीसारी

सामग्री लेकर विस्तीर्ण मैदान में चले जाते। वे वहाँ खूब ऊँचे ऊँचे खम्भे गाड़ और उन खम्भों के ऊपर कुंडला-कृत तार लटका और उसमें आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े धातुमय विद्युत्-यंत्रों का सन्निवेश कर तड़ित-प्रवाह को दूर से दूरान्तर को भेजवाने की कोशिश किया करते। इस प्रकार वे साल भर तक परीक्षा करते रहे। और उन्होंने अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की। इसके बाद वे इँगलैन्ड गये, वहाँ उनके नेतृत्व में एक बेतार की संकेत वाही कम्पनी Wireless and Telegraph Signal Co Ld, स्थापित हुई। उन्होंने जब इस बात की घोषणा की कि बिना तार की सहायता के विद्युत्-बल से खबरें बहुत दूर तक भेजी जा सकती हैं तब बहुतेरे लोगों ने इसे कोरी गप ही समझा। इसके बाद उन्होंने कार्नवाल के समुद्र किनारे से न्यू-फाउन्ड लेन्ड को खबर भेजी; जिसका उत्तर तत्काल मँगाकर लोगों को दिखा दिया। परन्तु लोगों ने इतने पर भी विश्वास नहीं किया। वृद्ध तो सिर हिलाकर इसे कोरी शराबियों की गप कहने लगे। परन्तु नवयुवक आश्चर्यान्वित होकर उत्साह के साथ इसकी सत्यता का पर्यावेक्षण और अनुभव के बाद उसे जगत् में प्रचलित करने के लिए तैयार हो गये। बहुत ही शीघ्र लोगों का अविश्वास दूर हो गया और सारे संसार में मार्कोनी का नाम फैल गया।

२० वीं सदी के प्रारम्भ से विज्ञान के इतिहास में एक नूतन अध्याय का श्रीगणेश हुआ। सन् १९०१ में ही मार्कोनी की बेतार की तारबर्की अस्तित्व में आ गई थी। इस आविष्कार से मानव-जाति का जो कल्याण-साधन हुआ है उसका वर्णन नहीं हो सकता। पर यह हुई २१ साल पूर्व की बात। परन्तु बेतार की तारबर्की में दिन प्रति दिन जो उन्नति होती रही है उसे जानकर बड़ा ही विस्मय होता है। यह सच है कि इसका आविष्कार मार्कोनी ने ही किया है, किन्तु आजकल यह जिस उन्नतावस्था को पहुँच गई है वह केवल उन्हीं के प्रयत्नों का फल नहीं है। इसे वर्तमान स्थिति को पहुँचाने में कई एक वैज्ञानिकों ने घोर परिश्रम किया।

२

गत सौ वर्ष से विज्ञान की विशेष उन्नति हुई है। प्रसिद्ध गणित विशारद चार्ल्स डारविन के तेरह वर्ष के वय तक आधुनिक विज्ञान और आधुनिक दर्शन की सारी बुनीयाद नहीं पड़ सकी थी। रसायनशास्त्र और पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में मिचल फराडे ने कार्य करना आरम्भ ही किया था। चेचक रोग के सम्बन्ध में टीका लगाने का विचार लोक-प्रिय होने लगा था। उस समय तक लार्ड लीस्टर और लुई पास्टुर का जन्म भी न हुआ था। उदाहरण के लिए उस समय प्रयोगात्मक मास्तिष्क-विज्ञान जैसी किसी चीज़ का नाम तक न था और अँगरेजी भाषा में समाज-शास्त्र

शब्द का अस्तित्व भी न था। परन्तु अब भाफ और बिजली की शक्ति के ज्ञान ने हमारे स्थान और दूरी की कठिनाइयों की जड़ काट डाली। जब नेपोलियन मास्को से बेतहाशा भागा आ रहा था तब उसे विएना से पेरिस पहुँचने में अपनी यात्रा का अन्तिम पड़ावसमाप्त करने के लिए उसे ३१२ घंटे लगे थे। अब इसी दूरी को कोई यात्री रेलगाड़ी से ४८ घंटे में या वायुयान से ८ घंटे में तय कर सकता है। हम जिस समुद्र को पाँचदिन में पार करते हैं उसीको पार करने में सौ वर्ष पहले दो महीने लगे थे। हम एक शहर से दूसरे शहर को, एक देश से दूसरे देश को वायु-यान-द्वारा कुछ घंटों में ही उड़ कर पहुँच जाते हैं। हमारी डाक वायुयान ले जाता है। अपनी मोटरों से हम एक राज्य से दूसरे राज्य में जा पहुँचते हैं और जिन बातों के देखने में हमारे पूर्वजों को एक महीना लग जाता था उनसे अधिक हम एक दिन में देख जाते हैं। सुमुद्री तार और बेतार के तार से हमारा सम्बन्ध संसार के दूरतम भागों से बराबर बना रहता है। हजारों मील दूर बैठे हुए अपने मित्र से हम बात-चीत करते हैं। अपने पुस्तकालयों में बैठे बैठे हम पाँच सौ मील या उसके अधिक दूर से गाना-बजाना और व्याख्यान सुनते हैं। जिन घटनाओं को कुछ ही लोग देख सके हैं वे फ़िल्मद्वारा सारी मानव-जातिके सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं।

सौ वर्ष पहले एक मनुष्य मानव-ज्ञान के पर्याप्त अंश को

हृदयङ्गम करके पूर्ण पंडित हो सकता था, परन्तु आज वही बात बिलकुल असम्भव है। ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण कोई आदमी अपना मार्गतक मुश्किल से खोज सकता है। परिणामों के सारे समूहों को बिना किसी जाँच पड़ताल के चुपचाप स्वीकार कर लेना पड़ता है, क्योंकि अब हम विद्या के अधिकांश विभागों के विषयों में प्रवेश तक नहीं कर सकते।

मनुष्यों ने जो यह पेचीदा यंत्र-समूह तथा विस्तृत ज्ञान का निर्माण किया है वे क्या मानवजाति का सेवक बनकर रहेंगे या अपने निर्माता के संहारक बनेंगे ? विज्ञान से मनुष्य की शारीरिक शक्तियाँ हजारों गुनो अधिक हो गई हैं और उसी परिमाण में रचना और विनाश दोनों के लिए उसकी क्षमता बढ़ गई है। परन्तु इस क्षमता का उपयोग भविष्य में कैसे किया जायगा ? हम विनाशक शक्तियों की वृद्धि को कैसे रोक सकते हैं ? इन नवीन शक्तियों के प्रतिकार के लिए क्या हमारे पास तद्वत् आध्यात्मिक सामग्री है ? क्या शिक्षा काफी शीघ्र गति से चल सकती है। उस नेतृत्व को केवल पराभूत करने के लिए नहीं, किन्तु उन्नति की दौड़ में बराबर रहने के लिए।

उपर्युक्त प्रश्न भयंकर हैं। इनके उत्तरों में मानव-जाति का भविष्य निर्भर है। परन्तु स्पष्ट बात यह है कि वर्त्तमान पीढ़ी का कोई बुद्धिमान व्यक्ति इनका उत्तर नहीं दे सकता है। १९१४ तक हममें से अधिकाँश परिणाम के सम्बन्ध में सन्तुष्ट और भविष्य

के लिए भी प्रसन्न थे। मानवजाति के विकास के लक्ष्य तथा उसकी समृद्ध के सम्बन्ध में हमने खूब चिकनी चिकनी बातें कीं परन्तु अब हम समझते हैं कि हम कुछ नहीं जानते थे। झूँठी कल्पनाओं से हम धोखे में पड़ गये। मानव संहार के चार वर्षों तथा क्षणिक सन्धि के बाद दुःख और विशृंखलता के चार वर्षों ने हमारी आँखें खोल दी हैं। अब हम उस खन्दक को देखते हैं जिसके किनारे मानव जाति खड़ी है।

४

सौ वर्ष के बाद क्या होगा, साधारण मनुष्य को इस विषय में अधिक उत्साह नहीं हुआ करता है, क्योंकि यह एक इतना लम्बा समय है कि उसके सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से एक शताब्दी कुछ मिनटों के ही बराबर है, क्योंकि सृष्टि के अनन्त जीवन में शताब्दी को मिनटों की उपमा देना किसी प्रकार अनुपयुक्त नहीं है। आज सन् १९२३ और २०२३ के बीच में जो कुछ मिनट बीतता है, उनमें संसार विकाश-मार्ग में कहाँ तक पहुँच जायगा, उसके विषय में विद्वान् बड़े ही रोचक अनुमान बांध रहे हैं।

आधुनिक उन्नतिशील व्यवसायियों की धारणा है कि समय ही रुपया है, अतएव उनको जीवन की वर्त्तमान अवस्था से अधिक सन्तोष नहीं है क्योंकि अधिकांश समय खाने-पीने,

खेलने-कूदने, सोने या घूमने में बिताना पड़ता है। जब लोगों का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि जो समय के अपव्यय से जितना ही अधिक बचेगा, वह उतना ही अधिक सफल होगा; तब यह निश्चित है कि इस आदर्श की प्राप्ति में दिन प्रति दिन उन्नति होती जायगी। यह एक प्रकार से प्रत्यक्ष है कि आगामी शताब्दी में यातायात के साधनों में कल्पनातीत उन्नति होने वाली है, जिससे समय की भारी बचत हुआ करेगी। सोने के समय में भी कमी करने के विरुद्ध कोई बाधा नहीं दिखाई देती है। तीन तीन बोतल साफ करने वाले मनुष्य तो बहुत दिन हुए इस संसार से उठ गये। अभी कुछ वर्ष पहले तक यह प्रथा थी की व्यवसायियों को अपने इष्ट-मित्रों के साथ भोजन करने में घंटों बिता देना पड़ते थे। किन्तु आज कल डबल रोटी और बिस्कुट में ही उनकी तृप्ति हो जाती है। अतएव सौ वर्षों में कार्यालय की टेबिल पर बैठे बैठे ही जल पान कर लेना उनके लिए पर्याप्त होगा। वास्तव में आज व्यवसायी को किसी व्यर्थ काममें समय नष्ट करना बड़ा अखरता है। अभी टेलीफोन के द्वारा वह अपने मित्र के साथ केवल मिलने के समय निश्चित कर पाता है किन्तु उसका जी चाहता है कि कोई ऐसी युक्ति निकल आवे जिससे वह टेलीफोन के द्वारा ही अपने मित्र को अपने पास बुला सके। सौ वर्षों में कम से कम टेलीफोन उसकी मोटरकार और टम टम भोजनालय और शयनागार में सर्वत्र

लगा दिया जा सकेगा और वह मौज से अपने मित्रों के साथ बातचीत किया करेगा। और आज कल की तरह उसका काम छोड़ कर 'सुनो' 'सुनो' की आवाज पर टेलीफोन के पास न दौड़ना पड़ेगा। सम्भव है, वह अपने मित्र के साथ केवल बात चीत ही न कर सके, प्रत्युत उसके दर्शन भी कर सके, हजारों कोसों की दूरी पर बैठकर व्याख्यान सुन लेना तो कोई बात ही न रह जायगी। उस समय आधुनिक खेलों में लोगों को आनन्द नहीं आयगा, दूसरों के कामों में उत्साह दिखाना ही व्यवसायियों का खेल होगा। आज कल की तरह हजारों रुपयों का चन्दा करके अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़ों में भाला-बर्छी चलाने वालों को तैयार करना मूर्खता समझी जायगी। विचारशक्ति को सँभालने भर के लिए शारीरिक शक्ति की आवश्यकता रह जायगी, पट्ठों को आवश्यकता से अधिक बढ़ाना जंगली भीलों और बन्दरों का काम समझा जायगा।

हमारी सड़कों का एक दूसरा ही रूप होगा। लन्दन की आमदरफ्त का प्रबन्ध करने के लिए नई नई सड़कों का निर्माण करना पड़ेगा। आज भी लन्दन में यदि अमरीका की भाँति मोटरकार का प्रचार हो जाय तो एक नई समस्या उपस्थित हो। न जाने धरातल के नीचे कितनी सड़कें खोदना पड़े। फर्श पर चलना हमारे लिए अति कठिन हो जायगा, बाजार में एक से दूसरी दुकान पर आने-जाने के लिए चलती-फिरती सीढ़ियों की

आवश्यकता होगी। सम्भव है, बड़ी सड़कों पर छत डाल दी जाय, क्योंकि बहुत ही थोड़े मूल्य में पिकेडेली सरीखी सड़क पाटी जा सकेंगी।

धीरे धीरे कड़ी धूप, अधिक शीत या वर्षा में बाहर निकलना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। शायद बिना चश्मे के किसी का काम ही न चले। वायुयानों के द्वारा ही हम सारे संसार में दौड़ा करेंगे। उस समय आजकल की तरह चार पाँच मील दूर किसी स्टेशन पर नहीं उतरना होगा, वरन हम सीधे सुन्दर सड़क के किनारे किसी रम्य होटल की छत पर उतर सकेंगे। सड़कों पर गन्दगी का नाम नहीं रहेगा, रात्रि भर बिजली की रोशनी जगमगाती रहेगी, कुहरे का धुन्ध रोकने का भी प्रबन्ध हो जायगा। और शोर गुल भी मिट जायगा। तब भला कौन आदमी इन सड़कों को छोड़ना चाहेगा?

इसी प्रकार हमारे घर भी अधिक सुन्दर होते जायँगे, शीत से हमारी पूर्ण रक्षा हो सकेगी। मनुष्य मात्र की आराम चाहने की प्रवृत्ति दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है। मोटरकार में परदे के बिना अब काम नहीं चल सकता क्योंकि उसके बिना हवा असह्य हो जाती है।

केन्द्रस्थानों में बिजली के बड़े बड़े संग्रहालय बन जायँगे, जहाँ से यथेष्ट बिजली की शक्ति मिल सकेगी। सड़कों की घड़ियाँ, और संभव है हमारी जेब घड़ियाँ उसी शक्ति के द्वारा

चला करें। कपड़े पहनने में आध घंटे से अधिक समय न लगेगा और आवश्यकता होगी तो बिजली के द्वारा उनमें गरमी भी पहुँचाई जा सकेगी। मोटरकारों में हर प्रकार का आराम होगा, संग्रहालयों से उनमें बिजली की शक्ति भी भर ली जाया करेगी। साधारण गाड़ियों की भी चाल बढ़ जायगी और वायुयान तो इस तेजी से चलेंगे कि यातायात के वर्तमान साधन उसी प्रकार प्रतीत होने लगेंगे जिस प्रकार आजकल बैलगाड़ी। विचार-परिवर्त्तन किस द्रुतगति से होगा यह अभी कल्पना के बाहर है। सम्भव है इङ्गलैण्ड से महाद्वीप पर जाने के लिए कोई रास्ता खोदा जाय क्योंकि टापू उन्नति की दौड़ में दौड़ने के लिए पर्याप्त नहीं है।

एक शताब्दी के बाद शासन व्यवस्था का क्या रूप होगा? वर्त्तमान राजनैतिक प्रगति को देखते हुए इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। शासितों को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी अथवा नहीं, यह अभी सन्देह जनक है। वर्त्तमान प्रजा सत्तात्मक प्रणाली के अनुसार प्रजा को शासन में वास्तविक अधिकार प्राप्त हो सकेंगे, यह कहना महा कठिन है। हाँ एक बात प्रत्यक्ष सी है कि फिर शीघ्र ही एक संसार व्यापी महासमर होगा, और बड़ा भयङ्कर समर होगा, इतना भयंकर कि विगत युरोपीय महायुद्ध उसके आगे बच्चों का खेल मालूम होगा। विज्ञान के फूल में यह एक बड़ा भारी काँटा है। गैस और बिजली के द्वारा

मनुष्य के प्राण हर लेना तो कोई बात ही न रह जायगी। शीघ्र से शीघ्र और घोर से घोर प्रलयकारी यन्त्रों का निर्माण होगा। वैज्ञानिक उन्नति से उदार वृत्तियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों को अधिक उत्तेजना मिलने की सम्भावना है

समाज में भी भीषण परिवर्त्तन की सम्भावना है। सन् २०२३ तक स्त्रियों के स्वातंत्र्य-युद्ध का यदि और कुछ परिणाम न हुआ तो कम से कम इतना तो होगा कि वे पुरुषों के समान कपड़े अवश्य पहनने लगेंगी। अपराधियों को, सम्भव है, कठिन दण्ड देने की प्रथा बिलकुल उठ जायगी। यह भी सम्भव है कि अमरीका को वर्तमान अवस्था के अनुसार मनुष्य दिन प्रतिदिन एक दूसरे से अधिकाधिक उदासीन होते जायँ। कुछ भी हो, जिस प्रकार आज हम कहते हैं कि हमारे पुरखा बड़े भोले-भाले थे, आश्चर्य नहीं कि उसी प्रकार सौ वर्ष के बाद हमारे बाल बच्चे हमारी अल्पज्ञता पर हँसने का दावा करने लग जायँ।

५

रस्किन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है, 'विज्ञान की उन्नति का यही फल हुआ है कि उससे प्राणसंहारक यन्त्रों के आविष्कार हुए।' एक दूसरे विद्वान् जार्ज गिसिंग ने कहा है, 'मैं विज्ञान से डरता हूँ और उससे मेरी घृणा भी है, क्योंकि मेरा यह विश्वास है कि अभी दीर्घकाल तक वही मानवजाति का शत्रु रहे

प्रबल शत्रु रहेगा।' इसी तरह अन्य कई विद्वानों ने भी विज्ञान को मनुष्यों का संहारक ही माना है। उनका कथन है कि उसी से हमारा जीवन अव्यवस्थित हो रहा है। परन्तु अब विज्ञान की गति रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। लोग चाहे उसकी निन्दा करें या प्रशंसा, उसकी उत्तरोत्तर उन्नति ही हो होती जायगी। गत पचास वर्षों में विज्ञान की आश्चर्य-जनक उन्नति हुई। इस काल में जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए। सच तो यह है कि हम विज्ञान के द्वार तक पहुँच चुके हैं और अब शीघ्र ही हम उन शक्तियों का पता पा लेंगे जो अभी मनुष्यों के लिए कल्पनातीत हैं। इन शक्तियों का उपयोग मानव समाज की कल्याण-वृद्धि में किया जायगा या नहीं, यह समाज के नेता सोचें। विज्ञान का इस प्रश्न से सम्बन्ध नहीं है। हमारा तो यह कर्तव्य है कि हम अपने को उन शक्तियों के उपभोग करने के योग्य बनावें जिन्हें वैज्ञानिक प्रकृति के अनन्त राज्य से ला रहे हैं। यदि हम योग्य होंगे तो विज्ञान मानवजाति के लिए अवश्य श्रेयस्कर होगा। यदि युद्धों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का दुरुपयोग किया जाता है तो उसका उत्तरदायित्व विज्ञान पर नहीं है। उसी तरह यदि प्रकृति के समस्त सौन्दर्य से युक्त गाँव के स्थान में तंग सड़क, दुर्गन्ध पूर्ण नाली और गन्दे मकानों से युक्त और दरिद्रता ग्रस्त नगर बस जाय तो उसे हम विज्ञान की उन्नति

नहीं कहेंगे। यह तो मनुष्यों की स्वार्थपरायणता और लोभ का फल है। इसलिए विज्ञान की निन्दा करने के स्थान में हमें मनुष्यों में सद्धर्म का प्रचार करना चाहिए। धर्म ही से मानव जाति ठहर सकेगी। धर्माधर्म का ज्ञान लुप्त हो जाने से मनुष्यों का शीघ्र ही संहार हो जायगा। वह समय दूर नहीं है जब एक ही मनुष्य के पास इतनी शक्ति हो जायगी कि वह सिर्फ एक बटन दबाकर एक समूचे नगर को नष्ट कर देगा। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग होने लगेगा तो सचमुच प्रलय-काल उपस्थित हो जायगा।

५६—जाति और साहित्य

साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने साहित्य के विकास-काल को कुछ युगों में विभक्त कर दिया है। किसी विशेष युग में जितने कवि हुए हैं वे सब उसी युग के कवि कहे जाते हैं। तुलसीदास या शेक्सपियर का जन्म एक विशेष काल में हुआ। उस काल में और भी कितने कवि हुए। इतिहासज्ञों ने उन सभी कवियों को एक ही युग में स्थान दे दिया। परन्तु इस काल-विभाग से कवियों की विशेषता प्रकट नहीं होती। तुलसीदास जी के युग में जन्म लेने पर भी किसी कवि की कृति में वह विशेषता नहीं प्रकट हुई जो तुलसीदास जी की रचना में विद्यमान है। यही बात देश, धर्म और जाति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

एक ही देश, एक ही धर्म और एक ही जाति में उत्पन्न होकर भी भिन्न भिन्न कवियों की भिन्न भिन्न विशेषताएँ देखी जाती हैं। महा कवियों के विषय में यह कहा जाता है कि वे देश और काल अपरिछिन्न होते हैं, उनकी रचनाओं में सार्वदेशिक और सार्वकालीन भावनाएँ विद्यमान हैं। परन्तु छोटे कवि भी—जिनकी रचनाएँ अपने देश और काल से आगे नहीं बढ़तीं—अपने विशेषत्व को देश और काल में ही लुप्त नहीं होने देते। विचारणीय यह है कि साहित्य में युग का कौनसा धर्म व्यक्त होता है। देश की कैसी विशेषता प्रकट होती है और जाति की कौन सी भावना निहित रहती है जिसके कारण साहित्य का काल—निर्देश किया जाता है।

सत्य को अनन्त और धर्म को अनादि मानने वाले यह भूल जाते हैं कि अनन्त सत्य और अनादि धर्म केवल भावना के ही रूप में विद्यमान हैं। मनुष्यों के लोक में न तो अनन्त सत्य है। और न अनादि धर्म है। मनुष्य-समाज कुछ ही सत्यों को ले कर व्यस्त रहता है। जो धर्म उसके समाज में प्रचलित है उसका आदि है और अन्त भी। संसार में सत्य बदलते रहते हैं और धर्म भी परिवर्तित होते हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि जिसे आज हम सत्य समझ कर अपनाये हुए हैं उसीको कल मिथ्या समझ कर छोड़ दें। सत्य का यह स्वरूप देश और काल से ही परिच्छिन्न रहता है अथवा यह कहा जा सकता है कि देश

और काल में ही सत्य के इस रूप की अभिव्यक्ति होती है। जब हम यह कहते हैं कि सत्य सर्वव्यापक है, अविनश्वर है तब हम केवल सत्य की भावना का ही विचार करते हैं। यह भावना मनुष्य-मात्र में है। सभी समय और सभी देशों में यह भावना विद्यमान रहती है। मनुष्य की उन्नति का मूल यही है। सत्य के प्रति उसका जो आग्रह है उसीके कारण उसमें जिज्ञासा है। इसीकी प्रेरणा से वह सदैव परीक्षा में निरत रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि सत्य की यह भावना सर्वव्यापक है। परन्तु जब यह भावना प्रकट होती है तब वह किसी देश विशेष के किसी काल-विशेष में किसी जाति-विशेष के मनुष्यों में ही प्रकट होती है। तब उसका स्वरूप परिमित हो जाता है साहित्य में मनुष्यों के यही प्रयास प्रकट होते हैं। सत्य के इन परिमित रूपों को मनुष्य संसार में देखता है। वह जैसा देखता है, जैसा अनुभव करता है उसी को वह प्रकट करता है। कभी उसे विस्मय होता है, कभी हर्ष कभी शोक, कभी क्रोध। जिन पदार्थ विशेषों के कारण उसमें भिन्न भिन्न भावों का उद्रेक होता है वे सब उसके परिमित संसार के होते हैं। उनका उद्भव होता है। और विनाश भी, अतएव उनके साथ ही मनुष्य की भावनायें परिवर्तित होती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि साहित्य की सृष्टि में दो प्रधान कारण हैं। एक तो कवि दूसरा कवि का उपादान।

ये उपादान ही कवि की शक्ति को निर्दिष्ट कर देते हैं। ये उपादान केवल बाह्य संसार की वस्तुएँ नहीं हैं जो कवि की कल्पना को उत्तेजित करती हैं। कवि के अन्तस्तल में कितने ही भाव संस्कार के रूप में छिपे रहते हैं, जिन्हें कवि दूसरों से पाता है, अपने देश से, अपनी जाति से और अपने समाज से। मान लीजिए कि किसी कवि में उच्च कोटि की शक्ति है। परन्तु यदि उसके विकास के लिए उचित उपादान नहीं, यदि उसके देशगत, जातिगत और समाजगत संस्कार अच्छे नहीं हैं तो उसकी कवित्व शक्ति में शैथिल्य आ जायगा। कवि के इन मानसिक संस्कारों को सबसे अधिक पुष्ट करती है भाषा। भाषा पूर्वार्जित भावों का भण्डार है। उसी में तत्कालीन भाव भी रहते हैं। जन्मग्रहण करते ही कवि पर उसका प्रभाव पड़ने लगता है। भाषा के बाद तत्कालीन लोक-रुचि का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिसे हम युग-धर्म कहते हैं वह और कुछ नहीं, लोक-रुचि-मात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि यह लोक-रुचि एक ही दो दिनों में नहीं बन जाती, उसपर अतीत का बड़ा प्रभाव रहता है। परन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि जिसे हम किसी युग-विशेष में धर्म कहते हैं वह सत् के प्रति उस युग के मनुष्यों की रुचि को सूचित करता है। जब यह रुचि विकृत हो जाती है तब मनुष्यों का धार्मिक पतन होने लगता है। आश्चर्य यह है कि दुराग्रह के कारण हम अपनी रुचि-मात्र को धर्म का श्रेष्ठ स्वरूप समझ बैठते हैं और

उसमें सनातनत्व की कल्पना कर अपनी रुचि के विकार को ही धर्म का उज्ज्वल रूप मानने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जो कवि जन्म लेते हैं उनकी कृति में लोक की विकृत रुचि की प्रतिच्छाया अवश्य दृग्गोचर होती है। यह सम्भव है कि कवि अपने व्यक्तित्व के कारण समाज की विकृतावस्था से ऊपर चला जाय। यही नहीं, किन्तु वह समाज के रुचि को परिष्कृत भी करदे और श्रेष्ठ कवियों का यह काम भी है—परन्तु उसे पद पद पर समाज के साथ द्वन्द्व-युद्ध करना पड़ेगा। यह मनुष्य मात्र का स्वभाव है कि परिमित सत्य को स्वीकार करके भी वह अपने ज्ञान के परिमित स्वरूप को देखना नहीं चाहता। अतएव जो नवयुग के विधायक होते हैं उन्हें समाज की सङ्कीर्णावस्था को दूर करने के लिए उसी के आधार पर नवज्ञान की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। वे स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि सत्य का अन्तिम रूप संसार में प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। उसके केवल अंश-मात्र ही व्यक्त हो सकते हैं। इसी से वे अंश में ही अनन्त को देखते हैं। परन्तु संसार एक सत्यांश को छोड़कर दूसरे सत्यांश को ग्रहण करता है। जो महाकवि विश्व-कवि माने जाते हैं, जिनकी रचनाओं में सार्वदेशिक और सार्वकालीन भावों की प्रधानता रहती है वे कुछ ऐसे सत्य की चर्चा नहीं करते जो अनादि अनन्त और निर्विकार हैं। उनमें भी सत्यांश ही रहता है परन्तु वे उन सत्यांशों के द्वारा केवल सत्य के एक अखण्ड रूप को प्रकट

करना चाहते हैं। रामायण, इलियड अथवा पैराडाइज लास्ट में राम-रावण का युद्ध या ट्रोजनवार अथवा सैटन का पतन ही सत्य का अन्तिम रूप नहीं है, यद्यपि उपर्युक्त काव्यां में इन्हीं का वर्णन है। मानव-जीवन की जो उच्चतम आकांक्षा है वही इन घटनाओं में व्यक्त की जाती है। घटना केवल सत्यांश है परन्तु उस घटना में मानव-जीवन की जो सर्व श्रेष्ठ भावना काम करती है वह सत्य है। जिस कवि ने उस पूर्ण सत्य को उपलब्ध कर लिया है उसी की कृति में हम सत्य के अन्तिम स्वरूप की झलक देख पाते हैं। घटना चाहे छोटी हो या बड़ी वह चाहे राम-रावणयुद्ध हो या किसी पतित का अन्तर्युद्ध हो, श्रेष्ठ कवि का काम है हमें उस भावना का प्रत्यक्ष कराना जो मनुष्य-मात्र के हृदय में अव्यक्त रूप से विद्यमान है। यह भावना एक ऐसी पूर्णता की कामना है जिसमें फिर कुछ अपूर्णता नहीं रहती। सभी लोग मानो एक ऐसे पूर्ण पुरुष का दर्शन करना चाहते हैं जिसमें उनकी समस्त आकांक्षाओं का अवसान हो जाय। सुख में और दुःख में, आशा में और निराशा में, उत्थान में और पतन में वह एक ही पुरुष हो, वह पुरुषोत्तम हो। भिन्न भिन्न जातियों ने भिन्न भिन्न देशों में विभिन्न पुरुषोत्तमों की कल्पना की है। इसी कल्पना में उनकी उच्चतम आकांक्षा निहित है।

हम कह आये हैं कि कविकी कल्पना में देश, काल और जाति के संस्कार काम करते हैं। जो जाति स्वाधीन है उसमें यदि

विजयाकांक्षा के भाव प्रबल हैं तो वह निर्विकार और निरीह पुरुषोत्तम की कल्पना नहीं करेगी। अपनी आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए वह एक ऐसे पुरुष की कामना करेगी जो शत्रुओं का पराभव कर देश में विजय लक्ष्मी की प्रतिष्ठा करे। इसी प्रकार जो जाति विजयोल्लास से उन्मत्त है, जिसके घर में औदासी हो गई है वह एक ऐसे पुरुष की इच्छा करेगी जिसे श्री अपनी वरमाला पहना सके। जो जाति मानवीय शक्ति को प्रतिहत देख लेती है, उत्कट लालसा का विषमफल अनुभव कर लेती है, जिघांसा और क्रूरता के घोर परिणाम को जान जाती है वह निर्विकार और निरीह की अभिलाषा करती है। निर्बल जातियां में यदि ऐहिक कामनाओं का प्राबल्य हुआ तो उनकी कल्पना उद्दाम हो जाती है। प्रबल जातियों में विलासिता के भाव ऐहिक सौन्दर्य की सृष्टि के कारण होते हैं, परन्तु निर्बल जातियों में वही काल्पनिक जगत्‌का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार देश के संस्कार काम करते हैं। जो देश प्रकृति की लीला-भूमि है, जहाँ प्रकृति क्षण-क्षण में नवरूप धारण करती है, उस देशके मनुष्यों की सौन्दर्यभावना में वैचित्र्य रहेगा। असीम और अनन्त प्रकृति की गोद में विहार करनेवाली जाति सौन्दर्य का विराट् रूप देखेगी। जिस जातिके साथ प्रकृति का जितना ही अधिक साहचर्य होगा उसकी कल्पना में प्रकृति के साथ उतनी ही अधिक सहानुभूति होगी। काल का प्रभावभी पड़ता है। जिस जातिमें जितनी

अधिक प्राचीनता रहेगी उसमें उतनी अधिक संस्कारों की दृढ़ता होगी। दो भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक सम्मिलन से कुछ न कुछ भेद अवश्य हो जाता है, परन्तु एक प्राचीन जाति एक नव्य जातिको अधिक सरलता से आत्मसात् कर लेती है। इन्हीं सब बातों के आधार पर हमें साहित्य की पर्यालोचना करनी चाहिए।

५७—विश्व-वाटिका

सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है। ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव करने लगता है त्यों त्यों वह उसके विकास के लिए समधिक चेष्टा करने लगता है। उद्यानों की आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य नगर बना लेता है। जिस उद्यान में मनुष्यों का जितना ही शक्ति-वैचित्र्य प्रकट होगा वह उतना अच्छा समझा जायगा।

प्रकृति ने वनों की सृष्टि की है, मनुष्य ने उपवनों की। आज कल संसार में जितने उद्यान हैं उनके दो विभाग किये जा सकते हैं। पहले भाग में ऐसे उद्यान हैं जिनमें मनुष्य प्रकृति का सादृश्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इन्हें हम उपवन कहेंगे। दूसरे प्रकार के उद्यानों में मनुष्य अपना रुचि-वैचित्र्य प्रकट करता है। उन्हें हम प्रमोद-कानन कह सकते हैं। प्रकृति की सृष्टि में भव्यता और उच्छृंखलता रहती है, अतएव उपवनों में भी भव्यता और उच्छृंखलता लाने की चेष्टा की जाती है। प्रमोद-काननों में

कोमलता रहती है। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य का यथेष्ट विकास नहीं हो सकता। सभी फूल-पत्ते मनुष्यों के नियम से संयत रहते हैं। उन्हें एक पद भी आगे बढ़ने की आज्ञा नहीं है। उन्हें एक क्षुद्र सीमा में ही अपना सौन्दर्य प्रकट करना पड़ता है।

योरप में इटली अपने उद्यानों के लिए खूब प्रसिद्ध है। कितने लोगों का ख्याल है कि ऐसे उद्यान संसार में अन्यत्र कहीं नहीं हैं। उद्यानों के जो दो विभाग हमने ऊपर किये हैं उनमें इटली के उद्यानों की गणना द्वितीय श्रेणी की है। इनमें प्रकृति की सदृशता लाने की चेष्टा नहीं की जाती। ये मनुष्यों के लिए बनाये गये हैं, अतएव उनमें मनुष्यों की सुविधाओं का खूब ख़याल किया जाता है। घर में मनुष्य को जो आराम है वही आराम उसे इन उद्यानों में मिलता है। इनकी शोभा फूलों से नहीं है। फूलों का स्थान गौण है। वे इनकी शोभा वृद्धि के सहायक-मात्र हैं। शिल्पी अपने कला प्रदर्शन के लिए उद्यान को एक विशेष साँचे में ढालता है। वह साँचा ही उसका यथार्थ सौन्दर्य है। फूलों को उसमें स्थान अवश्य मिलता है, पर उद्यान की शोभा होती है शिल्पकला से—उसके काट-छाँट से। इटली की यह उद्यान कला कुछ काल के लिए विलुप्त हो गई थी। जब योरप में पुनरुत्थान-काल हुआ तब अन्य कलाओं के साथ ही साथ इस कला भी श्री वृद्धि हुई। पुनरुत्थान-काल के आरम्भ में इटली के प्राचीन उद्यान श्री-हीन हो गये थे। वहाँ झाड़-झंखाड़

उग आये थे, फौवारे नष्ट भ्रष्ट हो गये थे और सीढ़ियाँ टूट फूट गई थीं। पर उनका आकार नकशा ज्यों का त्यों था सोलहवीं शताब्दी में लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ और नेपल्स के जगत्प्रसिद्ध उद्यानों का नवीन संस्कार हुआ।

इंग्लैण्ड के कृत्रिम उद्यानों में रमणीयता नहीं है। एलिजावेथ के समय के उद्यानों में यह बात बिलकुल स्पष्ट है। उनमें कई तरह के फूलों के वृक्ष लगा दिये जाते थे और उनके आस पास ईंट की दीवार या लकड़ी के छोटे छोटे तख्तों का घेरा लगा देते थे। अब वहाँ अन्य देशों के उद्यानों का अनुकरण किया जाता है। खास इंग्लैण्ड की उद्यान कला की यदि कोई विशेषता थी तो वह यह थी कि उसमें प्रकृतिक दृश्यों का नमूना देखने को मिल जाता था। फ्रान्स के एक उद्यान-शिल्पी ने कहा था, "अंग्रेजी उद्यानों को तैयार करना बड़ा सरल है। माली को खूब शराब पिलाकर बगीचे में छोड़ दे और उसको यथेष्ट काट-छाँट करने दे। बस, अंगरेजी उद्यान तैयार हो गया।" उद्यान में प्रकृति की स्वच्छन्दता का अर्थ यही है।

फ्रान्स की उद्यान-कला को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाने वाला एक ही शिल्पी था। उसका नाम था ले नोट्रे। उद्यान शिल्प में जितना प्रभाव उसका है उतना अन्य कला में किसी भी कला-कोविद का नहीं है। उसका प्रभाव आजतक विद्यमान है लोग उसे उद्यान का शेक्सपियर कहते हैं।

ले नात्रे का जन्म सन् १६१३ में हुआ था। उसके बाप की इच्छा थी कि वह शिल्पकार हो। उसकी सौन्दर्य-भावना बड़ी प्रबल थी। भाग्य से उस समय फ्रांस के राजसिंहासन पर लुई चौदहवें का आधिपत्य था और कला की उन्नति के लिए सभी लोग मुक्तहस्त थे। लुई ने उसका बड़ा आदर किया। वर्सलीज़ उसकी कलाकुशलता का अच्छा नमूना है।

डच लोगों को फूलों का बेहद शौक़ है। जापान को छोड़ कर ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ फूलों की इतनी चाह हो। ग़रीब से ग़रीब डच के घर में भी एक छोटा सा पुष्पोद्यान अवश्य होगा। अँगरेज़ मालियों को डचों के उद्यान ज़रा भी पसन्द नहीं हैं। उनकी दृष्टि में वे उद्यान क्या हैं, बच्चों के खिलौने हैं। 'लान, के बीचों बीच एक चौकोर ज़मीन चुनली जाती है। फिर उसके चारों ओर ईंट की एक छोटी सी दीवार पर गुलाब के झाड़ लगा दिये जाते हैं। भीतर क्यारियों और गमलों में तरह तरह के फूलों के पौधे लगाये जाते हैं। ये पौधे बारहों महीने बने रहते हैं। उत्तर में ऐसे झाड़ लगाये जाते हैं जो छाया में उगते हैं। दक्षिण में धूप चाहनेवाले झाड़ लगाये जाते हैं। पश्चिम की ओर ग्रीष्म और शरद के पौधों का स्थान है। पूर्व में सभी तरह के पौधों की भरमार रहती है। पुष्पोद्यान के बीच में हरी घास छोड़ दी जाती है। वहीं एक छोटा सा जलाशय भी बना दिया जाता है। कभी कभी फ़ौवारा भी बनाया जाता है।

प्राचीन काल में भारतीय आर्यों को उद्यानों का बड़ा शौक़ था। भारतवर्ष का जलवायु भी ऐसा उष्ण है कि उन्हें उद्यानों की जरूरत थी। आज कल प्राचीन उद्यानों का चिह्न तक नहीं पाया जाता। परन्तु संस्कृत काव्यों में उद्यानों का उल्लेख किया गया है। इससे विदित होता है कि भारतीयों ने उद्यान-शिल्प में अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। जब भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब उद्यान-शिल्प में यथेष्ट विकास हुआ। सच तो यह है कि इस कला में फ़ारस और तुर्किस्तान की अच्छी प्रतिभा थी। फ़ारस के कवि उद्यानों के सौन्दर्य-वर्णन में ही मुग्ध हो जाते थे। क़ुरान में कहा गया है कि भगवान् ने सबसे पहले उद्यान की सृष्टि की। हाफ़िज़ की कविता उद्यानों के वर्णन से भरी है। फूलों पर मुसलमान जाति का बड़ा अनुराग है। इसका कारण कदाचित् यह है कि क़ुरान में मनुष्य और पशु पक्षियों का चित्र बनाना निषिद्ध है। इसी से मुसलमानों के कलाकौशल में फूलों की प्रधानता है। जब सभी कलाओं में फूलों का आदर है तब पुष्पोद्यान का निर्माण करना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य उद्यानों को देखने से ऐसा मालूम होता है मानो फूल और पौधे अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए विशेष यत्नशील हैं। परन्तु भारतीय उद्यानों में जलाशय ही उद्यान का प्राण है। इटली के उद्यानों में भी कृत्रिम जलाशय

बनाये जाते हैं। परन्तु वे सिर्फ शोभा-वृद्धि के लिए हैं। भारतीय उद्यानों में जल ही प्रधान वस्तु है। यदि जल न रहे तो उद्यान को कोई उद्यान न कहे।

मुग़लों के उद्यानों के चारों ओर ऊँची ऊँची दीवारें घिरी रहती हैं। प्रत्येक कोने में एक गुम्मज रहता है। उद्यान के सीमान्त में एक बड़ा प्रासाद रहता है और सामने विशाल फाटक। विशालता ही मुग़लों की पद्धति है। उद्यान में बड़े बड़े वृक्ष श्रेणी-बद्ध लगाये जाते हैं। बीच बीच में कहीं गुलाब-कुञ्ज हैं तो कहीं कुञ्ज-गृह। शान्ति का तो वह निवास-स्थान रहता है।

काश्मीर और उत्तर-भारत में मुग़लकालीन कितने ही उद्यान हैं। काश्मीर का सब से प्रसिद्ध उद्यान है निशात बाग़। "इसमें सात सीढ़ियाँ भीतर और तीन-चार बाहर हैं। प्रत्येक सीढ़ी पर फूलों की क्यारियाँ और फलों के पेड़ हैं। प्रत्येक सीढ़ी के बीच में पानी बहने के लिए चौड़ी नाली है। प्रत्येक नाली का पानी जो पहाड़ से आता है, प्रपात के द्वारा नीचे की दूसरी नाली में गिराया जाता है। इस प्रकार जितनी सीढ़ियाँ हैं उतने ही प्रपात हैं। प्रत्येक नाली में कई फ़ोवारे हैं। सामने झील है और पीछे ऊँची पर्वत-श्रेणी।"

आजकल भारतीय उद्यानों में पाश्चात्य उद्यान-शिल्प का सम्मिश्रण हो गया है। इससे उसकी भव्यता कम हो गई है।

भारतीय उद्यानों की भव्यता का अनुमान दर्शक ही कर सकते हैं।

यदि भारतीय उद्यानों की विशेषता उनकी विशालता है तो जापानी उद्यानों की विशेषता उनकी सूक्ष्मता है। एक ही क्यारी में एक उद्यान का दृश्य प्रदर्शित कर दिया जाता है। कभी कभी तो एक गमले में ही उद्यान आ जाता है। जापानी उद्यानों में कितने ही झाड़ साठ वर्ष के पुराने हैं और उनमें फल, फूल और पत्ते लगे हैं, पर उनकी ऊँचाई सिर्फ एक फ़ुट है!

जापान के उद्यान-शिल्प को समझ लेना सरल नहीं है। यदि किसी देश का उद्यान-शिल्प जटिल है तो जापान का है। इङ्गलैण्ड में कई उद्यानों में जापानी शिल्प का अनुकरण किया गया। उनमें जापानी फूल और पौधे तो जरूर लगे हैं; पर जापानी शिल्प का सर्वथा अभाव है। जापानी उद्यानों में छोटी से छोटी बात भी नियम-बद्ध है। जापान की कला का अनुकरण जापानी ही कर सकता है। जापानी उद्यानों में पौधों की कौन कहे, पत्थरों तक का स्थान निर्दिष्ट है। उद्यान रहस्यों का भाण्डार होता है, प्राकृतिक दृश्यों के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण किया जाता है। कुछ पहाड़ों से शान्ति का संकेत किया जाता है तो कुछ पौधों से पवित्रता का रूप स्पष्ट किया जाता है। इसी प्रकार सभी फूल-पत्तों का कुछ न कुछ सांकेतिक अर्थ अवश्य होता है। जापानी कला की एक विशेषता यह भी है कि प्रकृति

का दृश्य एक ही गमले में दिखा दिया जाता है। वहाँ भिन्न भिन्न वृक्षों के भिन्न भिन्न नाम होते हैं। पत्थरों के भी पृथक् पृथक् नाम होते हैं। कलाकोविदों की राय है कि उद्यान-शिल्प में सब से अधिक उन्नति, जापान ने की है।

५८—लुई पास्टुर

फ्रांस के प्रसिद्ध रसायन-शास्त्र-वेत्ता लुई पास्टुर की गणना उन वैज्ञानिकों में है जिनके आविष्करों से संसार को अपरिमित लाभ पहुँचा है। संसार में न तो विद्वानों का अभाव है और न कार्तिमान् पुरुषों का। परन्तु ऐसे थोड़े ही लोग होते हैं जो संसार में सुख और शान्ति फैलाने की चेष्टा में ही अपना जीवन लगा देते हैं, वे किसी स्वार्थ-भाव से प्रेरित होकर उद्योग नहीं करते। सच तो यह है कि अपने उद्योग में वे ऐसे लीन हो जाते हैं कि उद्योग ही उनका जीवन हो जाता है। लुई पास्टुर ऐसे ही मनुष्य थे। उनके समान उद्योगशील मनुष्य थोड़े ही होंगे।

लुई पास्टुर का जन्म २७ दिसम्बर सन् १८२२ ईसवी को हुआ था। उसके पिता साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। वे चमड़े का रोजगार करते थे। पास्टुर को अपने जन्मस्थान से बड़ा प्रेम था। एक बार जब वह पेरिस में बीमार पड़ा तब उसने अपने साथी से कहा—"यदि मैं एक बार भी अपने पिता के

चमड़े के कारखाने में जा सकूँ तो जरूर अच्छा हो जाऊं"। जन्मस्थान के प्रति लुई का यह प्रेम सदैव बना रहा। कदाचित् यही कारण है कि लुई के स्वाभाव में इतनी सरलता और स्नेह था।

बाल्यावस्था में लुई की कुछ भी प्रसिद्ध नहीं हुई। उसके जन्म के बाद उसका पिता सपरिवार अराबई नामक स्थान में चला आया। यहीं लुई को प्रारंभिक शिक्षा मिली। साधारण शिक्षा पा लेने के बाद यहीं एक कालेज में वह भरती हुआ। उसकी गणना साधारण विद्यार्थियों में की जाती थी। पर लुई के सौभाग्य से ही यहीं एक अध्यापक से उसका परिचय हो गया। उस अध्यापक ने लुई में प्रतिभा के चिन्ह देखे और उसी ने लुई को इस बात के लिए उत्साहित किया कि वह पेरिस जाकर इकोली नारमेली नामक संस्था में भरती हो। १८३८ में लुई अपने एक मित्र के साथ पेरिस गया भी। वहाँ जाकर उसने एक स्कूल में नाम लिखाया। पर थोड़े ही दिनों के बाद उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और वह घर लौट आया। परन्तु नारमेली में भरती होने की आकांक्षा घटी नहीं। कुछ समय के बाद वह बेसानकान के रायल कालेज में भरती हुआ। १८४० में वह पदवीधर हो गया और उसी कालेज में गणित का सरकारी अध्यापक भी नियुक्त हुआ। दो साल के बाद परीक्षा देकर उसने विज्ञान की भी पदवी प्राप्त करली और वह नारमेली

के लिए उम्मेदवार हुआ। परन्तु कदाचित् परीक्षक की भूल से यहाँ उसे जो प्रशंसापत्र मिला था उसमें यह लिखा था कि उसको रसायन-शास्त्र में विशेष विज्ञता प्राप्त करने की जरूरत है। सौभाग्य से उसे एक अच्छा अवसर भी मिल गया। बलार्ड ने उसे रासायनिक प्रयोगशाला में सहकारी के पद पर नियुक्त कर दिया। तब से वह अनुसन्धान करने लगा और शीघ्र ही उसकी कीर्ति फैल गई। जब उसने पहले-पहल रसायन-शास्त्र में एक खोज की तब किसी ने उसके कथन को प्रामाणिक नहीं माना। बिओट साहब विज्ञान के धुरन्धर आचार्य समझे जाते थे। पास्टुर से उनका परिचय हो गया था। उन्होंने भी पास्टुर की बातों पर विश्वास न किया। पर जब पास्टुर ने उनके सामने प्रयोग करके अपने कथन को प्रमाणित कर दिया तब वे चकित हो गये।

उन्होंने पास्टुर की बड़ी प्रशंसा की। बस उसी दिन से पास्टुर की गणना विज्ञान-विशारदों में होने लगी। स्टेस्बर्ग में फेकल्टी आफ साइन्स में तुरन्त ही उसे रसायनशास्त्र के अध्यापक का पद मिल गया। यहीं उसने एक सुन्दरी का पाणिग्रहण किया। धीरे धीरे उसकी कीर्ति बढ़ने लगी। १८५४ में वह लिली में विज्ञान का अध्यापक नियुक्त हुआ। यहीं उसने वह खोज की जिसके कारण उसका नाम सर्वत्र फैल गया।

बीअर आदि शराब प्रायः बिगड़ जाती थी। उनमें एक तरह का रोग था। इस रोग का प्रतीकार कोई भी वैज्ञानिक नहीं कर सका। एक बार पास्टुर साहब शराब की किसी भट्टी में गये। वहाँ अच्छी और बुरी दोनों तरह की शराब मौजूद थी। उन्होंने ख़ुर्दबीन से खमीर की जाँच की। अच्छी शराब में जो दाने थे वे तो गोलाकार थे, पर ख़राब शराब के दाने टेढ़े-मेढ़े थे। इसी से उन्होंने यह सिद्ध किया कि खमीर की उत्पत्ति की कल्पना असम्पूर्ण है। अभी तक खमीर का विषय बड़ा रहस्यमय था। पास्टुर ने ही सबसे पहले उसे स्पष्ट कर दिया। उन्होंने बतलाया कि खमीर में जो विकार होते हैं उनका कारण फ़रमेंट नामक जीवाणुओं का अस्तित्व और उनकी वृद्धि है। यदि ये जीवाणु किसी प्रकार से निकाल दिये जाँय तो फिर कोई भी विकार न हो। जिस हवा से जीवाणु निकाल दिये गये हों, वहाँ रक्खे रहने से दूध हमेशा मीठा बना रहेगा। तब यह प्रश्न होता है कि हवा में दूध को खुला छोड़ देने से वह खट्टा क्यों हो जाता है। क्या ये सूक्ष्म जीवाणु हमेशा ही हवा में बने रहते हैं? क्या ये खमीर होने योग्य रस के सम्पर्क से उत्पन्न नहीं होते? इसी बात पर बहुत दिनों तक वैज्ञानिकों में विवाद होता रहा। परन्तु अन्त में जीत पास्टुर साहब ही की हुई। उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि हवा से जीवाणुओं के निकाल लेने पर किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता। पास्टुर के

इस आविष्कार से बड़ा लाभ हुआ। लिस्टर नामक एक साहब ने चीर फाड़ की क्रिया में इसका उपयोग बड़ी सफलता से किया।

पास्टुर की बड़ी प्रतिष्ठा हुई। अन्य देशोंने भी उसका सम्मान किया। इकोली नारमेली में उसको एक प्रतिष्ठित पद मिला। परन्तु यह सम्मान उसे योंहीं नहीं मिल गया। इसके लिए बड़े बड़े विरोधों का सामना करना पड़ा। उसके कई मित्र-तक उसके विरोधी हो गये थे। बिआट उसे पुत्रवत् मानता था। परन्तु उसने भी साफ साफ कह दिया कि पास्टुर का कार्य बिलकुल भ्रमपूर्ण है, उसे सफलता मिलने की नहीं। डूमा ने भी उसे यह काम छोड़ देने की सलाह दी। परन्तु पास्टुर अपने सिद्धान्त पर निश्चल रहा। अन्त में अपने अपूर्व धैर्य और विलक्षण अध्यवसायसे उसने पूरी सफलता प्राप्त की।

इसके बाद पास्टुर के धैर्य और अध्यवसाय की कठोर परीक्षा हुई। फ्रांस में रेशम के कीड़ों में एक भयानक रोग फैल गया था। डूमा ने उसका अनुसन्धान करने के लिए पास्टुर से अनुरोध किया। पास्टुर ने तब तक रेशम का कीड़ा भी नहीं देखा था। इसलिए पहले तो वह इस काम से हिचका, पर अपने एक मित्र के अनुरोध को वह टाल न सका। १८६५ के जून में वह गया और सितम्बर में उसने अपने अनुसन्धान का फल प्रकाशित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों का डर

बिलकुल दूर हो गया। पाश्चुर साहब ने उस रोगका निदान और प्रतीकार दोनों ढूँढ़ निकाले। फ्रांस का रेशम का व्यवसाय इससे ख़ूब बढ़ा। पाश्चुर साहब ने एक बार कहा था—"वैज्ञानिक को तो आविष्कार करने में ही आनन्द आता है, परन्तु जब उसका आविष्कार मानव-जीवन के लिए हितकर प्रमाणित हो जाता है तब तो उसके आनन्द की सीमा ही नहीं रहती।"

रोगों के प्रतीकार के लिए पाश्चुर ने जो आविष्कार किया उसका मूल सिद्धान्त डाक्टर जेनर-द्वारा पहले ही प्रतिपादित हो चुका था। १७९६ में जेनर ने चेचक का टीका निकाली थी। परन्तु पाश्चुर ने उस सिद्धान्त के कार्यक्षेत्र को ख़ूब बढ़ा दिया। उनकी रीति के अनुकरण का आश्चर्यजनक परिणाम हुआ। जान पड़ता है, सभी संसर्गज रोगोंके प्रतीकार के लिए पाश्चुर साहब का आविष्कार उपयोगी सिद्ध होगा। जिस तरह ख़मीर में एक विशेष प्रकार के जीवाणु होते हैं उसी तरह रोगों की भी उत्पत्ति जीवाणुओं से होती है। यदि कोई चाहे तो वह इन जीवाणुओं को पैदा कर सकता है। कृत्रिम उपायों से इन जीवाणुओं का बीज क्षीण कर दिया जाता है और यदि वह बीज किसी प्राणी के शरीर में प्रवेश करा दिया जाय तो उस रोग का भयानक प्रकोप न होगा, बहुत साधारण बुख़ार आ जायगा। परन्तु उसको फिर उस रोगका डर न रहेगा। यही बीज दवा हो गई। फ्रांस में मुर्गियों को एक रोग होता था। वह एक तरह का

होता था। उसमें हज़ारों मुर्गियाँ मर जाती थीं। पास्टुर साहब ने अपने सिद्धान्त का प्रयोग किया और उन्हें आशातीत लाभ हुआ। मुर्गियों की मृत्यु-संख्या एकदम घट गई। फिर उन्होंने भेड़ों और बैलों के रोगमें उसे प्रयुक्त किया। उनको टीका लगाया गया और उससे उन्हें भी बड़ा लाभ हुआ।

सबसे बड़ा काम पास्टुर साहब ने यह किया कि उन्होंने जलातंक-रोग की चिकित्सा ढूँढ निकाली। पागल कुत्ते, सियार आदि जानवरों के काट खानेसे यह रोग होता है। यह बड़ा ही भयानक और कष्टदायक रोग है। पास्टुर साहबने पागल कुत्तों पर परीक्षा आरंभ की। परीक्षा करने पर उन्हें मालूम हुआ कि जो पशु इस प्रकार के रोग से पीड़ित हैं उनकी मज्जा-धातु में इस रोग का बीज होता है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि यदि किसी पागल कुत्ते की पृष्ठ-मज्जा से इसका कुछ अंश निकाल कर किसी नीरोग कुत्ते के शरीर में प्रविष्ट करा दिया जाय तो वह कुत्ता भी पागल हो जायगा। तब पास्टुर ने इसमें टीका लगाने के सिद्धान्त का प्रयोग किया। उन्होंने देखा कि जिन कुत्तों के टीका लगाया गया है उन्हें पागल कुत्ते के काट खाने पर भी रोग नहीं होता। इसपर उन्होंने इस बात की परीक्षा आरंभ की कि पागल कुत्ते के काट लेने के बाद टीका लगाने से लाभ होता है या नहीं। इसमें उन्हें सफलता हुई। तब उन्होंने इस रोग को दूर करने के लिए चिकित्सालय खोला। हज़ारों मनुष्यों की चिकित्सा करके

उन्होंने बड़ा नाम कमाया। आजकल सभी देशोंमें पास्टुर साहब के चिकित्सालय खोले गये हैं। ये सब पास्टुर इन्स्टीट्यूट कह-लाते हैं। भारतवर्ष में इस तरह के दो चिकित्सालय हैं। एक तो नीलगिरि पर कोनूर नामक स्थान में, और दूसरा कसौली में।

इस प्रकार अपने आविष्कारों से जगत् का असीम उपकार करके २८ सितम्बर १८९५ को पास्टुर साहब ने अपना यह नश्वर शरीर छोड़ दिया। परन्तु उनका यशः शरीर सदैव विद्यमान रहेगा। "कीर्तिर्यस्य स जीवति।"

५९—कर्ण और अर्जुन

[अर्जुन के बाणों से विद्ध होकर जब कर्ण युद्ध-क्षेत्र में गिर पड़ा तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बतलाया कि कर्ण उसका ज्येष्ठ भ्राता है। तब शोक विह्वल होकर अर्जुन ने कर्ण के मस्तक को अपनी गोद में रख लिया और उसकी सेवा करने लगा। कर्ण अर्जुन की गोद में सिर रख कर विलाप कर रहा है।]

कर्ण—यह कौन है? किसका स्पर्श है? दुर्योधन! हाँ, दुर्योधन ही जान पड़ता है। आओ भाई, कर्ण ने शक्ति भर तुम्हारे लिए युद्ध किया। आओ मित्र, अब उसे अन्तिम विदा दो।

अर्जुन—दुर्योधन नहीं हूँ, भाई! मैं पार्थ हूँ, तुम्हारा अनुज, तुम्हारा छोटा भाई।

कर्ण--कौन ? पार्थ ? हाँ सचमुच यह तो पार्थ है। यह क्या बात है ? तुम्हारा चिर-शत्रु मृत प्राय हो रहा है, शस्त्रहीन आहत, पराभूत पड़ा हुआ है। अब और क्या चाहिए ?

अर्जुन—मुझे क्षमा करो, भाई। मैंने बड़ा अपराध किया है। तुम मेरे सहोदर हो, मेरे ज्येष्ठ भ्राता हो। यह मैंने अभी जाना है।

कर्ण—सहोदर ! ज्येष्ठ भ्राता ! शत्रुओं के प्रति यह कैसा सम्भाषण ! मैं तुम्हारा शत्रु हूँ, तुम मेरे शत्रु हो ? हम लोगों में यही सम्बन्ध है। क्या मैं तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता हूँ ? हाँ, सचमुच, तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। आज प्रातःकाल मैंने सुना कि तुम मेरे अनुज हो, मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ। आज ही यह सुना—इसके पहले किसी ने आकर यह नहीं कहा कि मेरी जननी तुम्हारी माता है। चिर-द्वेषी, चिर द्वन्द्वी, चिर-शत्रु सर्प और नकुल एक ही गर्भ से उत्पन्न हुए ! भाई यह भूल है; यह विधाता की भूल है। कर्ण तुम्हारा चिर-द्वेषी शत्रु तुम्हारा ज्येष्ठ भाई हो, यह विधाता की भूल नहीं तो क्या है; कर्ण अधिरथ का पुत्र है, यही ठीक है, यही अच्छा है। शत्रु के हाथ से मारा गया हूँ, यही सोचकर पीड़ा हो रही है। बड़ी व्यथा है; बड़ा क्लेश है। पद्मावती ! वृषकेतु ! कोई नहीं है ?

अर्जुन—भाई, शोक मत करो। धैर्य रक्खो। शान्त हो।

कर्ण—शान्त हूँगा ! चिन्ता मत करो। यह देखो, मेरे चिरआराध्य, मेरे पिता, सूर्य अस्त हो रहे हैं। पिता मैं अब जा

रहा हूँ। मैं शान्त हो जाऊँगा। भाई, सदा के लिए चला जाऊँगा। पृथ्वी पर तुम्हारा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहेगा। तुम्हारा दर्प, तुम्हारा शौर्य, तुम्हारा यश अक्षुण्ण बना रहेगा, तुम अद्वितीय वीर रहोगे, पर—नहीं, नहीं, मैं अब क्रोध नहीं करूँगा, द्वेष नहीं करूँगा। हिंसा का भाव भी अब मुझमें नहीं है। मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ, तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी कल्याण कामना करता हूँ। मृत्यु आ रही है, चिरशान्ति आ रही है। जान पड़ता है, अब मैं अधिक देर तक नहीं रहूँगा। दो बातें कह देना चाहता हूँ, सिर्फ दो बातें, अपने हृदय की वेदना।

अर्जुन—सुनूँगा, तुम्हारी सभी बातें सुनूँगा। कौन जानता था कि अन्तकाल में यह वेदना, यह व्यथा सहनी पड़ेगी।

कर्ण—हाँ, भाई, सचमुच बड़ी वेदना है, बड़ा दुःख है। आज तक मैं इसे अपने हृदय में छिपाता आया हूँ। पार्थ, भाई मैं आज तुम्हीं से अपने दुःख की यह बात कहता हूँ। आज तक मैंने और किसी से यह बात नहीं कही। पार्थ, सोचकर देखो, बाल्यकाल से मैं कितना अपमान, अवज्ञा, अवहेलना, तिरस्कार सहता आया हूँ। संसार में मैंने अपमान छोड़कर और कुछ नहीं पाया। पद पद पर मुझे लज्जित होना पड़ा, क्षण क्षण में मुझे अपनी व्यर्थता का अनुभव हुआ। मेरे जन्म से मेरी जननी को लज्जा हुई। उसने मुझे फेंक दिया। जन्मकाल में ही मुझे माता का तिरस्कार सहना पड़ा। किशोरावस्था में जब

मेरे हृदय में वीरत्व जागृत हुआ, आकांक्षा हुई तब मैंने अस्त्र-गुरु द्रोण से अस्त्र शिक्षा के लिए प्रार्थना की। गुरु ने राधा-सुत को सूत-पुत्र कह लौटा दिया। फिर मैं परशुराम के पास गया, छल ही रचा हो, उनसे अस्त्र-शिक्षा प्राप्त की। परन्तु मैं क्षत्रिय हूँ, यह जानते ही उन्होंने शाप दे दिया। और शाप कैसा—अन्तिम घड़ी में सम्मुख रण में बाण-बल व्यर्थ हो जायगा। उस दिन की तुम्हें सुध है, जब तुम अपनी अस्त्र-परीक्षा दे रहे थे, मैं तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी होकर आया। मैं भी अपना अस्त्र-कौशल दिखलाना चाहता था। परन्तु लोगों ने अधिरथ-सुत कहकर मेरा उपहास किया, अपमान किया। दुर्योधन ने उस समय अपने गुणों से मुझे गौरवान्वित अवश्य कर दिया। परन्तु ज्योंही मैं अस्त्र-कौशल दिखलाने के लिए उद्यत हुआ, त्योंही खबर आई कि कुन्ती को अकस्मात् पीड़ा होने लगी और सभा भङ्ग हो गई। मेरी शिक्षा व्यर्थ हो गई। हृदय की अभिलाषा हृदय ही में रह गई। सारी आशा नष्ट हो गई। बड़ा क्षोभ हुआ, बड़ी व्यथा हुई। आज भी समाज के उस अविचार और अन्याय का स्मरण कर मैं जला जाता हूँ।

अर्जुन—भाई, गत दुख का स्मरण मत करो। मैं स्वयं लज्जित हो रहा हूँ।

कर्ण—गत दुःख तो गत हो ही गया। परन्तु हृदय की व्यथा बनी रहेगी। मैंने सदैव अपने भाग्य से ही युद्ध किया

और अन्त में व्यर्थता ने मुझे पराजित कर दिया। अभी और भी सुनो। इतने में हा मेरी व्यथा समाप्त नहीं हुई। मुझे और भी अपमान सहना पड़ा, अपनी व्यर्थता का और भी अनुभव करना पड़ा। जब द्रौपदी का स्वयंवर हुआ और कोई भी क्षत्रिय लक्ष्य-भेद करने में समर्थ नहीं हुआ तब मैं दर्प से उठकर लक्ष्य-भेद करने के लिए खड़ा हुआ। उस समय द्रौपदी ने कहा—मैं अधिरथ-सुत को नहीं वरूँगी। अपमान और लाञ्छन से मैं मस्तक नत कर चला आया। मेरी शक्ति व्यर्थ हुई; आशा व्यर्थ हुई, कामना व्यर्थ हुई। पिञ्जर में बद्ध सिंह की तरह—मैं मन ही मन क्रुद्ध होने लगा। परन्तु जैसे सिंह मनुष्य को अपने सम्मुख देखकर एक-मात्र बन्धन के कारण कुछ भी नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैंने भी अपने अपमान को सह लिया।

अर्जुन—भाई, मनुष्य भाग्य का खिलौना है, उसकी क्रीड़ा का साधन-मात्र है।

कर्ण—आज प्रातःकाल ही मैंने मन ही मन दृढ़ प्रतिज्ञा की—आज मैं अपने चिर-शत्रु पार्थ का दम्भ नष्ट कर दूँगा। आज उसे अवश्य ही मारूँगा, आज अपने पथ को निष्कंटक करूँगा, आज कर्ण के जय-घोष से सारी पृथ्वी मुखरित होगी। उसी समय देखा कि कुन्ती खड़ी है। उसने सिर नीचा कर, व्यथित हृदय से, मुझे बतलाया कि मैं उसका पुत्र हूँ। क्षण भर में अन्धकार नष्ट हो गया। हृदय में हर्ष भी हुआ और विषाद

भी। परन्तु मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा शिथिल हो गई। मंत्र-बद्ध सर्प के समान मैं स्तम्भित होकर रण-भूमि की ओर चला। उसी समय एक ब्राह्मण ने आकर भिक्षा माँगी। और जब मैंने भिक्षा देना स्वीकार कर लिया तब उसने मेरे जीवन के रक्षक कवच और कुंडल को माँग लिया। मैंने चुपचाप कवच और कुंडल दे दिये और उसी के साथ मेरे जीवन की अन्तिम आशा भी चली गई। तो भी मेरी शक्ति प्रचंड थी। तुमने स्वयं मेरा प्रताप देखा। मेरी शक्ति कितनी दुर्धर्ष थी। परन्तु हाय, रथ का चक्र पृथ्वी में धँस गया, सिंह बन्धन में फँस गया। जन्म-काल से मैं यही व्यर्थता देखता आया हूँ। मैं विधाता का शाप-रूप हूँ। मेरा जीवन कीर्त्तिहीन और निष्फल रहा। पुत्र होकर माता से त्यक्त हुआ, शिष्य होकर गुरू से तिरस्कृत हुआ, वीर होकर ख्याति नहीं प्राप्त की, विजय का लाभ नहीं किया। आकाश के धूमकेतु की तरह प्रकाश पाकर मैं व्यर्थ ही हुआ। भाई, तुम्हें अपने वंश का गर्व है, माता के स्नेह पर अधिकार है। तुमने सर्वत्र यश प्राप्त किया; सर्वत्र जय प्राप्त की। मैं ज्येष्ठ अवश्य हूँ, पर श्रेष्ठ नहीं। मेरा नाम लुप्त हो जायगा, परन्तु इसका मुझे खेद नहीं है। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि मन में तुम मेरी यह लांछना, मेरी यह अपमान-व्यथा मत भूलना। भाई समझ कर मन में स्थान देना। पृथ्वी पर जो नहीं हुआ वही स्वर्ग में होगा, हम लोग भाई भाई होकर रहेंगे। और कुछ नहीं,

अब जाता हूँ, भाई, तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, तुम सदैव सुखी रहो।

६०—एक संवाददाता

पाश्चात्य देशों में अखबारों की खूब क़द्र है। वहाँ छोटे बड़े सभी लोग अखबार पढ़ने के शौकीन हैं। वहाँ पत्रों की ग्राहक-संख्या लाखों तक पहुँच जाती है। यदि किसी का अखबार चल गया तो वह थोड़े ही दिनों में मालमाल हो जाता है। इसलिए सामयिक पत्रों के सञ्चालक अपने अपने पत्रों को सर्वप्रिय बनाने के लिए बड़ी चेष्टा करते हैं। समाचार-संग्रह करने के लिए वे खर्च करने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं करते, अपने संवाददाताओं को वे अच्छी रक़म देते हैं। ये संवाददाता भी अपने कार्य में बड़े निपुण होते हैं। बड़े कौशल से ये समाचार संग्रह किया करते हैं। सदा इसी फ़िक्र में रहते हैं कि कहीं से कुछ ऐसी बात मिल जाय जिसे पढ़ कर लोगों में सनसनी फैल जाय। इसके लिए ये तकलीफ़ उठाने को भी तैयार रहते हैं। पेरिस के दो-चार लेखकों ने इसी तरह की बातें लिखकर बड़ा नाम पैदा किया है। एम० वालियर, जार्जस डेनियल, जीन डे मान्टियर आदि लेखकों ने ऐसी ऐसी आपत्तियाँ झेली हैं कि उन्हें पढ़कर लोग विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। डेनियल एक बार यह सिद्ध करने के लिए कि लोवरे के अजायब-घर में रक्षक बड़े असावधान रहते हैं, रातभर एक पत्थर के ताबूत में छिपा रहा। एक दूसरा लेखक सीन नदी में कूद

पड़ा और उसके बाद उसने एक लेख लिखा कि पुलिस के कुत्तों से मनुष्य की प्राण-रक्षा नहीं हो सकती। मैडम ओ'शान्टियर को लोग पेरिस-प्रेस की हेलेन कहा करते हैं। हेलेन का नाम होमर के इलियड नामक काव्य में विख्यात है। उसी के सौन्दर्य के कारण ट्राय का युद्ध हुआ था। ऐसी सुन्दरी होकर भी मेमसाहबा भेष बदल कर कुछ समय तक घूम घूम कर मेवे बेचती रहीं। इसके बाद आपने अपने अनुभवों का बड़ा ही मनोरञ्जक हाल लिख डाला। एक दूसरी स्त्री ने लन्दन के दरिद्रों की दुरवस्था का वर्णन करने के लिए कुछ समय तक उन्हीं के साथ निवास किया। पर सबसे विलक्षण हाल एम० वालियर साहब का है। आप एक बार खबर की खोज में पागलखाने की हवा खा आये। वहाँ आपकी बड़ी दुर्दशा हुई,

वालियर साहब ऊँचे क़द के दुबले-पतले आदमी थे। आप की आँखें बड़ी बड़ी थीं। रङ्ग कुछ पीला था। इसलिए आपने जब अपने बाल और दाढ़ी को बिखरा कर दर्पण में अपना मुख देखा तब आप को पूरा सन्तोष हो गया कि लोग आपको देख कर पागल समझ लेंगे। इस तरह पागल का स्वाँग बना कर आप घर के बाहर निकले। आप चाहते थे कि रास्ते में कोई पुलिस का आदमी मिल जाय तो आप पागलपन की हरकतें करें। दैव आप पर अनुकूल था। रास्ते में आपको दो डिटेक्टिव मिले। आप उन्हें अच्छी तरह पहचानते थे। पर वे लोग आपसे

परिचित नहीं थे। ज्यों ही आप उनके पास से निकले, त्यों ही आप खूब जोर से खिलखिला कर हँसने लगे। फिर कहने लगे, "पुलिस की नादानी तो देखो। वह अपने बादशाह एडवर्ड की रक्षा नहीं कर सकती। बेचारा अपने सहारा के भाई के चक्कर में पड़ गया है।"

वे दोनों डिटेक्टिव यह बात सुनकर ज़रा हट कर खड़े हो गये। तब आप एक लेम्प-पोस्ट से बातचीत करने लगे। आपने कहा, "क्यों, तुम्हारी क्या राय है ? तुम तो यहाँ बैठे बैठे दुनिया भर के लोगों से बातें किया करते हो। किसी की सुनते तो हो नहीं। मेरी तो बात सुनो। मैं कहता हूँ, तुम्हारा कहना बिलकुल ग़लत है, एकदम ग़लत। नहीं तो विवाद कर लो, हम तैयार हैं।" लैम्प-पोस्ट ने कुछ उत्तर न दिया।

तब तो आप बड़े नाराज़ हुए, जोर से चिल्ला कर कहा—"बदमाश, शैतान, खड़ा रह अभी, तुझे मज़ा चखाता हूँ।" यह कह कर आपने आस्तीन चढ़ा कर मुक्का उठाया। दोनों डिटेक्टिव खड़े खड़े तमाशा देख रहे थे। अब वे लोग पास आये। आपने उन्हें देख कर बड़े तपाक से कहा, "साहबो, आप बड़े अच्छे मौक़े पर आये। ज़रा इधर आइये। मैं आपको एक मार्के की बात सुनाता हूँ। पर यह लैम्प-पोस्ट कहीं सुन न ले। इधर हट आइये।" फिर आपने आवाज़ धीमी कर के कहा, "मेरा नाम होमोपूलो है। मोरोको के बादशाह ने मुझे राजदूत

बना कर भेजा है। मैं एक खास काम के लिए भेजा गया हूँ। जानते हैं, यह काम कैसा है?" आपने अपनी आवाज़ अब बिलकुल धीमी करली और बड़ी गम्भीरता से कहा,"बादशाह एडवर्ड एक बड़ी विपत्ति में फँस गये हैं। समझे साहबो, मैं ऐसा-वैसा आदमी नहीं हूँ।" अब डिटेक्टिवों को पूरा विश्वास हो गया कि यह आदमी पागल है। उन लोगों ने वालियर साहब को खुश करने के लिए बड़ी नम्रता से सिर झुकाया। फिर एक ने कहा, "आप का कहना सच है। यहाँ इंग्लैंड के बादशाह के एक गुप्त दूत आये हुए हैं। चलिये, मैं उनसे आपको मिला दूँ। तब फिर आप उनसे यह रहस्य खोल दीजियेगा।" होपोपूलो फिर ज़ोर से खिलखिला कर हँसने लगा और कहा, "यह तो आपने खूब मज़े की बात कही।" दोनों डिटेक्टिवों ने बड़ी सफ़ाई से इस बात की जाँच कर ली कि इसके पास कोई पिस्तौल वग़ैरह तो नहीं है। फिर बड़े प्रेम से बात-चीत करते हुए वे तीनों वहाँ से रवाना हुए।

थोड़ी देर में तीनों एक पुलिस-स्टेशन में पहुँच गये। वहाँ के अफ़सर को भी यह विश्वास हो गया कि वालियर पागल है। यहाँ भी वालियर ने पागलपन का स्वाँग रचने में कमाल कर दिया। उक्त अफ़सर से भेंट होते ही आप बड़े तपाक से उठकर बोले, "मेरा नाम सिगनर हेर वान होपोपूलो है। यह मेरा कार्ड है।" यह कह कर आपने जेब से एक लम्बा-चौड़ा तख्ता

निकाला। उस पर काली स्याही से टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों में कुछ लिखा हुआ था। अफ़सर ने बैठने के लिए एक कुर्सी दी। तब आप बड़ी शान से बैठ गये।

इत्तला पाकर वहाँ दो डाक्टर पहुँचे। दोनों डाक्टरों ने होपांपूलो की परीक्षा की। बड़ी देर तक वे उसकी परीक्षा करते रहे। अन्त में उन्होंने यह निश्चय किया कि उसका मस्तिष्क तो बिगड़ा नहीं है, पर कुछ ख़राबी आ गई है, साधारण चिकित्सा से वह अच्छा हो जायगा। पर वालियर साहब तो यह चाहते नहीं थे। उन्हें तो पागलख़ाने जाने की सूझी। आपने तुरन्त ही ऐसा ढोंग किया कि डाक्टरों को भी विश्वास हो गया कि रोग साधारण नहीं है। सर्वसाधारण को धोखा देने के लिए पागलपन का स्वाँग कर लेना सरल है। पर डाक्टरों को धोखा देना टेढ़ी खीर है। कुछ भी हो, वालियर साहब के चकमें में दोनों डाक्टर आगये और उन्होंने होपोपूलो को पागल निश्चय कर उसके दोनों हाथ बँधवा कर एक कोठरी में बन्द कर दिया।

जब वालियर साहब कोठरी में पहुँच गये तब आपको मालूम हुआ कि पागल बनकर रहना सुखकर नहीं है। कुछ देर के बाद आपको भूख लगी। पर डाक्टर की आज्ञा से आपको भोजन की मात्रा इतनी कम मिलती थी कि उससे तृप्त होना तो दूर रहा, उल्टा जठरानल और बढ़ गया। रात किसी तरह आपने

काटी। ग़नीमत यही थी कि आप को नींद आगई। सुबह आप के हाथ खोल दिये गये और आप डाक्टर के पास पहुँचाये गये। डाक्टर ने कहा। "आप पागलखाने में सबसे अलग रक्खे जावेंगे क्योंकि आपका लक्षण असाधारण है। दिन में पाँच-छः बार आपको बर्फ़ में स्नान करना पड़ेगा।" वालियर साहब ने देखा कि अब बात बहुत बढ़ गई है। तब आपने कहा, "मैं एक सामयिक पत्र का संवाददाता हूँ। मैं पागल नहीं हूँ।"

डाक्टर ने उसे आश्वासन देते हुए कहा, "कौन कहता है कि आप पागल हैं। आप ज़रा ठंडे पानी में नहा लीजिए, फिर आप इँग्लैंड के बादशाह से भेंट कीजिए।"

वालियर साहब ने लाख कोशिश की, पर किसी ने होपोपूछो की बात न सुनी। बेचारे को बर्फ़ में डूबना पड़ा। चिकित्सा हो जाने पर आप फिर अपने कमरे में पहुँचाये गये। अकेले बैठ कर आप सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। तुम कुछ भी कहो, ये लोग जो हमारी बात पर विश्वास करने के नहीं।

पाश्चात्य देशों में संवाददाताओं के पास एक कार्ड रहता है। उसमें पत्र-सञ्चालक और पुलिस-अफ़सर के दस्तख़त रहते हैं और संवाददाता का चित्र भी उसी में चिपका दिया जाता है। मौक़ा पड़ने पर उसी को दिखलाकर संवाददाता मौक़े बे मौक़े बच जाते हैं। वालियर साहब को एकाएक ख्याल हुआ कि उनके कोट में कार्ड मौजूद है। जब नौकर भोजन देने आया,

तब आपने उसे अपने कोट को जाँचने के लिए बहुत अनुरोध किया। बड़ी मुश्किल से वह राजी हुआ। डाक्टरों के आने पर वालियर के सामने उनके कोट की जाँच की गई। तब कोट के जेब में वह कार्ड निकला। कार्ड को देखकर डाक्टरों को सन्तोष न हुआ, पर वालियर साहब मुसकराने लगे। फिर डाक्टरों से कहा, "साहबो! आप रञ्ज न करें, मैं आप को दोस्त ही समझूँगा और यहाँ से छूटते ही आपको दावत दूँगा।" डाक्टरों ने इसका उत्तर न दिया और दोनों एक दूसरे की ओर देखने लगे। फिर बड़े डाक्टर ने बड़े गम्भीर स्वर से कहा, "साहब, यह तो बड़ा बुरा हुआ। यह चोरी का मामला है। आपका नाम होपोपूलो है और यह कार्ड वालियर साहब का है। अब तो मामला सङ्गीन हो गया।" इतना कह कर डाक्टर ने घंटी बजाई। नौकर के आने पर उसे चार पाँच गगरे पानी लाने के लिए कहा और फिर वालियर साहब की ओर लौटकर कहा, "आप का रोग बढ़ गया है। इसलिए सब से अच्छा उपाय—"

वालियर साहब ने चिल्ला कर कहा, "माफ़ कीजिए। मुझे आपकी चिकित्सा की जरूरत नहीं, पर डाक्टर साहब ने उनकी बात न सुनी। बेचारे के सिर पर घड़े भर ठंढा पानी डाला गया। इसके बाद सब लोगों ने मिल कर चिकित्सा आरम्भ की। कोई सिर पर पानी उड़ेलने लगा, कोई भीगे गमछे

से उसके शरीर को रगड़ने लगा, कोई पोंछने लगा। बेचारा वालियर बिलकुल घबरा गया। वह सचमुच घड़ी भर के लिये पागल हो गया। वह भागने की कोशिश करने लगा। सामने का दरवाजा खुला हुआ था और वहीं उसके कोट और हैट भी रक्खे हुए थे। वह तुरन्त ही उन्हें उठा कर भागा। बड़ी मुश्किल से वह बाहर आया। तब कहीं उसके जी में जी आया। फिर एक गाड़ी किराया करके वह अपने पत्र के आफ़िस में गया और वहाँ कुर्सी पर बैठकर उसने अपनी विपत्ति की कहानी लिख डाली। कहानी छप जाने पर वह एक कापी लेकर उन्हीं डाक्टरों के पास पहुँचा। डाक्टरों ने कहा, "साहब, हम तो आप को पहले ही पहचान गये थे।" वालियर साहब ने हँस कर कहा, "अब आप क्यों ऐसा नहीं कहेंगे।" फिर तीनों बैठ कर वहीं कहानी पढ़ने लगे।

६१—भारतीय चित्रकला

कुछ वर्षों से प्राचीन भारतीय कला की खूब चर्चा हो रही है। प्राचीन शिल्प-शास्त्रों की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अनुसन्धान करने से जो शिल्पशास्त्र विषयक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उनसे तथ्य-संग्रह कर प्राचीन भारतीय कला का रहस्य जानने की चेष्टा की जा रही है। अभी तक जिन ग्रन्थों की आलोचना की गई है उनमें स्थापत्य और तक्षण

कला की ही बातें हैं। प्राचीन भारतीय चित्र-कला के सम्बन्ध में ऐसी चर्चा नहीं की गई है। किन्तु वर्षों पहले जर्मनी के एक विद्वान् बर्टोल्ड लाउफर (Berthold Laufer) ने तिब्बतीय ताञ्जूर ग्रन्थ-माला से चित्र-लक्षण नामक एक ग्रन्थ खोज निकाला था। उसने जर्मन-भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद भी प्रकाशित किया है। मूल ग्रन्थ तिब्बती-भाषा में है और उसका अनुवाद जर्मन भाषा में है, इसी कारण कदाचित् उसकी चर्चा हमारे देश में नहीं हुई है। नीचे उसी की कुछ बातें लिखी जाती हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि जब तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ तब तिब्बती-भाषा में कितने ही संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। इन पुस्तकों के संग्रह काञ्जूर और तंजूर ग्रन्थमाला के नाम से प्रसिद्ध हैं। चित्र-लक्षण की गणना तंजूर ग्रन्थ-माला में की जाती है। इस ग्रन्थ-माला के सूत्र-विभाग के १२३ खण्डों में चार खण्ड शिल्प-विषयक हैं। उनके नाम ये हैं—

(१) दशतल—न्यग्रोधपरिमण्डल बुद्ध-प्रतिमा

(२) सम्बुद्धभाषितप्रतिमा लक्षण-विवरण

(३) चित्र-लक्षण

(४) प्रतिमा-मान लक्षण

ये चारों ग्रन्थ संस्कृत से तिब्बती-भाषा में अनुवाद हुए हैं मूल संस्कृत-ग्रन्थों का पता नहीं लगता। जर्मनी में एक ग्रन्थ

माला निकल रही है। उसका नाम है Pokumente der Indis sheen kmet अर्थात् भारतीय शिल्प का लिपि-प्रमाण। लाफ़र साहब ने इसी के पहले खण्ड में चित्र-लक्षण को प्रकाशित किया है। दूसरे खण्ड में अवशिष्ट तीनों ग्रन्थ प्रकाशित होंगे।

चित्र-लक्षण में तीन अध्याय हैं। मूल संस्कृत-ग्रन्थ में जान पड़ता है, अधिक अध्याय रहे होंगे। तृतीय अध्याय में लिखा गया है कि दूसरे अध्याय में नयन-भङ्गी का पूरा विवरण दिया जायगा। कुछ भी हो हमें जो मिला है उसी से सन्तोष करना पड़ेगा। इन तीन अध्यायों में पहले दो अध्याय भूमिका मात्र हैं। पहले अध्याय में चित्र-विद्या और चित्र-लक्षण ग्रन्थ की पार्थिव उत्पत्ति आलोचित हुई है। दूसरे अध्याय में चित्र-विद्या की दैवी उत्पत्ति वर्णित है। तीसरे अध्याय में चित्रों का लक्षण प्रतिपादित हुआ है।

पहले अध्याय में एक कथा वर्णित है, जिसमें यह बतलाया गया है कि पृथ्वी पर चित्र-विद्या की उत्पत्ति कैसे हुई। प्राचीन काल में भयजित नामक एक बड़ा यशस्वी राजा हुआ था। वह बड़ा धार्मिक था। उसके राज्य में प्रजा-गण सुख-सम्पन्न थे। अपनी तपश्चर्या के बल से वह राजा देवता से भी अधिक शक्तिशाली हो गया था। एक बार एक ब्राह्मण ने आ कर राजा से कहा, "हे राजन्, आप के राज्य में अकाल मृत्यु कैसे हुई? जान पड़ता है, आपने अधर्म को आश्रय दिया है, तभी मेरे

बालक की मृत्यु हुई। यदि आप ब्राह्मण पर अनुराग रखते हों तो आप यमालय से मेरे पुत्र को लौटा लाइये"। राजा ने तुरन्त ही अपने तप के प्रभाव से यम को बुलाया और उसको ब्राह्मण का पुत्र लौटा देने के लिए कहा। यम ने अस्वीकार किया। तब दोनों में युद्ध होने लगा। जब यम पराजित होने लगा तब ब्रह्मा ने आकर उनका युद्ध बन्द कराया। राजा को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रह्मा ने कहा—जीवन और मृत्यु कर्म-फल के अनुसार ही हैं। यम इस नियम का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। तुम ब्राह्मण पुत्र की एक प्रकृति बनाओ। मैं उसे जीवित कर दूँगा। राजा ने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसे सजीव कर दिया। इसके बाद ब्रह्मा ने कहा—तुमने नग्न प्रेतों को जीत लिया, इस लिए आज से तुम्हारा नाम नग्नजित हुआ। हमारे प्रभाव से तुमने ब्राह्मण-पुत्र का चित्र अङ्कित किया है। इस जीव-लोक में यह पहिला चित्र है। इस विद्या के द्वारा संसार का बड़ा कल्याण होगा और उसी से तुम भी संसार में पूजनीय होगे। बस यहीं कथा समाप्त हो गई। नग्नजित नामक राजा का उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रन्थों किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक गान्धार-राज्य नग्नजित का नाम आया है। जैनसूत्र में भी गान्धार-राज नग्नजित का उल्लेख है। महाभारत में भी कई स्थानों में यह नाम आया है। परन्तु चित्र-लक्षणाकार नग्नजित से इनका कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह अनिश्चित है।

मङ्गलाचरण में यह कहा गया है कि चित्र-लक्षण में विश्वकर्मा, प्रह्लाद और नग्नजित इन तीनों के निर्दिष्ट लक्षणों का सङ्ग्रह है। लाउफ़र का अनुमान है कि इन तीनों ने अपने अपने नाम से तीन भिन्न भिन्न शिल्प-पद्धतियाँ प्रचलित की हैं। परन्तु यह अनुमान चित्र-लक्षण में पुष्ट नहीं होता। ब्राह्मण-पुत्र का चित्र अंकित करने के बाद नग्नजित ने ब्रह्मा से पूछा कि इस चित्र-विद्या की उत्पत्ति कब हुई और भिन्न भिन्न चित्रों के लक्षण और अङ्ग-प्रत्यङ्ग का माप क्या है। ब्रह्मा ने कहा—सब-से पहले वेद और यज्ञ की उत्पत्ति हुई। चैत्य-निर्माण में चित्रा-ङ्कण आवश्यक है। इसी लिए मैंने चित्र-विद्या का प्रचार किया। सबसे पहले मैंने ही मनुष्य का चित्र अङ्कित किया है। इसके बाद ब्रह्मा ने चित्र-विद्या की बड़ी प्रशंसा की और अन्त में कहा कि तुम देव-शिल्पी विश्वकर्मा के पास जाओ। वह तुम्हें चित्रों के लक्षण, नियम और परिमाण बतला देगा। तब नग्नजित ने विश्वकर्मा के पास जाकर उनसे शिक्षा ग्रहण की। इससे तो यही प्रकट होता है कि नग्नजित विश्वकर्मा का शिष्य-मात्र है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि नग्नजित के चित्र-लक्षण का रचना-काल किस शताब्दी में हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छठीं शताब्दी के पहले उसकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। वराह-मिहिर की बृहत् संहिता में दो स्थानों में उसका उल्लेख किया गया है।

चित्र-लक्षण के प्रथम अध्याय में जो कथा वर्णित है उसका सारांश ऊपर दे दिया गया है। दूसरे अध्याय में देव-लोक-चित्र-विद्या की उत्पत्ति कथा है। इस कथा को विश्वकर्मा ने नग्नजित से कहा था। विश्व की सृष्टि करने के बाद सृष्टि की कल्याण-कामना से ब्रह्मा ध्यान मग्न हुए। उनके ध्यान से महादेव, विष्णु, इन्द्र आदि देवता गण भी दिव्य प्रभाव से युक्त हुए और उन्होंने अपने अपने प्रभाव से ओसम्पन्न मूर्ति प्रकट की, उनकी मूर्तियों ने भिन्न भिन्न रूप धारण किया और वे वस्त्रालंकारों से शोभित हुईं। भिन्न भिन्न हाथों में भिन्न भिन्न अस्त्रों से उनके भिन्न भिन्न गुण चित्र में प्रकट हुए। देवता गण अपने अपने चित्र देख कर बड़े प्रसन्न हुए। ब्रह्मा ने कहा—अब इन्हीं मूर्तियों को पूजोपहार देकर संसार कृतार्थ होगा। देवताओं ने कहा—तथास्तु।

तृतीय अध्याय में समस्त अंग-प्रत्यंग का मान दिया गया है। एक स्थान में चक्रवर्ती पुरुष के रूप का वर्णन यों किया गया है। मेघ-युक्त आकाश में चन्द्र बड़ा सुन्दर है। यदि उसके प्रभा-मण्डल-परिवृत रूप से किसी की तुलना की जा सकती है तो चक्रवर्ती नृपति के साथ। इसीलिए उसके शरीर के चारों ओर प्रभा-मण्डल चित्रित है। उसके भ्रू-युगल सुन्दर होते हैं, ग्रीवा और कपाल कमनीय, केश कोमल और केशाग्र कुञ्चित होते हैं। नासिका उन्नत और ऋजु होती है और ओष्ठाधर रक्तिम।

दन्त मोती के समान उज्ज्वल हैं और नेत्र आकाश के समान नीलमा लिये हुए। कन्ध शङ्ख के समान होना चाहिए और ऊरू-युगल हस्ति-शुंड के समान। उसका वर्ण चम्पा के फूल के समान होना चाहिए। हस्तपाद सुपुष्ट होना चाहिए।

ग्रन्थ में जो उपदेश और नियम हैं उनमें एक बात पर ख़ूब ज़ोर दिया है। वह यह कि आदर्श पुरुष का शरीर मांसल होना ही चाहिए। परन्तु चित्र में कहीं मांस-पेशी, शिरा या ग्रन्थि नहीं दिखानी चाहिए। चक्रवर्ती राजा और देवता की मूर्ति में दाढ़ी-मूँछ नहीं रहेगी। उनको नवयुवक के रूप में दिखलाना पड़ेगा। उनका शरीर सिंहोदर के समान दीर्घ-विस्तृत रहेगा—ये लक्षण भारतीय और तिब्बतीय चित्रों में पाये जाते हैं।

चित्र-लक्षण-कार ने नेत्रों के सम्बन्ध में जितना लिखा है उतना और किसी अंग के विषय में नहीं। चित्र-लक्षण में आकर भेद से पाँच प्रकार के चक्षु माने गये हैं। (१) धनुराकृति (२) उत्पलपात्राकृति (३) मत्स्योदराकृति (४) पद्मपत्राकृति (५) कसिसदृशाकृति। योगी के चक्षु धनुराकृति होते हैं और सर्वसाधारण के उत्पलाकृति। राजा, रमणी और प्रेमिक के चक्षु मत्स्योदराकृति होना चाहिए मोह और क्रोध में चक्षु कौड़ के सदृश होते हैं, भय और क्रन्दन में पद्मपत्राकृति। चक्षु के समान भ्रू के भी प्रकारभेद बतलाये गये हैं। प्रशान्त व्यक्ति के भ्रू को अर्धचंद्राकृति और नर्तन-शील आकुञ्चित करना

चाहिये। क्रोधाविष्ठ और क्रन्दनशील के भ्रू धनुराकृति होते हैं। इसी तरह के और भी कितने लक्षण बतलाये गये हैं।

चित्र के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है। नग्नजित चित्र-लक्षण-शास्त्र के प्रवर्तक कहे गये हैं। महाभारत में गांधारराज नग्नजित का उल्लेख है। यदि ये दोनों एक ही हों तो गांधार-राज्य में प्राचीन चित्र-कला का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ग्रीनवेल साहब का कथन है कि गांधार मूर्तियों में चित्र-कला का इतना अधिक लक्षण मिलता है कि यह कल्पना की जा सकती है कि गांधार में पहले कोई चित्र-कला प्रचलित थी। तिब्बत के धार्मिक चित्रों पर उसी का प्रभाव पड़ा है। खोटान और मध्य एशिया में जो चित्र पाये गये हैं उनमें भी गांधार-शिल्प का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

चीन देश में प्रसिद्ध है कि दो खोटनी चित्रकारों ने कोरिया और चीन में भारतीय चित्रकला के आदर्श प्रचलित किये थे। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि चित्र-लक्षण से भारतीय चित्रकला की महत्ता तथा विशेषता प्रकट होती है।

६२—योरप के कुछ संस्कृतज्ञ विद्वान्

आजकल योरप में संस्कृत-भाषा का बड़ा आदर है। वहाँ संस्कृत के बड़े अच्छे अच्छे विद्वान् भी हैं। उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य के कितने ही ग्रन्थ-रत्नों का उद्धार किया

है। उनकी गवेषणाओं से भारतवर्ष को बड़ा लाभ हुआ है। यह उन्हीं के संस्कृत साहित्य-परिशीलन का फल है कि प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास लिखा जा सकता है। उनका ही अनुसरण करके डाक्टर भाऊदाजी, राजेन्द्रलाल मित्र, डाक्टर भाण्डाकर आदि भारतीय विद्वानों ने भी भारतीय पुरातत्त्व का अनुशीलन किया। योरप में संस्कृत का प्रचार होने से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और धर्म-विज्ञान की उन्नति हुई। सच तो यह है कि यदि ये योरप के विद्वान् इतना परिश्रम न करते तो कदाचित् भारतवासी अपने प्राचीन साहित्य का महत्त्व बहुत समय तक न समझते। यहाँ हम इनके कुछ कार्यों का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

संस्कृत-भाषा का अध्ययन पहले-पहल सर विलियम जोन्स ने किया। उसके पहले भी कुछ ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने संस्कृत का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हेनरिचराथ नामक एक जर्मन ने १६६४ ई० में ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ करने के लिए संस्कृत का अध्ययन किया था। एक और जर्मन ईसाई हेनक्स लेडन जो यहाँ १६९९ ईसवी में आया, संस्कृतज्ञ था। चार्ल्स विल्किन्स अवश्य संस्कृत के विद्वान् थे। उन्होंने गीता का अनुवाद किया। वह अनुवाद सन् १७८५ ईसवी में इंग्लैंड में प्रकाशित हुआ।

सर विलियम जोन्स कलकत्ते में सुप्रीम कोर्ट के जज थे। उन्होंने १७८४ ई० में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की

स्थापना की। १७९२ ई० में उनका किया हुआ ऋतुसंहार का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। मनुस्मृति और अभिज्ञान शाकुन्तल का भी उन्होंने अँगरेजी में अनुवाद किया। इसके पहले योरप के विद्वानों को प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का बहुत ही कम ज्ञान था। सर विलियम जोन्स ने उनमें प्राचीन भारत के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न कर दी। एशियाटिक सोसाइटी से जो जर्नल निकलता है उसमें सर जोन्स ने कई गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। सबसे पहले उन्होंने ही यह प्रमाणित किया कि मेगास्थनीज़ का सेण्ड्राकोटस और चंद्रगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति हैं, और पालिबोथ्रा पाटलिपुत्र का ही अपभ्रंश है। सन् १७८४ ई० में उनकी मृत्यु हुई। उनके स्थान पर हेनरी कोलब्रुक साहब आये।

कोलब्रुक साहब संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। संस्कृत के सिवा वे अन्य भी अनेक विषयों के ज्ञाता थे। उनका जन्म १७६५ ई० में लन्दन में हुआ था। १८ वर्ष की अवस्था में उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी में एक नौकरी मिल गई। यहाँ वे ३२ वर्ष तक भिन्न भिन्न पदों पर काम करते रहे। १८०७ ईसवी में बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी के सभापति हुए। १८१५ ईसवी में वे इँग्लैंड लौट गये। वहाँ १८२२ में उन्होंने लन्दन में रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। १८३१ ई० में उनकी मृत्यु

हुई। उन्हीं के परिश्रम से योरप में संस्कृत का विशेष प्रचार हुआ।

होरेस हेमन विलसन ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के चिकित्सा-विभाग में १८०८ से १८३२ तक काम किया। वे भी संस्कृत के विद्वान् हुए। आक्सफर्ड में सबसे पहले ही बोडेन प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए।

फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता, में रेवरण्ड केरी संस्कृत के अध्यापक थे। वाल्मीकीय रामायण को सबसे पहले प्रकाशित करने का श्रेय उन्हीं को है। सर हेनरी मेकनाटन जो काबुल में मारे गये, अच्छी संस्कृत जानते थे।

योरप के अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी में संस्कृत का अच्छा प्रचार हुआ। फ्रेड्रिक शेगल नामक विद्वान् ने वहाँ लोगों का ध्यान संस्कृत-भाषा के अध्ययन की ओर आकृष्ट किया। उसका भाई आगस्ट डब्ल्यू० शेगल भी संस्कृत का प्रेमी था। उसने जर्मनी में संस्कृत-ग्रन्थों को जर्मन-भाषा में अनुवादित करके प्रकाशित किया। १८१८ में वह बान के विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुआ। उसने अपनी गवेषणा पेरिस में आरम्भ की। उसके गुरु थे शेजी।

फ्रेन्चों में सबसे पहले शेजी ने ही संस्कृत का अध्ययन किया। वह कालेज डी फ्रान्स में संस्कृत का अध्यापक था। वहाँ

उसने संस्कृत-साहित्य की बड़ी सेवा की। अनेक भारतीय ग्रन्थों का संपादन किया और कुछ के अनुवाद भी। १८८३ ईसवी में दि इंडियन लाइब्रेरी नामक पत्र का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ। उसमें भारतीय भाषा-विज्ञान पर निबन्ध थे। प्रायः सभी शेजल की रचना थी। उसी साल शेजल ने भगवद्गीता का एक अच्छा संस्करण निकाला। १८२८ ईसवी में उसकी रामायण का पहला भाग निकला। पर वह अपूर्ण ही रह गया।

शेजल के समसामयिक फ्रेंच विद्वान् बाप थे। उनका जन्म सन् १७८१ ईसवी में हुआ। १८१२ में वे भी पेरिस आये और शेजी के पास संस्कृत पढ़ने लगे। १८१६ में बाप ने संस्कृत-भाषा के तुलनात्मक विज्ञान पर निबन्ध लिखा। इस विज्ञान के जन्मदाता बाप ही थे। उन्होंने नल-दमयन्ती के उपाख्यान को लैटिन-भाषा में अनुवाद करके प्रकाशित किया। सबसे पहले उन्होंने ही महाभारतीय उपाख्यानों का अनुवाद जर्मन-भाषा में किया। उनका संस्कृत-भाषा का व्याकरण १८३१ में निकला। उन्होंने एक कोष भी तैयार किया। इन दोनों ग्रन्थों से उनकी अच्छी प्रसिद्धि हुई और इन ग्रन्थों का प्रचार भी योरप में खूब हुआ।

डब्ल्यू० हमबोल्ट साहब ने १८२१ ई० में संस्कृत-भाषा का अध्ययन आरम्भ किया। उनसे उनके भाई अलेक्जेन्डर हमबोल्ट का नाम संस्कृत-विषय में अधिक विख्यात है। तथापि

ये भी संस्कृत के ऐसे-वैसे ज्ञाता न थे। भगवद्गीता पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। इनकी राय थी कि इससे अधिक गम्भीर और उच्च विचारों से पूर्ण दूसरा ग्रन्थ नहीं। हेंगल ने गीता की अच्छी आलोचना नहीं की। इस पर उन्होंने कहा—गीता के विरुद्ध जितने ही अधिक उग्र विचार हेगल के हैं, उतनी ही उस पर मेरी श्रद्धा अधिक बढ़ गई है।

भारतवर्ष में जितनी ख्याति मैक्समूलर की है उतनी शायद अन्य योरोपीय पण्डितों की नहीं है। मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य का अच्छा अनुशीलन किया। उनका जन्म १८२३ ईसवी में जर्मनी के डेशो नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने लिपजिक, हाल और हर्मन ब्र क से पहल-पहल संस्कृत का परिचय प्राप्त किया। फ्रान्स में आकर उन्होंने यूजेन बर्नो से संस्कृत पढ़ी। १८४९ ईसवी में उन्होंने ऋग्वेद का प्रथम खण्ड प्रकाशित किया। फिर बीस वर्ष तक लगातार परिश्रम करके उन्होंने ऋग्वेद को सम्पूर्ण कर डाला। इस काम में बैरन बुनसेन ने उनको बड़ी सहायता दी। ऋग्वेद के सिवा पचास भागों में प्राच्य धार्मिक ग्रन्थ-माला को भी उन्होंने प्रकाशित किया। अच्छे अच्छे कई ग्रन्थों की रचना भी उन्होंने की। १९०१ में उनकी मृत्यु हो गई।

जब मैक्समूलर साहब ऋग्वेद का सम्पादन कर रहे थे तब कुछ समय तक डाक्टर कोलहार्न ने भी उन्हें साहयता दी थी। डाक्टर कोलहार्न जर्मनी के निवासी थे। वहीं उन्होंने संस्कृत

पढ़ी। लिपज़िक से १८६६ में उन्होंने क्रिट्-सूत्रों का प्रकाशन किया। वे कुछ समय तक पूने के डेकन कालेज में अध्यापक भी रहे। यहीं उन्होंने अनन्तशास्त्री नामक विद्वान् से संस्कृत-व्याकरण का अध्ययन किया। फिर उन्होंने नागोजी भट्ट के परिभाषेन्दुशेखर और पतञ्जलि के महाभाष्य का सम्पादन किया। कुछ समय के बाद वे जर्मनी लौट गये। वहाँ वे गार्टिंजन में अध्यापक नियुक्त हुए। वहीं १९०८ ईसवी में उनकी मृत्यु हुई।

आर० विशल नामक संस्कृतज्ञ विद्वान् का जन्म ब्रेसला नामक नगर में जर्मनी में हुआ। वहीं उनको शिक्षा मिली। बर्लिन, आक्सफोर्ड और लन्दन में भी उन्होंने कुछ काल तक अध्ययन किया। १८९५ ईसवी में वे कील के विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक हुए। १८८५ में उनकी नियुक्ति हेल के सैक्सन विश्वविद्यालय में हो गई। १८०२ में उससे भी उनका सम्बन्ध छूट गया। तब उन्हें बर्लिन के विश्वविद्यालय में जगह मिली। मृत्यु तक वे उसी पद पर काम करते रहे। उन्होंने हेमचन्द्र के कई ग्रन्थों का सम्पादन किया। कालिदास के काव्यों और वेदों पर भी उन्होंने कई महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ लिखे। वे जैसे संस्कृत के ज्ञाता थे, वैसे ही प्राकृत के भी थे।

भारतवर्ष के शिक्षा-विभाग में डाक्टर टीबो का अच्छा नाम है। वे भी जर्मन थे। मैक्समूलर के साथ वे तीन-चार वर्ष तक रहे थे। इसीलिये उन्हें भी संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो गया था।

१९८५ में वे अध्यापक नियुक्त होकर बनारस भेजे गये। उन्होंने सुल्व-सूत्रों पर एक बड़ा अच्छा निबन्ध लिखा। इससे उनका बड़ा नाम हुआ। बनारस-कालेज में वे १८८८ ईसवी तक रहे। फिर वे पञ्जाब के रजिष्ट्रार नियुक्त हुए। इसके बाद वे म्यूर सेन्ट्रल कालेज में अध्यापक नियुक्त हुए। उन्होंने पञ्चसिद्धान्तिका और शंकर-रामानुज भाष्ययुक्त वेदान्तसूत्रों का एक उत्तम संस्करण निकाला। इनके सिवा वराहमिहिर पर उन्होंने टिप्पणियाँ लिखीं और मीमांसा और ज्योतिष-वेदाङ्ग पर निबन्ध।

फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ एम० शेजी का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। योरप में संस्कृत के अध्यापक होने का गौरव सबसे पहले आपही को मिला। आप १८१४ से १८३२ ईसवी तक संस्कृत पढ़ाते रहे। आपके बाद यह पद यूजिन बर्नफ़ साहब को मिला। बर्नफ साहब ने संस्कृत-साहित्य में बड़ा काम किया है। उनका जन्म १८०१ ईसवी में हुआ था। १८२४ में पेरिस से वे पदवीधर होकर निकले। दो साल बाद प्रसिद्ध पण्डित लासन के साथ उन्हों ने पाली-भाषा पर एक महत्त्व-पूर्ण निबन्ध लिखा। उन्होंने योरप को बौद्ध-धर्म का परिचय कराया। भारतवर्ष के इतिहास में बौद्ध-काल की प्रधान घटनाओं का समय उन्होंने निश्चित किया। भागवत-पुराण का भी सम्पादन करके उसे उन्होंने प्रकाशित किया। ५०वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हो गई।

जर्मनी में रह कर जिन विद्वानों ने प्राच्य-साहित्य का अनुशीलन किया और नाम पाया उनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि वेबर साहब की हुई। वेबर साहब मैक्समूलर के समकालीन थे। उनका जन्म १८२५ ईसवी में हुआ था और मृत्यु १९०१ में। उन्होंने यजुर्वेद का सम्पादन किया और बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय के हस्तलिखित संस्कृत-ग्रन्थों की सूची तैयार की। १८५० से १८८५ ईसवी तक ३५ साल में उनका Indischen Studies नामक ग्रन्थ १७ जिल्दों में प्रकाशित हुआ। उनके पढ़ाये हुए शिष्यों में से योरप और अमेरिका के अनेक प्राच्य विद्या-विशारद हैं। उनकी प्रसिद्धि भारतीय साहित्य के इतिहास से भी हुई है।

पाणिनी के संस्कृत-व्याकरण का एक बड़ा अच्छा संस्करण बोटलिंग साहब ने निकाला। राथ साहब के साथ मिलकर उन्होंने एक संस्कृत-कोष का भी सम्पादन किया। यह कोष अभी तक योरप में अद्वितीय गिना जाता है। गोल्डस्टूकर साहब ने पाणिनि के स्थित-कालपर एक बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

भारतवर्ष के शिक्षित समाज में अब प्रोफेसर जेकोबी का भी नाम हो गया है। जेकोबी साहब ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। जैन-साहित्य के आप अच्छे पंडित गिने जाते हैं। उनका किया हुआ जैन-सूत्रों का अनुवाद प्राच्य-धार्मिक-ग्रन्थ-माला में प्रकाशित हुआ है।

इनके सिवा और भी अनेक योरोपीय विद्वानों को संस्कृत का अच्छा ज्ञान है। इन्डिया आफ़िस लाइब्रेरी के अध्यक्ष डाक्टर रीनहोल्ड रोस्ट, कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर जालो जो टेगोरला लेक्चरर नियुक्त हुए थे, जेम्स राबर्ट बालें-टाइन जो बनारस के गवर्नमेन्ट कालेज के प्रधान अध्यापक थे, सर एडविन आर्नल्ड जिन्होंने १८९६ में चौरपञ्चाशिका का पद्यात्मक अनुवाद प्रकाशित किया था, ये सभी विद्वान् संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे।

६३—महाभारत

महाभारत प्राचीन हिन्दू-साहित्यागार की अक्षय निधि है। उसके आधार पर अनन्त ग्रन्थों की रचना हो चुकी है। संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी कवियों ने उसी से कथा-भाग का अवलम्बन करके कितने काव्य और नाटक लिख डाले। महाभारत में हिन्दू-धर्म का विशद विवेचन है, उसी में कर्म और ज्ञान का रहस्य समझाया गया है। राजनीति और समाज-शास्त्र की विस्तृत व्याख्या उसी में की गई है। सारांश यह है कि ऐसा कोई भी शास्त्रीय विषय नहीं है जिसका निरूपण महाभारत में न किया गया हो। इसीलिए कहा गया है—

धर्मेचार्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ।
यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

अर्थात् महाभारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों का वर्णन है, जो इसमें है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह दूसरी जगह भी नहीं है।

ज्ञान के ऐसे अक्षय भांडार की परीक्षा करने के अधिकारी वैद्यजी ही के समान विद्वान् हो सकते हैं। आपने महाभारत-मीमांसा में उसकी आलोचना की है। आपकी इस आलोचना से आपकी बहुलता और विवेचना-शक्ति झलकती है। उसी के आधार पर यहाँ कुछ बातें लिखी जाती हैं।

महाभारत मीमांसा में निम्न लिखित चार प्रश्नों का निर्णय किया गया है—(१) महाभारत की रचना किसने की? (२) महाभारत का समय कौन सा है? (३) क्या भारतीय युद्ध काल्पनिक है? (४) यदि वह ऐतिहासिक है तो कब हुआ था? इसके सिवा इसमें तत्कालीन भारतीय सभ्यता का भी वर्णन है। उस समय भारत की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति कैसी थी, शिक्षा-पद्धति कैसी थी, कौन कौन से उद्योग-धन्धे प्रचलित थे, साहित्य, विज्ञान और दर्शन में लोगों ने कैसी उन्नति की थी, उनका धार्मिक विश्वास कैसा था, उनमें कैसी विवाह-संस्था का प्रचार था आदि बातों का भी बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन है। एक भी महत्त्व-पूर्ण बात नहीं छुटी है। लोगों की वेष-भूषा तक का वर्णन किया है। विवादास्पद विषयों की गम्भीर गवेषणा की गई है।

महाभारत विशाल ग्रन्थ है। उसके कर्त्ता वेद-व्यास माने जाते हैं। यही अठारह पुराणों के भी रचयिता कहे जाते हैं। यद्यपि ग्रीक साहित्य के एक नाटककार के विषय में भी यह कहा जाता है कि उसने अकेले सैकड़ों नाटकों की रचना की है, तथापि महाभारत की विशालता देखकर विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि यह असम्भव है कि इतने बड़े ग्रन्थ की रचना एक ही मनुष्य ने की हो। दूसरी बात यह है कि महाभारत में जिन परिस्थितियों का वर्णन है उनके अनुसार महाभारत एक ओर तो वैदिक काल तक पहुँच जाता है और दूसरी ओर अर्वाचीन काल के बौद्ध और जैन ग्रन्थों तथा ग्रीक लोगों के इतिहास ग्रन्थों से आ मिलता है। अतएव इस दीर्घ काल व्यापी सभ्यता का वर्णन एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता है। भारतीय सभ्यता की धारा सदैव मन्द ही रही है, क्योंकि भारतीय प्राचीनता के पक्षपाती ही रहे हैं। बाह्य संघटनों से ही सभ्यता में शीघ्र परिवर्तन होता है और प्रायः उच्च जाति ही का प्रभाव निम्न जाति पर अधिक पड़ता है। भारतीय आर्यों ने अनार्यों से कुछ न कुछ जरूर ही लिया होगा, परन्तु अनार्यों पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी सभ्यता ही लुप्त हो गई। प्राचीन काल में भारत ही सभ्यता का केन्द्र था। अतएव यही अधिक सम्भव जान पड़ता है कि वैदिक काल से लेकर बौद्ध-काल तक भारत की परिस्थिति में विशेष परिवर्तन न हुआ हो तो भी

इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत में बौद्धकालीन स्तूपों तक का उल्लेख है। अतएव ऐसे स्थलों को प्रक्षिप्त मानना ही पड़ेगा। विद्वान् लेखक का कथन है कि वर्तमान महाभारत के कर्ता तीन हैं। तीन से अधिक मानना निराधार है। ये तीन हैं व्यास, वैशम्पायन और सौति। मूल ग्रन्थ ऐतिहासिक था। उसका नाम जय था। उसी के कर्ता व्यासजी हैं। यही ग्रन्थ भारत कहा गया है और अन्त में जब उसका विस्तार बढ़ गया तब वह महाभारत हो गया। हम वैशम्पायन के ग्रन्थ को भारत और सौति की कृति को महाभारत कह सकते हैं। लेखक का यह सिद्धान्त है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप शक के पहले तीसरी शताब्दी में गठित हुआ है। उस समय जैन और बौद्ध धर्मों के आघात से सनातन-धर्म की दुरावस्था हो रही थी। इसीलिए सौति ने भारत को महाभारत का बृहत् स्वरूप देकर सनातन-धर्म के अन्तस्थ विरोधों को दूर कर दिया। मूल ग्रन्थ और वैशम्पायन के भारत में विशेष अन्तर नहीं था। भारत में सिर्फ २४००० श्लोक थे और अब महाभारत में एक लाख श्लोक हो गये हैं। यह अधिक संख्या सौति की जोड़ी हुई है। परन्तु ये भाग व्यासजी के मूल-ग्रन्थ की स्फूर्ति से ही जोड़े गये हैं। ऐसी अवस्था में इन भागों का कर्तृत्व भी व्यासजी को ही दिया जा सकता है। लेखक का यह कथन किसी दृढ़ प्रमाण पर अवलम्बित नहीं है। यह अनुमान-मात्र है। लेखक की

यह भी राय है कि वर्तमान समय की रामायण शक के पूर्व पहली सदी की है। वर्तमान मनुस्मृति का भी यही समय है।

महाभारत की कथा में यत्र-तत्र असम्भव्यता है। लेखक की राय है कि इसके दोषी सौतिजी हैं। उदाहरण के लिए नागों का वर्णन लीजिए। लेखक का कथन है कि ये नाग भारत के मूल-निवासी थे। यही ऋग्वेद में दस्यु के नाम से उल्लिखित हुये हैं। खाण्डव वन यमुना के किनारे था। वहीं ये लोग रहते थे। पाण्डवों ने इन्हें वहाँ से भगा दिया। तभी से दोनों में घोर शत्रुता हो गई। परीक्षित की मृत्यु और सर्प-सत्र उसी का परिणाम है। यह कल्पना पीछे से की गई कि ये लोग प्रत्यक्ष सर्प थे। एक बात हमारी समझ में नहीं आई। सभी देशों के प्रचीन काव्यों में असम्भव्य घटनाओं का वर्णन है। एक समालोचक ने इसका कारण यह बतलाया था कि सभ्यता के आदि-काल में लोगों को ऐसी ही घटनायें रुचिकर होती हैं। जिस प्रकार हमारे बच्चों को काल्पनिक कथाओं में आनन्द आता है, उसी प्रकार हमारे पूर्वजों का भी ऐसी कथाओं में मन लगता था। ज्ञान की वृद्धि होते ही ऐसी घटनायें अरुचि-कर हो जाती हैं और तब लोग अप्राकृतिक घटनाओं का समावेश नहीं करते। यदि व्यासजी इन अप्राकृतिक घटनाओं का वर्णन करते तो हम यह कहते कि सभ्यता के आदि-काल के

अनुकूल ही वह वर्णन था। परन्तु जब बौद्ध-काल में दर्शन और विज्ञान का प्रचार अच्छी तरह हो गया था और लोग हिन्दू-धर्म पर संशययुक्त भी हो गये थे तब सौति ने क्या समझ कर इतिहास को कल्पना के रंग में रँग दिया। इससे वह विशेष उप-देश-प्रद तो नहीं हुआ, उपहास-जनक हो गया। सौति विद्वान् थे और फिर उन्होंने लेखक के अनुसार व्यासजी की कथा के आधार ही पर सब बातें लिखी हैं। इसीलिये उन्होंने ऐसा क्यों किया, यह समझ में नहीं आता। यह दन्त-कथा नहीं थी, यह तो इतिहास था। यदि दन्त-कथा होती तो हम मान लेते कि ज्यों ज्यों समय अधिक बीतता जाता है, त्यों त्यों किसी कथा-भाग में अधिकाधिक असम्भव्यता की भर्ती होने लगती है।

महाभारत के निर्माण-काल के विषय में लेखक की राय है कि महाभारत के काल की सबसे नीचे की मर्यादा सन् ५० ईसवी है। डायोन क्रायसोस्टोम नाम का एक ग्रीक लेखक ईसवी सन् की पहली शताब्दी में दक्षिण-भारत के पाण्ड्य, केरल इत्यादि भागों में आया था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का इलियड है। डायोन क्रायसोस्टोम का यह साक्ष्य अत्यन्त महत्त्व का है। यह तो महाभारत-काल की सब-से नीचे की मर्यादा हुई। पर महाभारत के काल की ऊँची मर्यादा कौनसी है ? महाभारत में यवनों का बार बार उल्लेख किया गया है। आदि-पर्व में वर्णन है कि जिस यवन राजा को

वीर्यवान पांडु भी न जीत सका उसे अर्जुन ने जीत लिया। यह बात प्रसिद्ध है कि यवनों से हमारा परिचय पहले-पहल सिकन्दर के समय हुआ। अतएव सिकन्दर की चढ़ाई को, अर्थात् ईसवी सन् के ३२७ वर्ष पहले के समय को हम महाभारत काल की पूर्व मर्यादा कर सकते हैं।

कुछ विद्वान् भारतीय युद्ध को काल्पनिक मानते हैं। वेबर और रमेशचन्द्रदत्त की यही राय है। वैदिक साहित्य में भारतीय युद्ध अथवा भारतीय योद्धाओं का कुछ भी उल्लेख नहीं है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में वैचित्रवीर्य धृतराष्ट्र का उल्लेख है। फिर वैदिक साहित्य के ग्रन्थ इतिहास तो नहीं है। वे तो धार्मिक ग्रन्थ हैं। प्रसंगानुसार उनमें किसी राजा अथवा व्यक्ति का नाम देख पड़ता है। यदि उनमें भारतीय युद्ध का उल्लेख नहीं है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि भारतीय युद्ध काल्पनिक है। वह कब हुआ, इसके विषय में लेखक महोदय ने सभी प्रमाणों पर विचार कर यह निश्चय किया है कि ईसा के ३१०१ वर्ष पहले यह युद्ध हुआ था। मेगस्थनीज के कथनानुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि श्रीकृष्ण चन्द्रगुप्त के २७६० वर्ष पहले हुए। इस हिसाब से श्रीकृष्ण का समय ईसा के ३०३२ वर्ष पहले हुआ। यही कलियुग के आरम्भ-काल का निकटवर्ती समय है।

इसमें कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें आजकल धार्मिक हिन्दू निन्द्य समझते हैं। लेखक की राय में महाभारतीय काल में नियोग की कथा प्रचलित थी। स्त्रियों को स्वाधीनता थी। चन्द्र-वंशी आर्यों में मातुल कन्या का विवाह निषिद्ध नहीं माना जाता था।

६४—कालिदास

१

काव्य ही कवि का जीवन है। उसी में उसकी आत्मा निवास करती है। यदि हम कवि का वास्तविक रूप देखना चाहते हैं तो हमें उसके काव्य का अवलोकन करना चाहिए। उनसे हम कवि के विषय में कुछ बातें अवश्य जान सकते हैं। कवि का किससे अनुराग था, किससे घृणा थी, कब कब उसे सुख-दुःख का अनुभव करना पड़ा, ये सब बातें उसके ग्रन्थों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करने से प्रकट होती हैं। कालिदास के विषय में बड़ी खोज की गई, पर अभी तक निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। उनके स्थित-काल के विषय में भी अभी तक विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कोई उन्हें ईसा के पहले विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं तो कोई उन्हें राजा भोज का सभाकवि कहते हैं। उनकी जन्मभूमि का भी पता नहीं—कोई मालवा कहता है तो कोई काश्मीर कहता है। एक लेखक ने उन्हें बङ्गाली प्रमाणित करने की चेष्टा की है। अस्तु

मेघदूत के आधार पर यहाँ उनके जीवन की कुछ बातें लिखी जाती हैं।

कालीदास ने और भी काव्य और नाटक लिखे हैं। पर उनका आत्म-चरित जानने के लिए मेघदूत ही का आकलन करना चाहिए। महाकाव्य और नाटक में कवि का कल्पना-क्षेत्र संकुचित रहता है। वह अपने हृदय के उद्गारों को भली भाँति व्यक्त नहीं कर सकता। इसीलिए रघुवंश और अभिज्ञान शाकुन्तल हमारे काम के नहीं। मेघदूत कवि की उपज है। उसमें उसकी कल्पना निर्बाध विचरण करती है। इसलिये इसमें उसके मनोविकार साफ़ साफ़ लक्षित होते हैं। कालिदास के स्थिति-काल का निर्णय करने में कुछ विद्वानों ने उनके ग्रन्थों से गुप्तंश के नरेशों के नाम उद्धृत करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कालिदास गुप्तवंशीय राजाओं के शासन-काल में विद्यमान थे। मेघदूत में भी एक श्लोक ऐसा है—

निस्त निवास कुमार करै वहां तू उनको अन्हवाइयो जाइ के।
पुष्पमई बदरा बनि के नभगंग मिले फुलवा बरसाय के॥

जन्म दियो हर पावक में जिनको सुरराज चमू हित लाइ के।
मंद करैं रविको परतापहु आपने मात पिता गुन पाइके॥

कहा जाता है कि कवि ने यहाँ श्लेष से स्कन्दगुप्त की प्रशंसा की है। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि कुमारगुप्त एक बार हूणों के कारण विपत्ति में पड़ गये थे। तब युवराज स्कन्दगुप्त ने ही

उनके शत्रुओं का पराभव करके वंश-गौरव की रक्षा की थी। उस समय वे मालवे में विद्रोह दमन करने के लिये गये थे। कालिदास ने उक्त श्लोक में इसी का उल्लेख किया है। कालिदास ने किस उद्देश से मेघदूत की रचना की है? हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि जब कालिदास विपन्नावस्था में थे तब उन्होंने इसे लिखा है। एक स्थान में उन्होंने लिखा है—दुर्भाग्य से बंधु-बांधवों को छोड़ कर इतनी दूर तुमसे कुछ याचना करने आया हूँ।

फिर आगे चलकर वे कहते हैं। जिसने पहले कुछ उपकार किया है उसके आनेपर नीच भी उसका आदर करते हैं। फिर ऊँचों का तो कहना क्या? इसके बाद उन्होंने कहा है—अर्थात् तू भी वारिधारा से उसकी जलन को मिटा देना, क्योंकि सज्जन के साथ जो भलाई की जाय उसका फल तुरंत ही मिलता है।

मेघदूत से इसी भाव के और भी अवतरण दिये जा सकते हैं। क्या इससे प्रतीत नहीं होता कि कालिदास कभी विपत्ति में पड़कर अपने परिचित किसी राजा के आश्रय में गये हों और वहीं रहकर उसकी तृप्ति के लिये इसकी रचना की हो?

ऊपर हम एक श्लोक उद्धृत कर आये हैं जिसमें स्कन्द-गुप्त का इशारा किया गया है। स्कन्दगुप्त भी विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध था। यदि उपर्युक्त अनुमान ठीक हो तो हम कह सकते हैं कि कदाचित् स्कन्दगुप्त के लिये ही कालिदास ने

मेघदूत की रचना की हो। संभव है, निम्नलिखित चरण में सूर्य के द्वारा भी उन्हीं पर लक्ष्य किया गया हो—

दृष्टे सूर्ये पुनरपिभवान् वाहयेदध्वशेषं।
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥

कालिदास के विषय में कई किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इनसे यह मालूम होता है कि कालिदास पहले बड़े मूर्ख थे, पीछे से देवी की आराधना कर उन्होंने अलौकिक कवित्वशक्ति प्राप्ति की। मेघदूत से विदित होता है कि कालिदास बड़े भारी विद्वान् थे। भिन्न भिन्न शास्त्रों में तो उनकी गति थी ही। वे संगीत और चित्रकला भी भलीभाँति जानते थे। वे प्रकृति-सौंदर्य के बड़े प्रेमी थे। स्वर्णालंकारों की अपेक्षा वे स्त्रियों को पुष्पालङ्कारों से सज्जित करना अधिक पसन्द करते थे। एक स्थान में उन्होंने स्त्रियों का वर्णन इस प्रकार किया है--

वहाँ स्त्रियों के हाथों में खेलने को कमल हैं, अलकों में कुन्द की कलियाँ हैं। लोध्र की रज से मुख की कान्ति पीली देख पड़ती है, कानों पर सिरीष के फूल रक्खे हैं। चोटियों पर कुरबक गुँथे हैं और वर्षा-ऋतु में फूलनेवाले कदम्ब के फूल माँगों में लगे हैं। कालिदास का प्रकृति-निरीक्षण भी विलक्षण था। किन ऋतुओं में कौन कौन फूल फूलते हैं, पौधा कितना बढ़ जाता है, ये सब बातें उन्होंने ठीक ठीक लिखी हैं। इससे प्रतीत होता है कि उनका बाल्यकाल गाँव में ही व्यतीत हुआ। उन्होंने

ग्रामीण स्त्री-पुरुषों का बड़ा सरल चित्र खींचा है। इस सभी से अनुमान की पुष्टि होती है। सम्भव है, उनकी जन्मभूमि मालवा अथवा उसके आस-पास कहीं रही होगी। अन्य प्रान्तों की अपेक्षा उनका मालवे पर प्रेम अधिक है,

कालिदास ने मेघदूत में कितने ही देशों, नगरों और पर्वतों का वर्णन किया है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति का अच्छा ज्ञान था। उनका वर्णन इतना स्पष्ट है कि यही मालूम होता है कि उन्होंने अपनी आँखों से सब कुछ देख कर लिखा है। इसके लिये उनको देश भर घूमना पड़ा होगा। प्राचीन काल में विद्वानों की यह रीति थी कि विद्याभ्यास कर लेने पर कीर्ति-उपार्जन के लिये देश-पर्य्यटन किया करते थे। कुछ आश्चर्य नहीं जो कालिदास ने भी ऐसा ही किया हो। कालिदास ने अपने जीवन-काल में ही प्रतिष्ठा पाली थी। उनको अपनी कवित्व-शक्ति का ज़रा भी अभिमान न था। वे विद्वानों की सम्मतियों का आदर करते थे। उनका तो यह कहना था कि "आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्दे प्रयोगविज्ञानम्"। अपने जीवन के आरम्भ में उन्हें यह शङ्का ज़रूर हुई थी कि लोग कदाचित् उनकी कृति नवीन समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखें। यह भाव उन्होंने अपने मालविकाग्निमित्र में व्यक्त किया है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं।
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्॥

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते ।
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थात् प्राचीनता ही से किसी का आदर नहीं होता और न नवीनता से निंदा। विद्वान् परीक्षा करके अच्छे को ग्रहण कर लेते हैं। तो भी मेघदूत के पाठ से ऐसा मालूम होता है कि कालिदास के कुछ प्रतिस्पर्धी भी थे। ऐसे लोगों की उन्होंने अच्छी खबर ली है। उन्होंने लिखा है—हे मेघ, मेरी गर्जना सुनकर शरभों को बड़ा कोप होगा। अपने बल का उन्हें बड़ा घमंड है। कभी लांघने के लिये ऊपर कूद-कूद कर वे अपना हाथ-पाँव तोड़ेंगे। तू ओलों की वर्षा करके उन्हें भगा देना। निष्फल यत्न करने से जगत् में किसकी हँसी नहीं हुई? दिङ्नाग पर भी उन्होंने ऐसा ही वाक्-प्रहार किया है।

कालिदास को अपने निंदकों की जरा भी परवाह न थी। उनको अपनी कवित्व-शक्ति पर पूरा विश्वास था तभी तो उन्होंने लिखा है—

हे मेघ तुझ में सार है। वायु तुझे उड़ा न सकेगा। निस्सार ही हीन होता है। पूर्णता से तूने गौरव ही प्राप्त किया है।

कुछ लोगों की राय है कि कालिदास शैव थे। हम यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि वे शैव ही थे, पर मेघदूत से उनकी अगाध शिव-भक्ति अवश्य प्रकट होती है। कालिदास के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उनका चरित्र अच्छा न था।

मेघदूत में तत्कालीन समाज का जैसा चित्र अंकित हुआ है उससे यह साफ़ मालूम होता है कि उस समय लोगों में विलासिता ख़ूब फैली हुई थी। शराब और वेश्याओं के अतिरिक्त दुराचारिणी स्त्रियों का भी उस समय अभाव न था। पर मेघदूत में यक्ष और यक्ष-पत्नी का पवित्र प्रेम जिस तरह वर्णित हुआ है उससे यह विश्वास करने का जी नहीं चाहता कि कालिदास दुश्चरित्र थे।

सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्—यह कभी दुश्चरित्र कवि के हृदय से न निकला होगा? कालिदास को आमोद-प्रमोद से रहना अधिक पसन्द था। वैसे सुख-दुःख का चक्र सदा चलता ही रहता है—"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण। पर जान पड़ता है कि कालिदास का अधिक समय सुख में कटा है। ये सब अनुमान की बातें हैं। संभव है कि इसमें एक भी सच न हो। पर मेघदूत के पाठ से हमारे मन में ये भाव अवश्य उदित होते हैं। सच पूछा जाय तो कवि के जीवन में तो कुछ कवित्व रहता नहीं। एक साधारण गृहस्थ की तरह वह भी अपना काल-यापन करता है। अपने कौतूहल की निवृत्ति के लिये हमें उनकी छोटी छोटी बातें भी जानना चाहिये। यह भी एक प्रकार से कवि के प्रति पूज्य भाव प्रकट करना है।

२

कवि का जन्म मानव-जाति के कल्याण के लिए होता है। उसकी कीर्ति पर किसी एक ही देश तथा जाति का अधिकार

नहीं रहता है। वह समस्त विश्व के लिए है—उसके काव्य पर सम्पूर्ण मानव-जाति का समान अधिकार रहता है। शेक्सपियर की जन्म-भूमि होने का गर्व इंग्लैण्ड को है। पर आज सभी देशों में उसका यशोगान हो रहा है। सभी उसकी रचनाओं से शांति लाभ करते हैं। जर्मनी ने तो अभिमान-पूर्वक यह कहा है कि शेक्सपियर हमारा है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जिनका सम्बन्ध केवल एक ही देश तथा एक ही काल से रहता है। ऐसों की गणना विश्व-कवियों में नहीं होती है। विश्वकवि वे होते हैं जिनकी कविता से प्रभावित होकर मनुष्य अपनी अहन्ता, अपना वैरभाव और अपना व्यक्तित्व तक भूल जाता है। यदि पृथ्वी पर कभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त प्रचलित होगा तो वह ऐसे ही कवियों-द्वारा होगा।

कालिदास विश्व-कवि हैं। उनकी जन्मभूमि होने का तो गौरव भारतवर्ष को ही है, पर अब उनकी कृति संसार की संपत्ति हो गई है। सभी उसका उपभोग कर रहे हैं। जब तक संस्कृत-भाषा का प्रचार यूरोप में नहीं हुआ था तब तक कालिदास की कीर्ति-प्रभा भारतवर्ष में ही अवरुद्ध थी। पर अब उनकी ज्योति यूरोप में भी फैल गई है और बढ़ती जा रही है। कुछ ही समय बाद वह सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो जायगी। ऐसा होना असम्भव नहीं। कालिदास के काव्य यथार्थ ही सार्वजनिक और सार्वकालिक है।

यूरोप में कालिदास का काव्यों का प्रचार सबसे पहले सर विलियम जोन्स ने किया। वे भारतवर्ष में न्यायाधीश होकर आये थे। यहाँ आने पर उन्हें हिन्दू-धर्म-शास्त्र समझने के लिये संस्कृत सीखने में उन्हें कितनी कठिनाइयाँ पड़ीं, उसे यहाँ बताने की जरूरत नहीं। संस्कृत पढ़ते समय अपने गुरु से उन्हें यह जानकर बड़ा कौतूहल हुआ कि संस्कृत-भाषा में नाटक भी हैं और वे कभी रंगभूमि पर खेले भी जाते थे। तब उन्होंने अपनी कौतूहल निवृत्ति के लिये अपने गुरु से कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल पढ़ा। वह उन्हें इतना पसन्द आया कि उन्होंने उसका अनुवाद अंग्रेजी में कर डाला। वह अनुवाद कुछ अच्छा न हुआ था। तो भी उसको पढ़कर जर्मन-कवि गेटी मुग्ध हो गया। शाकुन्तला की प्रशंसा में उसने एक पद्य रचना भी कर डाली। उसका मतलब यह था कि अगर कोई वसन्त के फूल और शरद्-ऋतु के फल पाने की अभिलाषा करे, अगर कोई मन को अपनी ओर खींचनेवाली अर्थात् वशीकरण की वस्तु देखना चाहे, अगर कोई स्वर्ग और पृथ्वी को एक जगह देखना चाहे, तो वह कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल को पढ़े। गेटी जर्मन-साहित्य का सम्राट् था। उसकी इस प्रशंसा ने योरुप में कालिदास की कीर्ति फैलाने में बड़ा काम किया। चेजी ने अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुवाद फ्रेंच में किया। आर० पीशल ने भी आलोचना-सहित शाकुन्तला

का एक अच्छा संस्करण सन् १८११ में निकाला। उसमें वही पाठ-प्रणाली रक्खी गई जो बंगाल में प्रचलित थी। देवनागरी-पाठ-प्रणाली का अनुसरण करके शाकुन्तला-नाटक के और भी कई संस्करण निकले। एक का प्रकाशन ओ० बाल्टलिंक ने किया। जर्मन-भाषा में रूकर्ट ने १८१८ में उसका अनुवाद किया। उसी साल फ्रीट्ज़ का भी किया हुआ अनुवाद निकला।

कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल पढ़ कर योरप के विद्वानों का ध्यान संस्कृत-भाषा की ओर आकर्षित हुआ। संस्कृत-भाषा का प्रचार धीरे धीरे बढ़ने लगा। इसके साथही साथ कालिदास के अन्य काव्यों और नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित होने लगे। कालिदास का विक्रमोर्वशी नामक जो दूसरा नाटक है उसका संपादन करके आर० पीशल ने १८१५ में उसे प्रकाशित किया। विल्सन और कावेल ने उसको अँग्रेजी में अनुवादित किया। कावेल का अनुवाद १८५७ में निकला था। १८८० में फ्रीट्ज़ ने भी लिपज़िक से एक अनुवाद निकाला। मालविकाग्निमित्र का अनुवाद अंग्रेजी में सी० एच० टानी ने १८८१ में किया। इसके पहले जर्मन-भाषा में ए० वेबर-द्वारा उसका एक अनुवाद १८५६ में निकल चुका था। शाकुन्तल-नाटक का एक अनुवाद मानियर विलियम्स ने भी किया है। फ्रीट्ज़ का मालविकाग्निमित्र १८८१ में निकला। कालिदास के काव्यों में रघुवंश श्रेष्ठ है। हरिप्रसाद शास्त्री

ने लिखा है कि इसमें एक विशेषता है, जो किसी अन्य काव्य में नहीं पाई जाती। इसमें मुख्य पात्र बीच ही में लुप्त हो जाते हैं, पर कथा की शृंखला नहीं टूटती, वह वैसी ही बनी रहती है। रघुवंश का लैटिन-भाषा में अनुवाद करके १८३२ में स्टेंजलर साहब ने प्रकाशित किया। उन्होंने १८३८ में कुमार-संभव का भी लैटिन-भाषा में अनुवाद किया। ग्रीफिथ का किया हुआ भी कुमार-संभव का एक अनुवाद अँग्रेजी में है। यह सन् १८३५ प्रकाशित हुआ था। कालिदास के काव्यों में मेघदूत की भी बड़ी प्रशंसा है। गेटी तो इससे मुग्ध हो गया था।

स्टेंजलर साहब ने १८७४ में उसका संपादन करके उसे प्रकाशित किया। इनके इस संस्करण में शब्दों की एक सूची भी दी गई है। विलसन ने उसका अनुवाद अँग्रेजी पद्यों में किया है। वह १८६० में प्रकाशित हुआ। वी० क्लार्क का मेघदूत लंदन में १८८२ में प्रकाशित हुआ। मैक्समूलर-द्वारा जर्मन भाषा में किया गया मेघदूत का अनुवाद १८५१ में निकला १८५८ में स्कोट्स का और १८७४ में फ्रीट्ज का अनुवाद निकला। ऋतु-संहार कालिदास का सबसे छोटा काव्य है। यह कदाचित् उनकी प्रथम रचना है। पर उसमें भी कालिदास की प्रतिभा झलक रही है। गुणानलचार्य ने उसकी बड़ी तारीफ की थी। लैटिन और जर्मन भाषा में किया गया उसका अनुवाद पी० भी० बोलन-द्वारा लिपजिक में १८४० में प्रकाशित हुआ।

इसके सिवा भारतीय विद्वानों ने भी कालिदास के काव्यों के अनुवाद अँग्रेजी में किये हैं। अरविंद बाबू का किया हुआ विक्रमोर्वशी का अनुवाद अंग्रेजी पद्य में अपूर्व है। इससे यह भली भाँति स्पष्ट है कि संसार के श्रेष्ठ कवियों में कालिदास का जो स्थान है उसके अनुकूल ही उनके काव्यों का प्रचार हो रहा है।

कालिदास विश्वकवि थे। उन्होंने अपने काव्य में आदर्श जगत की सृष्टि की है, वह मनुष्य मात्र के लिए है। उन्होंने मनुष्य की अन्तर्निहित क्षमता को देखा है और दुर्बलता को भलीभाँति पहचान कर उन्होंने मनुष्य के जीवन में विश्वभाव की प्रधानता निश्चत की है। यहाँ, हम उस पर कुछ विशद रूप से विचार करना चाहते हैं। कालिदास के ग्रन्थों में तीन काव्य सर्वश्रेष्ठ हैं, मेघदूत-रघुवंश और अभिज्ञान शाकुन्तल। सबसे पहले हम मेघदूत को लेते हैं। मेघदूत के द्वारा कवि ने भारत के तत्कालीन वैभव का वर्णन किया है। उसमें हम दो ही बातें देखते हैं, एक तो पुरुष की उद्दाम लालसा और दूसरी स्त्री का विषाद। भारत की अट्टालिकाओं और प्रमोद-वनों में हमने पुरुषों की विलासिता देखी और एक कोने में विषण्णवदना स्त्री की मलिन मूर्ति का दर्शन किया। जब कोई पार्थिव वैभव से मदोन्मत्त हो जाता है तब पशु के समान उसका अधः पतन होता ही है। परन्तु उसके अधःपतन में स्त्रियों का विषाद भरा

हुआ है। यदि स्त्री की मूर्ति विषादमयी हो तो उसका कारण मनुष्य की वासना है। जब हम स्त्री की दृष्टि में विषाद की गम्भीर छाया देखते हैं तब हमें पुरुष की पौरुषहीनता का स्मरण होजाता है। सभी देशों में पुरुषों की लालसा का परिणाम स्त्रियों का विषाद है। परन्तु इनके विषाद में भी पवित्रता है। ये संसार की मलिनता को अपने अन्तस्थल में छिपा लेती हैं और उसके बदले में ये संसार को अपना हृदय दे डालती हैं। वही यक्षपत्नी का प्रेम है। रघुवंश में आदर्श पुरुषों का चरित्र-गौरव अंकित किया गया है। कवि ने उनके रूप में जिस प्रकार उनकी विशाल भुजा और विशाल वक्षस्थल का दर्शन कराया है, उसी प्रकार उनके अन्तःकरण में विराट् कामना, विराट् प्रतिहिंसा, विराट् क्षमता, विराट् आत्मत्याग का दृश्य भी दिखलाया है। रघुवंश के सभी नराधिप विश्वजित्, वे सर्वस्व त्याग करने के लिये विश्वविजय की कामना रखते थे। उनकी प्रतिहिंसा का स्वरूप यह था कि वे पददलित सर्प के समान शोणित की इच्छा से शत्रु को दमन नहीं करते थे, केवल अपमान का प्रतिकार करना ही उन्हें इष्ट था। उनकी क्षमता यह थी कि शत्रु का उन्मूल कर उन्हें वे फिर वैभव-सम्पन्न कर देते थे।

रघुवंश में कवि ने बतलाया है, 'निष्काम कर्म क्या है, गृहस्थ किसे कहते हैं, धर्म की जय और पाप का पराजय कैसे

होता है। दिलीप, रघु और रामचन्द्र के चरित्र में मनुष्यत्व का गौरव प्रदर्शित किया गया है, अग्निवर्ण के चरित्र में मनुष्यत्व का अधःपतन बतलाया गया है। रघुवंश के नराधिपों-द्वारा कवि ने विश्व को जो सच्चा सन्देश दिया है वह उनके निम्न लिखित श्लोकों में व्यक्त हुआ है—

त्यागाय सम्भृतार्थानां, सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजगीषूणां, प्रजायै गृहमेधिनाम्।
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्।

इन श्लोकों में मनुष्यों का कार्यक्षेत्र निर्दिष्ट कर दिया गया है और उनका आदर्श भी बतला दिया गया है। इसी प्रकार कवि ने स्त्री का भी आदर्श निश्चित किया है। पुरुष विराट् भावों की ओर अग्रसर होता है। दिलीप की तपस्या, रघु का पराक्रम, दशरथ का प्रेम, रामचन्द्र का प्रजानुरञ्जन ये—सब विराट् भाव के ही द्योतक हैं। संसार के रणक्षेत्र में इनकी शक्ति उद्दीप्त होती है। ये स्त्रियाँ मनुष्यों के अंतःकरण में स्नेह-सलिल की वर्षा करती हैं। कालिदास की स्वर्ग-सृष्टि में यदि पुरुषों की उपमा ऐरावत से दी जाय तो कल्पना का स्थान स्त्रियाँ लेंगी। उनके दर्शन-मात्र से मनुष्यों की सब कामनायें पूर्ण हो सकती हैं। रघुवंश में सबसे पहला चरित्र सुदक्षिणा का है। उसमें शौर्य नहीं, तेज नहीं, क्षमता नहीं। दिलीप की वह छायामात्र

हैं। उन्हीं का वह अनुगमन करता है। दिलीप ने अपने आश्रित के लिये आत्म-बलिदान कर दिया। हम उनके पराक्रम से विस्मय-मुग्ध हो गये। सुदक्षिणा ने ऐसा भाव कहीं भी नहीं प्रकट किया। परन्तु सेवा और सहिष्णुता में, स्नेह और स्वार्थ-त्याग में, धर्मानुराग और चरित्र-विशुद्धि में वह दिलीप से हीन नहीं है। उसका निष्काम-स्नेह देखकर हम उसकी पूजा करते हैं। रघुवंश में स्त्रियों का चरित्र-वर्णन गौण है। अपने देव-दुर्लभ गुणों के कारण भगवान् रामचन्द्र समस्त मानव-जाति के परम पूज्य देवता हैं। हिन्दू-जाति के लिये तो वे साक्षात् ईश्वर हैं। उनका नाम मात्र स्मरण कर मनुष्य भव-सागर को उत्तीर्ण कर लेता है और स्वर्ग लाभ कर सकता है। परन्तु सीता-मूर्तिमयी शांति और सौंदर्य हैं। उनसे यह पृथ्वी ही स्वर्ग हो गई है। उनके स्मरण करने से प्रत्येक गृह स्वर्ग हो सकता है, भवसागर को उत्तीर्ण करने की भी आवश्यकता नहीं रहती है। जहाँ सीता के पदतल अंकित हों, जहाँ उनकी प्रतिदिन पूजा की जाती हो, जहाँ कहीं वे स्त्रियों के एक मात्र ध्येय हों, वहाँ ऐसा कौन हतभाग्य होगा जो पारलौकिक स्वर्ग की कामना करे। स्वर्ग की कल्पलता की कामना इसीलिये की जाती है कि दुःख और दारिद्र न हो। दुःख और दारिद्र में ही कल्पलता की आवश्यकता है। पृथ्वी की इस कल्पलता की भी परीक्षा तभी होती है जब विपत्ति आती है। भगवती

सीता का सौंदर्य रघुवंश के राजप्रासादों में परिस्फुट नहीं हुआ है, उनका यथार्थ रूप भीषण अरण्य की पर्णकुटी में ही लक्षित होता है।

कालिदास ने स्त्रियों के चरित्र-चित्रण में उनके अंतः सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान दिया है। कुमार-संभव में यह अच्छी तरह बतलाया गया है कि स्त्रियों की शक्ति उनके अंतः सौंदर्य के विकास में है। पार्वती के बाह्य सौंदर्य से जो शंकर अजेय रहे वही उनका अन्तः सौंदर्य देखकर उनके वशीभूत हो गये। पार्वती की तपस्या के लिये, उनके सौंदर्य का निर्मल-रूप प्रकट करने के लिये शङ्कर आराध्यपति के रूप में विराजमान हैं। कुमार-संभव में आदि से अन्त तक पार्वती ही की प्रधानता है। देवों से भी अजेय शत्रुओं के पराजय के लिये पार्वती का मातृ-रूप समर्थ था। यह स्त्रियों के गौरव का यथार्थ निदर्शन है, मातृरूप में ही स्त्रियाँ जगन्मंगलकारिणी होती हैं।

सीता और पार्वती जगज्जननी के रूप में हमारे हृदय-सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं। उनसे स्वर्ग भी पवित्र हो सकता है, परन्तु शकुन्तला के रूप में कालिदास ने जिस कल्पलता की सृष्टि की है वह पर्णकुटी की उतनी ही शोभा वृद्धि करती है, जितनी राजप्रासाद की। शकुन्तला ने कन्या के रूप में अपने पिता कण्व के हृदय में कितना स्थान कर लिया था, वह तभी मालूम होता है जब कण्व कहते हैं, बेटी, तुम्हारे

लगाये हुए इन पेड़ों को देखकर मैं क्या कभी शांत रह सकूँगा। जब उसको दुष्यन्त ने पत्नी-रूप में स्वीकार नहीं किया तब उसके हृदय में कितनी ग्लानि, कितनी लज्जा, कितनी वेदना हुई होगी। इसलिए जब हम उसे पति वियोग में तपस्विनी के रूप में देखते हैं तब वह हमारे हृदय में सदा के लिये स्थान कर लेती है। हमारी यही लालसा होती है कि हम प्रत्येक गृह में शकुन्तला देखें, कन्या के रूप में, पत्नी के रूप में और माता के रूप में। ये सब चरित्र मनुष्य की महिमा के सूचक हैं, परन्तु मनुष्य में कितनी भी महत्ता हो उसमें दुर्बलता रहती ही है। वह दुर्बलता स्नेह की है। पर इसी दुर्बलता से ये मनुष्यों के हृदय में स्थान बना लेती हैं। अपने चरित्र के गौरव के कारण ये हिमालय के समान अपना मस्तक उन्नत कर अनन्त को स्पर्श करती हैं। विघ्न और बाधा से निर्भय, काल और मृत्यु से अटल ये केवल अपनी ही महिमा से स्थित रहती हैं। संसार के लिए इनकी महिमा अगम्य है। लोग इन्हें नत-मस्तक हो प्रणाम कर सकते हैं, इनको ग्रहण करने का साहस नहीं कर सकते। परन्तु इनके हृदय से जो स्नेह की मन्दाकिनी धारा बहती है, वह समस्त मृत्युलोक में व्याप्त हो जाती है। वह सभी लोगों के लिये सुलभ होती है। सभी उसका अनुभव कर सकते हैं। दिलीप अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण पृथ्वी से बहुत ऊँचे हो गये हैं। परन्तु पितृस्नेह ने उन्हें पृथ्वी पर खींच लिया है। जब उन्होंने पुत्र का

अंग-स्पर्श कर अपत्य-स्नेह का अनुभव किया तब वे नराधिप न हों, सिर्फ पिता थे। उस समय उनका स्थान अयोध्या के किसी भी दरिद्र पिता के स्थान से ऊँचा नहीं था। वैभव और क्षमता मूल्यवान् है, परन्तु यह स्नेह अमूल्य है। इसीलिए दिलीप ने पुत्र प्राप्त करने पर अपने राज-चिन्ह को छोड़ सर्वस्व दे डाला। रघु ने भी अकिंचनता स्वीकार कर पुत्र-रत्न प्राप्त किया। अज के अचल धैर्य को बालक दशरथ के एक शब्द ने भंग कर दिया। वे संसार को त्याग चुके थे, पर पुत्र की ममता को नहीं छोड़ सके। दशरथ ने पुत्र-स्नेह में प्राण-त्याग कर दिया। रामचन्द्र ने स्नेह से ही सीता के अन्तिम वियोग को सह लिया। कालिदास ने सर्वत्र अपत्य-स्नेह का स्वर्गीय चित्र अंकित किया है। उसी के द्वारा उन्होंने अपने देव-तुल्य चरित्रों को मनुष्यत्व के रूप में प्रदर्शित किया है।

कालिदास ने पशु-पक्षी और लताओं को भी अपने अक्षय परिवार में सम्मिलित किया। उनके जगत् में प्रकृति जड़ नहीं, जीवित है। उनकी तरु-पंक्ति राजा का स्वागत करती है, वृक्ष राजा पर लाज-वर्षा करते हैं। उनके पशु-पक्षी सीता के दुःख से दुःखी होते हैं। उनकी लतायें शकुन्तला के वियोग में अश्रु-मोचन करती हैं। प्रकृति का मनुष्य पर जैसा भाव था, वैसा ही भाव प्रकृति पर मनुष्य का था। देवदारु पर पार्वती का उतनाही प्रेम था, जितना कार्तिकेय पर। सीता ने वृक्षों से ही अपत्य-स्नेह का

अनुभव किया। शकुन्तला तो प्रकृति की कन्या थी। उसके तो सभी बन्धु-बान्धव थे। यही कालिदास की स्वर्ग-सृष्टि थी। इसमें हमने देखा कि संसार मनुष्यों के लिए लीलास्थल नहीं है, तपोभूमि है। संसार में सुख-दुख, और उत्थान-पतन का जो चक्र चल रहा है वह मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है। इसी के द्वारा मनुष्य की आत्मा का निर्मल स्वरूप उदित होता है। दुःख और दरिद्र में ही वह रत्न है, जिसको प्राप्त करने के लिए राजसिंहासन को छोड़कर नराधिप कुटी में रहता है।

६५—शिशु का संसार

एक बार भगवान् ईसामसीह ने कहा था कि बच्चों को मेरे पास आने दो, उन्हीं से तो स्वर्ग का साम्राज्य है। परन्तु कितने लोग ईसामसीह की बात मानते हैं और यदि मानते भी हैं तो बच्चों के जीवन को स्वर्गमय बनाने की चेष्टा कितने लोग करते हैं? मार्टिन लूथर नामक एक बड़े विद्वान् के विषय में यह कहा जाता है कि जब वह किसी बच्चे को देखता था तब वह तुरन्त टोपी उतार कर उसके प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करता था। उसका यह आदर-भाव उस आत्मा के प्रति था जो शिशु के शरीर में निवास करती है। न जाने उसमें कैसी बड़ी शक्ति छिपी हो? ऐसी ही एक कहानी एक दूसरे विद्वान् के विषय में भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उस विद्वान् को प्राणदण्ड की

आज्ञा हुई। जब वह गाड़ी में बैठ कर वध-भूमि की ओर जा रहा था तब एकाएक एक बच्चा उस गाड़ी के नीचे पड़ गया। तब उसने तुरन्त ही गाड़ी रुकवा कर उस बच्चे की रक्षा की। एक आदमी ने उससे पूछा, तुम तो स्वयं मरने जा रहे हो, तुम्हें एक बच्चे के प्राणों की इतनी चिन्ता क्यों है? उसने उत्तर दिया—कौन जानता है कि इसमें कैसी आत्मा है। हिन्दी में एक कहावत प्रसिद्ध है—ना जाने किस भेष में नारायण मिल जाँय।

परन्तु शिशु का जीवन केवल इसी लिए आदरणीय नहीं है कि उसमें भविष्य मनुष्यत्व का बीज है। उसका संसार ही अलग है और उस संसार में निश्छल सुख, निश्छल प्रेम और निश्छल भाव रहता है। जिन मनुष्यों का जीवन छल में व्यतीत हुआ है वे भी शिशु के संसर्ग से अपना कपट-भाव छोड़ बैठते हैं। धनी हो या दरिद्र, राजा हो या मजदूर, सभी के घरों में शिशु का साम्राज्य अटल है। फ्रांस का राजा लुई चौदहवाँ बड़ा प्रतापी था। उसके पराक्रम से सारा योरप काँपता था। एक बार उसका प्रधान-मन्त्री उनसे भेंट करने के लिए अचानक राज-महल में जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि फ्रांस के जगत्प्रसिद्ध सम्राट् को बच्चों ने घोड़ा बना रक्खा है। एक उन पर सवार है और दूसरा उन पर तड़ातड़ चाबुक जमा रहा है। योरप का शासक बच्चों के शासन से घुटने के बल कमरे में चक्कर लगा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि शिशु का साम्राज्य अटल है।

परन्तु प्रेममात्र से शिशु की जीवन-रक्षा नहीं हो सकती। उसके लिए माता-पिताओं को उचित ध्यान देना चाहिए। बच्चों के स्वास्थ्य और सुख की वृद्धि के लिए उचित आयोजना की जानी चाहिए। कुछ समय पहले हमने एक अँगरेज़ी पत्र में एक ऐसी संस्था का हाल पढ़ा जो केवल अन्धे बच्चों की—उन बच्चों की जिनकी केवल शैशवावस्था में ही दृष्टिशक्ति नष्ट हो गई है—रक्षा में दत्त-चित्त रहती है। हमारे देश में कुछ दरिद्रता के कारण और कुछ अज्ञानता के कारण बच्चों की रक्षा में बड़ी उपेक्षा की जाती है। इसी से कितने ही बच्चों का स्वर्गीय जीवन अल्प काल में ही नष्ट हो जाता है। हर्ष की बात है कि अब बच्चों की रक्षा के लिए उचित शिक्षा देने का आयोजन हो रहा है। यहाँ हम बच्चों के स्वर्गीय जीवन की एक ऐसी झलक दिखाना चाहते हैं जिसे प्रतिदिन देख कर भी हम लोग नहीं देख सकते। उनकी चतुरता, उनकी सरलता और उनकी विनोद-प्रियता सचमुच मनोमुग्ध-कर होती है।

एक बार मा के दाँतों में दर्द था। रोटी खाने में तकलीफ़ होती थी। इसलिए उसे हलुवा बनाना पड़ा। बच्चे की तबीयत ख़राब थी। इसलिए मा उसे हलुवा देना नहीं चाहती थी। बच्चे ने हलुआ देख कर पूछा—मा, यह क्या है? मा ने कहा—हलुवा। मेरे दाँतों में दर्द है। इसी से खा रही हूँ। बच्चे ने हलुवे के लिए हठ नहीं किया। मा को बड़ा आश्चर्य हुआ। दो-चार दिनों के

बाद बच्चे ने माँ से कहा—मा, दाँतों में आज बड़ा दर्द हो रहा है। माँ हँस पड़ी और उसे हलुआ बनाना पड़ा।

एक बार एक बच्चे ने अपनी माँ से पूछा—माँ, तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ था ? माँ ने कहा—नागपुर में। बच्चे ने फिर पूछा—और दादा का जन्म कहाँ हुआ था ? माँ ने कहा—पूना में। बच्चे ने फिर पूछा—और मेरा जन्म कहाँ हुआ था ? माँ ने कहा—वर्धा। बच्चे ने कुछ सोच कर कहा—कितने अचरज की बात है कि हम लोग एक ही जगह आ गये ?

एक बार माँ ने अपने बच्चे को खूब समझा कर कहा—देखो, अगर तुम अपने कपड़े साफ़ रक्खोगे तो तुम अच्छे लड़के होगे और तब तुम्हें कोई नहीं डाटेगा। बच्चे ने कहा—सच ? अगर मैं अच्छा हूँगा तो कपड़ा मैला करने पर क्या मुझे कोई नहीं डाटेगा ?

माँ रसोई घर में काम कर रही थी। बच्चा उधर पानी के लिए चिल्लाने लगा। माँ ने झल्ला कर कहा—अभी आकर पीटती हूँ। बच्चे ने कहा—माँ, जब तुम पीटने के लिए आना तब पानी लाना मत भूलना।

बच्चे को धोखा देना टेढ़ी खीर है। वह दिल्लगी उड़ाने में चूकता नहीं। एक बार गर्मी के दिनों में बर्फ़ मँगाया गया। बच्चे को बर्फ़ देने की मनाई थी, इसलिए बर्फ़ छिपाकर एक कमरे में रक्खा गया। परन्तु बच्चे ने देख लिया। जब वह भीतर जाने

लगा तब माँ ने कहा—अरे वहाँ मत जाना, शैतान छिपा है। बच्चा डर गया। थोड़ी देर में बाप भीतर गया और बर्फ़ तोड़ने लगा। बच्चे ने चिल्लाकर कहा—देखो माँ, शैतान बर्फ़ खा रहा है।

शिशु-संसार का वर्णन करना साधारण बात नहीं। उनके भावों के भीतर पहुँच जाने के लिए बड़ी समझ चाहिए। यहाँ हम कुछ कवियों के वर्णन के आधार पर कुछ विषयों पर बालकों का भाव बतलाना चाहते हैं। देखिए, उनमें कैसी सरलता और पवित्रता है।

पहले गुड़िया के साथ एक बालिका का वार्तालाप सुनिए। लड़की कह रही है—मेरी प्यारी गुड़िया, देख तेरी छोटी सी चारपाई बिछ गई है, तू इस पर लेट जा। मालूम होता है, आज तेरी तबीयत ठीक नहीं। तेरे हाथ-पैर गरम हैं। क्यों प्यारी, बतला तेरे कहाँ दर्द है? क्या तेरा सिर दर्द कर रहा है? कहीं तूने ज्यादा खाना तो नहीं खा लिया? अच्छा ठीक है, मैं तेरे लिए थोड़ा सा चूरन लाती हूँ और तेरी खाट के पास पीने के लिए थोड़ा सा पानी भी रख देती हूँ। नहीं, नहीं, तू बुलायगी तो मैं फ़ौरन उठ बैठूँगी। ओ मेरी प्यारी गुड़िया, यह तो बता, कहीं तू प्यारे गुड्डे के टूट जाने का तो रंज नहीं कर रही है?

एक बालक की इच्छा सुनिए—मैं सोचता हूँ, अगर मैं एक सुन्दर तितली होता तो हवा में चमकीले पैर फैलाकर खूब उड़ता। लेकिन माँ कहती है, तुम्हें यह भी मालूम है कि कभी कभी

तितलियाँ जाल में पकड़ जाती हैं। मैं सोचता हूँ, जो मैं कहीं छोटा-मोटा भूरा चूहा होता तो रात भर मकान में खूब इधर से उधर दौड़ लगाता। लेकिन माँ कहती है, तुम भूल करते हो, छोटे छोटे चूहे रोज पिंजड़े में पकड़े जाते हैं। अच्छा, मैं सोचता हूँ, मैं एक छोटी गौरैया होता तो इस डाली से उस डाली पर फुदकता और घोंसले में रहता। लेकिन माँ कहती है, अच्छा, कोई चालाक बिल्ली पीछे से आकर तुम्हें चुपके से पकड़ ले तो? मैं कहता हूँ, अगर मैं ऐसा बच्चा हो जाता जो हमेशा अपने माँ का कहना मानता है तो कैसा होता? माँ कहती है, अच्छा, कोशिश करो, यह मुश्किल बात नहीं, धीरे धीरे तुम मेरा कहना करना सीख लोगे।

बालक के लिए मीठा क्या है? सुनिए—इमरती, रसगुल्ला, पेठा और दालमोंठ और जो जो मिठाई हलवाई की दूकान पर मिलती है या केला और अंगूर, अमरूद और अनार, अथवा सेब और नारंगी इन सब में तुम्हें कौन सी चीज सब से अधिक मीठी लगती है? अंगूर और लीची भी मीठी होती है, किन्तु सब मीठी चीजों में मुझे, सच बताऊँ, एक चीज सबसे अधिक पसन्द आती है। बस, उससे बढ़कर कुछ नहीं है। तुम नहीं जानते, उसे हम माँ का प्यार कहते हैं।

गुड़िया के साथ दूसरी बालिका की बातचीत सुनिए—गुड़िया, मैं तुम्हें एक बड़ी मीठी बात सुनाती हूँ। मैं तुम्हारे लिए बहुत

बच्दा जूतों का जोड़ा मोल लाई हूँ, क्यों, मेरी प्यारी गुड़िया, तुम्हारे जूते बिलकुल फट गये थे। अच्छा, इधर आओ कुरसी पर बैठो, देखो यह तुम्हें कैसा होता है। ओह, ये तो कुछ छोटे मालूम होते हैं। मेरी गुड़िया, ये तो तेरे पैर में नहीं बैठते। अच्छा कुछ परवा नहीं, मैं फिर इनको बदल लाऊँगी, जरूर बदलूँगी, नहीं तो इन तंग जूतों से तेरे पैर में छाले पड़ जायँगे।

बच्चों की घुड़दौड़ आपने देखी होगी। पर यह घुड़दौड़ भी देखिए। बड़ी बहन कहती है—नहीं, तुम्हारा टट्टू कभी नहीं चल सकता। अम्मा कहती है, तुम चाहे जितनी कोशिश करो वह नहीं चलेगा। अच्छा, आओ तुम मेरे घुटने पर आ बैठो, मैं तुम्हें दूर दूर की सैर कराऊँगी। अच्छा, लो हम परी-देश को चलते हैं। सचमुच उससे बढ़कर सुन्दर और कोई देश नहीं है। पहले धीरे धीरे दुलकी चाल चलो, जैसे लड़के को हवा खिलाते वक्त टहलते हैं। फिर ज़रा घोड़े को ऐंड़ लगाओ, वह भागने लगता है। मगर देखना, हँसोगे तो नीचे गिर पड़ोगे। वह देखो, झाड़ियाँ और पेड़ घुड़दौड़ में पीछे रह जाते हैं। हम लोग एक मिनट में एक मील चलते हैं। अच्छा, अब सरपट दौड़ो, लगाम डाटो, नहीं तो धड़ाम से नीचे गिरोगे। देखो सँभलो, सँभलो,—धम धड़ाम। बस, बस, तब अम्मा गोद में उठाकर हमारा मुँह चूम लेती है।

बच्चा अपनी बुल्ली की तसवीर उतार रहा है—बिल्ली बुल्ली, देखो, सीधी मैं तुम्हारी तसवीर खींचूँगा, देखो, हिलो डुलो मत और न ऊधम करो। सचमुच हमने कभी ऐसी शैतान लड़की नहीं देखी। वह देखो, तुमने नाच नाच कर ग़लत करा दी न, करा दी। देखो, तुम्हारी दुम कितनी लम्बी हो गई है, तुम्हारे दाहने पैर का पंजा भी टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है।

अब एक खाली स्लेट की कहानी सुनिए—शैतान बाबू ने दिन भर खेल-कूद में गवाँ दिया। कभी आँख-मिचौनी तो कभी गेंद-बल्ला। शाम हुई, मास्टर साहब के सवालों की याद आई, सवाल नहीं हुए, नहीं हुए। ऊँटपटाङ्ग मास्टर ने चिल्ला कर कहा—क्यों हज़रत, सवाल किये या नहीं? शैतान बाबू ने हड़-बड़ा कर कहा—मास्टर साहब, सवाल ठीक ठीक नहीं आते। फिर मास्टर साहब ने और भी नाक-भौं चढ़ाई और भर्रानी आ-वाज़ से कहा—अच्छा, तुम्हारा सवाल तो नहीं आता है, लेकिन मेरा बेत आ गया है।

भाई, इस बेत से सब डर कर रहना। यहीं शिशु का संसार खतम होता है।

६६—बौद्धकाल की कुछ मूर्तियाँ।

हम लोगों को अपनी प्राचीन शिल्प-कला से अधिक प्रेम नहीं है। सच पूछो तो हम लोगों में अधिकांश उसकी विशेषता

ही नहीं जानते। पर पाश्चात्य देशों में उसका यथेष्ट आदर है। सु-दूर अमरीका के प्रसिद्ध अजायब-घर में हमारे देश की बौद्ध-मूर्तियों का संग्रह है। इस लेख में हम उन्हीं मूर्तियों का विवरण देते हैं। उपर्युक्त अजायब-घर में भगवान् बुद्ध का एक मस्तक रक्खा है। यह मस्तक प्रायः पूरा है। इसका निर्माण गान्धार-शिल्प-कला-पद्धति के अनुसार हुआ है। इसमें प्राच्य और प्रतीच्य भाव का सम्मिश्रण खूब ही स्पष्ट मालूम पड़ता है। मुख की आकृति सुन्दर एवं सुडौल है। उसमें भाव प्रदीप्त होने पर भी आकृति स्त्रियों के मुख की जैसी है। उसमें गढ़न के चातुर्य्य एवं भाव-व्यंजना का अभाव है। गान्धार का शिल्प-कौशल अशोक-कालीन कला के प्रभाव से रहित है, यह बात इस मस्तक से सहज ही समझी जा सकती है। गुप्त-युग के जो बुद्ध-मस्तक पाये गये हैं उनमें जो कला-कुशलता है वह गान्धार-युग की मूर्तियों में नहीं है। सच पूछिए तो परवर्ती युग की शिल्प-कला में जो कला-चातुर्य देखने में आता है उसका गान्धार-युग के शिल्पियों में बहुत कुछ अभाव है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी प्राचीन बौद्धमूर्तियाँ गान्धार-शिल्प-पद्धति की ही बनी मिलती हैं। ईसाई-सन् की तीसरी शताब्दी के पूर्व की बुद्धदेव की कोई मूर्ति नहीं पाई जाती, इसके पहले केवल प्रतीक के मध्य में बुद्ध का थोड़ा-

बहुत अस्तित्व पाया जाता है। भारतीय शक राजाओं के समय के गान्धार-काल एवं पश्चिमी एशिया के शिल्पियों की पाषाण-मूर्तियों में अधिकतर यूनानी मूर्ति निर्माण-कला का ही निदर्शन देखने में आता है। उसे हम प्रान्तीय रोमन-शिल्प-कला का नमूना भी कह सकते हैं। उस समय की कितनी ही मूर्तियाँ पाश्चात्य पद्धति के अनुसार निर्मित हुई हैं, यह उनके देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। इन पाषाण-मूर्तियों की रचना के मूल में यूनानी प्रभाव विद्यमान है, यह बात फरासीसी विद्वान फूसे ने निर्दिष्ट की है। पर इनमें जो भारतीय भाव विद्यमान है वह अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जिस बुद्ध-मस्तक का ऊपर उल्लेख हुआ है उसमें जो ध्यान-तन्मयता और आध्यात्मिक एकनिष्ठता का परिचय पाया जाता है वह तो सम्पूर्णतः भारतीय भावना है।

बौद्ध-मूर्तियों की सभी विशेषतायें उल्लेख-योग्य हैं। एक उनकी पगड़ी की ही बात लीजिए। बौद्ध-मूर्तियों में यह वस्तु अपना विशेष स्थान रखती है। सम्भवतः यह उस समय में दैहिक लक्षणों में गिनी जाती थी। मूर्तियों में इसका कब से प्रचार हुआ, इसको जानकर कौतूहल उत्पन्न होता है। प्राचीन काल में यदि किसी बालक का मस्तक जन्म के समय पगड़ी के आकार का होता था तो ज्योतिषी लोग यह स्थिर करते थे कि वह बालक भविष्य में महापुरुष होगा। इस सम्बन्ध में

फ़ूशे का यह मत है कि गान्धार-शिल्पियों ने बुद्ध का मस्तक एक-दम संन्यासियों जैसा मुण्डित नहीं बनाया, किन्तु भारतीय रीति के अनुसार स्त्री-जाति के सदृश सकेश बनाया था। कुछ काल के उपरान्त बौद्ध-शिल्पियों को यह रीति उचित नहीं अँची। केश रक्खे जायँ या नहीं, इन दोनों बातों के सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो गया। अन्त में छोटे छोटे, दक्षिण ओर को मुड़े हुए कुञ्चित केश रक्खा जाना निश्चित हुआ। यह आकृति भी महा-पुरुष का एक लक्षण ठहरा दी गई। इस प्रकार के केशों का प्रचलन बहुतेरी बौद्ध-मूर्तियों में पाया जाता है। इसके बाद धीरे धीरे जूड़े का प्रचार हुआ, जिसने पुनः परिवर्तित होकर पगड़ी का रूप धारण किया। फ़ूशे के मत से गान्धार-शिल्प-कला में पगड़ी इस रूप से प्रवर्तित नहीं हुई थी। यह बात सत्य भी है, क्योंकि अनेक गान्धार-मूर्तियों के मस्तक पर केवल एक शिखा या चूड़ा ही पाई जाती है। परन्तु फ़ूशे का मत सभी जगह ठीक नहीं उतरता, क्योंकि ऐसी कितनी ही मूर्तियाँ मिली हैं जिनके मस्तक पर पगड़ी की अपेक्षा कुञ्चित केश अधिक लम्बे रूप में झूलते हुए पाये जाते हैं। पगड़ी का प्रचलन फ़ूशे पर-युग की बात समझते हैं। यह बात ठीक नहीं है। उसका प्रचार गान्धार-युग के बहुत पहले से था। सम्भवतः पगड़ी की प्रथा बुद्धमूर्ति का एक प्राचीन लक्षण है। उपर्युक्त बुद्धमस्तक से भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि पगड़ी का प्रचलन गान्धार में पहले से ही

विद्यमान था। इस मस्तक की दोनों भौंहों के मध्य में ऊर्णा-रेखा या संयुक्त रोम-रेखा देख पड़ती है। इस रेखा ने धीरे धीरे मूर्ति में बिन्दी के सदृश एक लघु वृत्ताकार धारण किया है, मानो सौन्दर्य्यवर्द्धन का एक परम साधन हो गया हो। किसी किसी मूर्ति में इस रेखा की जगह बहुमूल्य रत्न जड़ दिये गये हैं। पुरी की जगन्नाथजी की मूर्ति के मस्तक में ऐसा रत्न जड़ा हुआ है। भारत के अनेक प्रदेशों में स्त्रियाँ अपने मस्तक में जो गोल बिन्दी अथवा टिकुली देती हैं और शिव आदि हिन्दू-देवताओं के मस्तक में जो तीसरा नेत्र दिखाई पड़ता है वह पूर्वोक्त रेखा के स्थान में ही है। इस प्रकार मूर्ति के मस्तक में इस रेखा के अङ्कित करने के प्रचलन का पता लगता है।

उपर्युक्त बुद्ध-मस्तक में एक और भी विशेषता है। इसके कानों के नीचे का हिस्सा कुछ लम्बा झूल रहा है। इसमें शिल्पी का कोई विशेष उद्देश नहीं है। आज-कल भी भारत की अनेक जगहों में स्त्री और पुरुष कानों में इतने भारी सोने के कुण्डल पहनते हैं कि उनके कानों के नीचे का भाग झूल सा पड़ता है। सिद्धार्थ संन्यासी होने के पूर्व इस प्रकार के कुण्डल निश्चय ही पहनते होंगे। इसी से उनके कानों के नीचे के भाग लम्बायमान बनाये गये हैं।

बोस्टन के अजायब-घर में गुप्त-युग की कितनी ही पाषाण-मूर्तियाँ सङ्गृहीत हैं। इनमें एक विष्णुमूर्ति है। बुद्ध का एक

मस्तक भी है। यह बुद्ध-मस्तक मथुरा के शिल्पियों का बनाया हुआ है। इसके नाक और गाल नष्ट हो गये हैं। तो भी गुप्त-कालीन शिल्पियों के कला-नैपुण्य का इससे पूर्ण परिचय मिल जाता है। इस युग के भारतीय शिल्पी यूनानी शिल्पियों के समकक्ष थे। गुप्त-युग साधारणतः तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य तक माना जा सकता है। उपर्युक्त बुद्ध-मस्तक भी सम्भवतः चौथी शताब्दी या उसके कुछ बाद का होगा। इसमें पगड़ी का आकार नहीं है, सीधे-साधे केश बने हुए हैं।

अब विष्णु-मूर्ति की बात लीजिए। इस मूर्ति के तीन मस्तक हैं—बीच का मस्तक मनुष्य का, दाहनी तरफ़ का सिंह का और बायीं तरफ़ का बाराह का मस्तक है। बीचवाले मस्तक पर एक बड़ा सा मुकुट है, कानों में सुन्दर कुण्डल लटक रहे हैं, गले में हार और हाथों में कड़े पड़े हुए हैं। बायें कन्धे पर एक पतला हार सा है, जो सम्भवतः यज्ञोपवीत है। पहले यज्ञोपवीत अङ्कित करने की चलन नहीं थी। उसका प्रचार पीछे से हुआ है। इसी से पीछे की बनी मूर्तियों में यज्ञोपवीत मिलता है। प्राचीनकाल में जो विशिष्ट लोग समाज की मङ्गल-कामना के व्रती रहते थे वे कन्धे पर उत्तरीय अर्थात् दुपट्टे का व्यवहार करते थे। इसका उन्हें विशेष प्रयोजन पड़ता था—अधिकतर देव-पूजा, पितृ-कर्म और अतिथि की अभ्यर्थना के समय। जो लोग सदैव सत्कार्य में नियुक्त रहते थे उन्हें उत्तरीय का

व्यवहार सुविधाजनक नहीं समझ पड़ा। इससे उत्तरीय के बदले वे अभिमन्त्रित कई तार के सूत्र धारण करने लगे। इस प्रकार यज्ञोपवीत का प्रचलन आरम्भ हुआ। पहले सभी ब्राह्मण यज्ञोपवीत नहीं धारण करते थे। प्राचीन पुस्तकों में इसके सम्बन्ध में यथेष्ट प्रमाण मिलते है। सम्भवतः इसी से प्राचीन मूर्तियों में यज्ञोपवीत का अभाव है। हाँ, दसवीं शताब्दी के पीछे जो सब मूर्तियाँ बनी है उनमें यज्ञोपवीत का प्रचलन मिलता है। सिंहल में वज्रपाणि की मूर्ति पाई गई है। वह इस सम्बन्ध में प्रमाणस्वरूप है। प्राचीन देवताओं और राजाओं की मूर्तियों में उपवीत के बदले स्वर्ण की मालाओं का प्रचलन देखा जाता है और संन्यासियों की मूर्तियों में केवल गले में सूत की ग्रन्थियाँ दिखाई पड़ती हैं। यज्ञोपवीत की ब्रह्मगाँठ माला के रूप में परिवर्तित हो गई थी।

विष्णु-मूर्ति के अन्यान्य आभूषणों में दोनों हाथों के ऊपर की ओर एक एक बहु-रत्न जटित हार पड़ा हुआ है! इससे वन-माला का निर्देश होता है—इस मूर्ति में मथुरा के कृष्ण का विशेष प्रभाव विद्यमान है। मूर्ति में चार भुजायें हैं। कटि से नीचे का भाग खण्डित हो गया है। इस प्रकार की विष्णु-मूर्ति और काश्मीर एवं कुल्लू में प्राप्त विष्णुमूर्ति के साथ बौद्ध-देवता मरीचि (जो उदीयमान सूर्य के प्रतिनिधि माने जाते थे) का यथेष्ट सादृश्य है। मरीचि के भी तीन मस्तक थे। उनमें से एक

शूकरमुख विष्णु के वाराह-अवतार एवं दूसरा सिंहमुख उनके नृसिंह-अवतार का निर्देश करता है। अथवा तीनों मुख सूर्य के प्रभात-मध्याह्न और अपराह्न-कालिक तीन मूर्तियों का परिचय देते हैं, क्योंकि सूर्य से विष्णु देवता की अत्यधिक सन्निकटता है। वेद में विष्णु सूर्य का ही दूसरा नाम बताया गया है

विष्णु-मूर्ति का कन्धा चौड़ा और कमर सिंह की सी है। यह भारतीय आदर्शों से पूर्णतया गठित है। इसका शरीर मांसल, दृढ़ और सुपुष्ट है। गुप्तयुग के अन्यान्य प्रभाव भी इसमें विद्यमान हैं। उस समय की शिल्प-कला एवं प्रतिमानिर्म्माण विद्या का यह एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

बोस्टन के अजायबघर का बुद्ध-मस्तक सम्भवतः विहार अथवा बङ्गाल-प्रदेश में दसवीं शताब्दी में बनाया गया था। इस मस्तक पर छोटे छोटे कुञ्चित केश हैं, परन्तु मस्तक के अन्यान्य भूषणों से यह बुद्ध का मस्तक नहीं प्रतीत होता है। बात यह है कि दशवीं शताब्दी में भारतीय शिल्पी अपना पूर्व-गौरव खो बैठे थे। केवल प्रतीक-प्रतिमाओं में उनका विकास पाया जाता था। बुद्ध के इस मस्तक में भद्दापन होने पर भी इसके देखने से यह समझा जा सकता है कि मध्य-युग के शिल्पी धर्म्मात्मा लोगों की प्रतीममूर्ति के निर्माण में दक्ष थे। यद्यपि कई स्थान से यह मस्तक नष्ट हो गया है, तथापि इससे करुणा और बुद्धिमत्ता का भाव भले प्रकार व्यक्त होता है।

बोस्टन के अजायब-घर में एक अप्सरा की भग्न मूर्ति भी उल्लेखयोग्य है। इसका मुख यौवन-श्री-पूर्ण, शान्त और भरा हुआ है। माथे के केश पाटी के रूप में सुसज्जित हैं, जिसके बीच बीच में फूल बैठाये गये हैं। इसके दोनों हाथ मस्तक की ओर ऊपर को उठे हुए और परस्पर मिले हुए हैं। इससे प्रेम के भाव का प्रकाश होता है। नवीं या दसवीं शताब्दी की इस स्त्री-मूर्ति का श्रीयुत आनन्दकुमार स्वामी द्वारा वर्णित ग्वालिन की स्त्री-मूर्ति के साथ यथेष्ट सादृश्य है। यह सम्भवतः दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में बनाई गई होगी। यह पूज्य देव-मूर्ति नहीं है, किन्तु किसी देव-मन्दिर को सुसज्जित करने के लिए जैसा कि आज-कल भी मन्दिरों की दीवारों में अप्सरा आदि की मूर्तियाँ बनी हुई देखने में आती हैं—शिल्प-कला के निदर्शन-रूप बनाई गई होगी।

६७—अल-अज़हर

अल-अजहर संसार के विश्वविद्यालयों में सबसे प्राचीन है। उसका विद्यालय भी सबसे बड़ा है। वह इसलाम-धर्म की सबसे बड़ी संस्था है। उसमें एक विशेषता भी है। यूरोप के मध्यकाल में जैसी शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी उसका आभास हमें अल-अजहर में अब भी देखने को मिलता है। आजकल मुसलमानों की जैसी अवस्था है उसे देखकर कोई भी कह सकता है कि मध्यकालीन यूरोप में और इस बीसवीं शताब्दी के यूरोप में

जितना अन्तर है उतनाही इस समय मिश्र तथा अन्य इस्लामी देशों में और वर्तमान यूरोप में है। यद्यपि इस्लाम-धर्म का उत्थान क्रिश्चियन-धर्म के ६०० वर्ष बाद हुआ और उसके कुछ कुछ मूलतत्त्व भी यहूदी तथा क्रिश्चियन धर्मों से लिये गये, तथापि आजकल वह सभ्यता मे क्रिश्चियन धर्म की समता नहीं कर सकता। उसने आजतक उससे बढ़कर उन्नति नहीं कर पाई जो यूरोप में उसके मध्यकाल में थी।

यथार्थ में अल-अज़हर एक मसजिद है, जिसमें विश्व-विद्यालय भी स्थापित है। यूरोप में पहले जिस तरह गिरजाघरों में विद्यालय होते थे जिन्हें केथीड्रल स्कूल कहते हैं—उसी तरह का यह भी है। इसके भवन का निर्माण सन् ९७० ई० में हुआ था। किन्तु भूकम्प से उसका एकबार नाश हो गया। वह फिर से बनाया गया। इसलिए वह मिस्र-देश की प्राचीन भवन-निर्म्माण-कला का नमूना नहीं है—उसमें विश्वविद्यालय सन् ९८८ में स्थापित किया गया।

विश्वविद्यालय का भवन ख़ूब बड़ा है। उसमें बड़े बड़े कमरे और दालान हैं। बीच में एक बड़ी बारादरी है। वह खम्भों से चारोंओर घिरी हुई है। ये खम्भे ग्रीक-रोमन-कला के ढङ्ग पर निर्मित है। रक़बा ३६०० गज़ है और खम्भों की संख्या १५० से कम नहीं है।

जिस द्वार से लोग प्रवेश करते हैं उसकी बाईं ओर—यहाँ

अन्य धर्मावलम्बियों को जूते बाहर छोड़ देने पड़ते हैं—पुस्तकालय है। उसमें अधिकतर अरबी की बड़ी बड़ी पुस्तकें हैं। खदीव के पुस्तकालय में इससे भी अधिक अरबी-पुस्तकों का संग्रह है। पढ़ने के लिए जो कमरे हैं वे छोटे हैं। पढ़नेवाले भी ६-७ से अधिक नहीं होते। इसका कारण है। यहाँ के मुसलमान अपने धर्म की पुस्तकों को छोड़कर दूसरे विषय के ग्रन्थ बहुत कम पढ़ते हैं। धर्म की पुस्तकें तो यादही करनी पड़ती हैं। इसलिए उन लोगों को पुस्तकालय की ज़रूरत ही नहीं रहती। ज़रूरत न रहने से रुचि भी नहीं रहती।

दालानों में लड़के पढ़ते रहते हैं। विश्राम का समय मिलने पर वे वहीं खाते-पीते और आराम करते हैं। दाहिनी ओर कई कमरे हैं। उनमें कुछ तो छात्रों के अभ्यास के लिए हैं और कुछ उन लड़कों के लिए जो दूसरी जगह से यहाँ पढ़ने आते हैं। आगे बढ़ने पर विश्वविद्यालय की बृहत् व्याख्यानशाला मिलती है। यहाँ अध्यापक और छात्र विद्याभ्यास में लगे रहते हैं। लड़कों में चपलता नहीं। विवाद करना अथवा प्रश्न करना—जैसे दूसरी जगह के विद्यार्थी किया करते हैं—इन लोगों में नहीं पाया जाता। अध्यापक कभी स्वयं पढ़ता है, कभी वह लड़कों को स्वयं पढ़ाता है, फिर उसे समझाता है।

विद्यार्थियों की संख्या अधिक होने के कारण तीन और मसजिदें शिक्षा के काम में लाई जाती हैं। वे ये हैं—मुआयद,

मरदानी, अजरक। मुआयद और मरदानी अल-अजहर से अच्छी बनी हुई है। भीतर की सजावट भी अच्छी है। ये सब छोटी छोटी कक्षाओं के लिए हैं। कुछ में तो बिलकुल प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है।

विद्यार्थियों की संख्या में अमेरिका के विश्वद्यालय इसकी समता नहीं कर सकते। १९१२ में यहाँ १४,९६० विद्यार्थी और ५८७ अध्यापक थे। अंगरेजों के आने पर इसकी बहुत उन्नति हुई है। इसके पहले विद्यार्थियों की संख्या आधी भी नहीं थी। प्रबन्ध तो नाम के लिए था। जो 'जमीन-जायदाद' विश्वविद्यालय के लिए दी गई है उसकी आमदनी से दूसरे ही लोग फ़ायदा उठाते थे। ख़ुद अब्बास जो पहले खदीव थे, ऐसा किया करते थे। लड़कों ने प्रबन्ध से असन्तुष्ट होकर कई बार उत्पात (Stri ke) किया था। पर आजकल इसका प्रबन्ध अँगरेजों के हाथ में होने के कारण अच्छा है। सब काम जैसा होना चाहिए होता है। यहाँ लड़कों को शिक्षा मुफ्त दी जाती है। उनसे फ़ीस नहीं ली जाती। इतना ही नहीं, उन्हें भोजन भी विश्वविद्यालय की ओर से मिलता है, खर्च के लिए भी प्रत्येक को कुछ न कुछ अवश्य दिया जाता है। अध्यापकों का वेतन भी साधारणतः खासा है।

यहाँ की पाठावधि १७ साल की है। इतनी और किसी विश्वविद्यालय में नहीं है। विद्यार्थियों की योग्यता जाँचने के लिए परीक्षाएँ ली जाती हैं। उत्तीर्ण होने पर ऊँचे दरजों में वे भेजे जाते

हैं। परीक्षा में किसने कितना कण्ठाग्र कर लिया है इसका ख़याल रक्खा जाता है। इसमें दो विभाग हैं। नीचे विभाग का पाठक्रम प्रायः उतना ही है जितना इधर कालेजों में होता है। साहित्य, अलङ्कार-शास्त्र और धर्मशास्त्र ये तो हरएक को पढ़ने पड़ते हैं। गणित और इतिहास पढ़ना इच्छा पर है। जो विद्यार्थी पढ़ना चाहे वह इन विषयों को ले सकता है। विज्ञान नहीं है। ऊँचे विभाग में 'डाक्टर' की उपाधि मिलती है। इसमें केवल दो विषय हैं—मीमांसाशास्त्र और धर्मशास्त्र। धर्मशास्त्र में केवल क़ुरान और उसकी व्याख्या है। बस, इतना ही है।

मिस्रदेश में भी वकीलों की ज़रूरत रहती है। वहाँ विवाह, पत्नी-त्याग-अधिकार आदि प्रश्नों पर प्रत्येक मुसलमान को इस्लाम-धर्म के नियमानुसार चलना पड़ता है। फ़ौजदारी मुक़द्दमें ख़ास अदालतोंमें तय होते हैं। इसीसे मीमांसा और धर्मशास्त्र पढ़ाये जाते हैं। आजकल अल-अजहर की ऐसी अवस्था है; पर भविष्य में उसकी विशेष उन्नति होगी। इसकी चेष्टा की जारही है कि वहाँ भी स्कूल और कॉलिज नये ढंग पर खोले जायँ। अँगरेज़ों के अधीन रहकर उनकी शिक्षापद्धति में शीघ्र उन्नति होगी। वहाँ अधिकतर फ़्रेंञ्च और अंगरेज़ अफ़सर और अध्यापक हैं। ये लोग वहाँ के अधिपतियों से मिलकर जिस तरह काम करते हैं वह प्रशंसनीय है। ईश्वर करे वह दिन शीघ्र आये जब मिस्रदेश शिक्षा में अग्रसर होकर अपनी प्राचीन सभ्यता का गौरव प्राप्त करे।

६८—तारिणी

१

प्रातःकाल का समय है। आकाश में बादल खूब घिर आये हैं। इसीसे अभी तक गाढ़ी अँधियारी छाई हुई है। पवन डोलती तक नहीं। चिड़ियाँ भी चहचहाना छोड़ अपने अपने घोसलों में चुप बैठी हैं। किसी आनेवाली आपत्ति से डरकर प्रकृति ने मानो गम्भीर रूप धारण कर लिया है।

परन्तु रघुनाथ निश्चिन्त नहीं है। ठीक आठ बजे उसे जमीदार बाबू के यहाँ मछली देनी है। न देने से काम नहीं चलेगा। ग़रीब रघुनाथ पर जमींदार बाबू का पूरा अधिकार है। इधर बादल भी हटते नहीं दिखाई देते। क्या करे? रघुनाथ चिन्तित मन से चुपचाप बैठा है।

तारिणी—क्या सोचते हो? अब जल्दी करो। माधव को भी साथ ले जाना हो तो उसे लेते जाओ, परन्तु उसे जरा सावधानी से रखना।

रघुनाथ चिन्तित मन से उठा। अपने आठ साल के लड़के माधव को ले वह मछली मारने के लिए शीघ्रता से रवाना हुआ। घाट पर पहुँच कर उसने नाव खोली। पवन मन्द मन्द बह रही थी।

माधव—दादा?

रघुनाथ—क्या है, माधव !

माधव—उफ बादल पर बादल उमड़े आते हैं। दादा, आँधी बहुत शीघ्र आवेगी।

रघुनाथ ने लड़के को प्रफुल्लित करने के लिए कहा—माधव, डर क्या है ? हम तो तुम्हारे साथ हैं। तुम्हारी ऐसी अवस्था में तो हम कई बार आँधी-पानी में मछली मारने के लिए अकेले आये थे। हमें आँधी-पानी से क्या डर ? उसी समय बाबू साहब के गृह से शहनाई की मधुर ध्वनि आने लगी। उसका मीठा स्वर, धीरे धीरे पवन में फैलने लगा। माधव एक चित्त से सुन रहा था।

रघुनाथ—(घबरा कर) माधव, देख आज हमें बहुत देरी हो गई। अब जल्दी करनी चाहिए बेटा।

माधव—कैसी मधुर ध्वनि है दादा ! मछली मारने के बाद मैं सुनने के लिए जाऊँगा।

"अच्छा" कहकर रघुनाथ नाव खेने लगा।

२

रघुनाथ की नाव अभी नदी के बहाव में पहुँची भी न थी कि आँधी आ गई। नाव बड़े वेग से बहने लगी। वृक्षों की बड़ी बड़ी शाखाएँ आपस में टकरा टकरा कर भयानक रव उत्पन्न करने लगीं। गङ्गा की बड़ी बड़ी लहरों के बीच पड़कर नाव चक्कर खाने लगी ? माधव मारे डर के रघुनाथ के गले से लिपट गया।

रघुनाथ का हृदय भी काँपने लगा। ऐसी ऐसी बहुत आँधियों में रघुनाथ मछली मारने के लिए जाया करता था, परन्तु आज के समान वह कभी भी भयभीत नहीं हुआ था। आजतो उसका प्यारा माधव उसके साथ है। तारिणी ने उसे अच्छी तरह रखने के लिए कहा है। वह बहुत ही चिन्तित हुआ। उसका हृदय न जाने किस कारण काँपने लगा। हे दयासिन्धो! हे परमात्मन्! तुम्हीं रक्षा करनेवाले हो। ईश्वर पर अवलम्बित हो रघुनाथ ने नाव की पतवार खोल दी और माधव को हृदय से लगा लिया। उसने फिर साहस कर पुकारा—'माधव" । माधव ने कुछ उत्तर न दिया, वह तो मारे डरके अवाक् हो काँप रहा था। सहसा नाव में जोर से धक्का लगा। वह डगमगाने लगी। फिर जोर से धक्का लगा। वह उलट गई। कालरूप लहर ने झटका देकर माधव को रघुनाथ से छीन लिया। "माँ माँ" शब्द की आवाज कुछ दूर सुनाई पड़ी। "माधव माधव" रघुनाथ पुकारने लगा। परन्तु उत्तर किसी ने न दिया। बालक की आवाज़ आँधी की भयङ्कर गर्जना में डूब गई।

२

अपनी झोपड़ी के द्वार में बैठी तारिणी अपने पति और पुत्र की प्रतीक्षा कर रही है। उसका चित्त चञ्चल हो रहा है, कभी उठती, कभी बैठती, कभी इधर-उधर देखने लगती है, कभी घर के भीतर, कभी बाहर, कभी आँगन में टहलती है। "हेराम मैंने

उन्हें आँधी-पानी में मछली लाने के लिए क्यों भेजा ? उन्हें सकुशल लौटा दो।" तारिणी का कोमल हृदय न जाने क्यों काँप रहा था। देखते देखते दस बज गये। अन्त में शाम हो गई। संसार भर को सुखी कर सूर्य भगवान् अस्त हो गये, परन्तु रघुनाथ न लौटा। तारिणी के हृदय में भाँति भाँति की भावनायें उदय होने लगीं। एकाएक पैरों की आहट सुनाई दी। तारिणी दौड़ कर बाहर आई। पागल के समान लड़खड़ाता हुआ रघुनाथ घर के भीतर आया। उसे देखते ही तारिणी चकित और भयभीत होकर बोली—तुम अब आये ? माधव कहाँ है ? क्या मछली लेकर बाबू के यहाँ गया है ? उनके नौकर भी कई बार आ चुके हैं। रघुनाथ के पैर काँपने लगे। वह गिरने लगा।

तारिणी—क्यों, है क्या ? कुछ पी-पा लिया है ?

रघुनाथ (काँपते-काँपते)—तारिणी, मुझे सँभालो, माधव लौट कर आया कि नहीं ?

तारिणी (घबराकर)—लौटकर आया है ? वह तो अभी तक नहीं लौटा है।

रघुनाथ का सारा शरीर काँपने लगा। उसने कंपित स्वर से कहा—नहीं आया हाय, तब तो—

तारिणी—(पति का हाथ पकड़कर)—जल्दी कहो, तब, क्या हुआ ?

रघुनाथ ने अपना सिर तारिणी के कन्धे पर रख दिया। उसका गला रुँध आया। आँखों से आँसू की बड़ी बड़ी बूँदें गिरने लगीं। उसने रोकर गद्‌गद् स्वर से कहा—माधव को सदा के लिए माता गङ्गा ने अपनी गोद में ले लिया।

तारिणी (चिल्लाकर)—और तुम—

रघुनाथ—और मैं अभागा यहाँ आ गया। आँधी आने के पहले मैंने उसे छाती से लगा लिया था। पर न जाने किसने उसे मुझसे छीन लिया। तारिणी, मेरा हृदय फटा जाता है।

इतना कह रघुनाथ विकल हो रोने लगा। कर्कश स्वर से तारिणी बोली—और तुम चले आये? जाओ जहाँ हो वहाँ से उसे ढूँढ़ लाओ।

रघुनाथ—हाय, मैंने तो उसे बहुत खोजा, पर पा न सका।

तारिणी—जाओ फिर अच्छी तरह देखो। उसे खो कर तुम कौन मुँह लेकर आये हो?

रघुनाथ—अच्छा तो मैं जाता हूँ। उसे लेकर ही लौटूँगा नहीं तो—

रघुनाथ चला गया। तारिणी चुपचाप देखती रही। देखते ही देखते यह क्या हो गया? यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा? उसका प्राणों से भी प्यारा माधव क्या अब नहीं है? क्या सचमुच माता गङ्गा ने उसे अपना बना लिया? तारिणी निर्जीव मूर्ति के समान निश्चल बैठी रही।

४

तारिणी का हृदय काँप रहा था, पर वह चुप बैठी थी। जान पड़ता है कि तारिणी वह पहले की तारिणी नहीं है। नेत्र सूख गये थे। मुँह पीला हो गया था। बड़ी देर हो गई। तारिणी योंही अपने पुत्र और पति की प्रतीक्षा करती वहीं जमीन पर थकावट के कारण लेट गई। सोकर तारिणी जब उठी तब आकाश में सुबह की सुफ़ेदी फैलने लगी थी। वायु बहुत धीरे धीरे बह रही थी। न पुत्र है न पति! तारिणी ने स्वयं जाकर खोजने का निश्चय किया, परन्तु उसी बीच में कहीं माधव चला आया तो? उसका वह माधव क्या अब सचमुच नहीं रहा? कुछ देर और परखा! दोनों में से एक भी न आया। तब तो उसका हृदय टूट गया। तारिणी नदी की ओर झपटती चली।

थोड़ी देर में वह बाबू साहब के घाट में पहुँच गई। उसके कोमल पैरों में काँटे गड़ गये थे। पैर कहीं कहीं पत्थर से लग कर फट गये थे। उनसे खून निकल रहा था। वह सीधी बाबू के घाट को गई। पहुँचते ही उसकी दृष्टि एक वृक्ष के नीचे की ओर पड़ी। तारिणी दौड़ती दौड़ती उसी वृक्ष के नीचे पहुँची। हाय! यह तो उसका पति रघुनाथ है। तारिणी ने उसका हाथ उठाया। वह बिलकुल ठंडा था। छाती पर हाथ रक्खा, पर साँस नहीं चलती। रघुनाथ ने पुत्र की खोज में अपना शरीर त्याग दिया। उसका निर्जीव शरीर सामने पड़ा हुआ था।

उस समय बाबू साहब के गृह से शहनाई की मधुर ध्वनि चली आ रही थी। आनन्द का कण्ठस्वर स्पष्ट सुन पड़ता था। रह रह हँसने की आवाज़ सुनाई देती थी। हाय, बाबू का वही आनन्द दिवस तारिणी के लिए अभागिनी तारिणी के लिए कैसा है? उसे कौन जान सकता है? किसको जानने की परवाह है? बेचारी का आज ऐसा कोई न रहा जिससे वह अपना दुःख कह सके।

७०.—सोना निकालनेवाली चीटियाँ

लोगों का विश्वास है कि भारत में किसी समय ज़मीन में सोना निकालनेवाली चीटियाँ थीं। सब से पहले ग्रीस के हेरोडोटस नामक इतिहास-लेखक ने सोना निकालनेवाली इन चीटियों का हाल लिखा है। वह इस तरह है—"भारत के उत्तर में काशपेटाइरस और पेक्टायिका के पास एक जाति रहती है। इस जाति के लोग और लोगों से अधिक साहसी होते हैं। इसलिए ये लोग सोना लाने के लिए भेजे जाते हैं। भारत के इस भाग में मरु-भूमि है, जिसमें एक तरह की चीटियाँ रहती हैं। वे ऊँचाई में कुत्तों से कुछ कम और लोमड़ियों से कुछ अधिक होती हैं। फ़ारस के बादशाह के पास कुछ ऐसी चीटियाँ हैं। ये चीटियाँ ज़मीन के भीतर रहती हैं। यूनान की चीटियों से इनकी आकृति मिलती-जुलती है। ज़मीन के भीतर जाकर ये अपने ऊपर रेत डाल लेती हैं। जो

रेत ऊपर फेंकती हैं उसमें सोना रहता है। जो लोग वहाँ जाते हैं वे अपने साथ तीन ऊँट भी ले जाते हैं। वहाँ पहुँच कर वे जल्दी जल्दी अपनी थैलियों में बहुत रेत भर लेते हैं। फिर शीघ्रता से वे भाग निकलते हैं। क्योंकि तुरन्त ही चींटियाँ उनकी महक पाकर उनका पीछा करती हैं। यदि ये लोग तेजी से न भाग सकें तो चींटियों के हाथ पड़ कर उनमें से एक भी जीता नहीं लौटता। भारत के लोग अधिकांश सोना इसी तरह पाते हैं।"

यूरोप के मध्यकालीन ग्रन्थकारों ने भी इन चींटियों का उल्लेख किया है। अरब और तुर्क लोगों ने भी इनका हाल लिखा है। अठारहवीं सदी के अन्त में लार्चर नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने हेरोडोटस के ग्रन्थ का अनुवाद करते समय लोगों का ध्यान इस ओर खींचा था। सन् १७८८ में मेजर रेनल ने यह प्रकट किया कि इन चींटियों का रङ्ग सफ़ेद था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने यह निश्चय किया कि ये चींटियाँ चींटियाँ नहीं, गीदड़ अथवा लोमड़ी के सदृश कोई जानवर होंगे। पर विलसन साहब ने उन लोगों के इस सिद्धान्त को ग़लत सिद्ध कर दिया। उन्होंने प्राचीन संस्कृत-साहित्य से प्रमाण भी उद्धृत किये। महाभारत में जहाँ पर युधिष्ठिर को भेंट में दिये गये रत्नों का वर्णन है वहाँ पर 'पैपीलिका' नामक एक रत्न का भी उल्लेख है। उसका 'पैपीलिका' नाम इसलिए पड़ा था कि वह पिपीलिकाओं-द्वारा सञ्चित किया गया था।

माल्टब्रुन नामक एक साहब ने ही पहले-पहल यह अनुमान किया कि ये चीटियाँ मनुष्यों की ही कोई जाति थी। हेरोडोटस के अनुसार इन चीटियों का स्थान काशपेटायरस और पेक्टाथिका के समीप होना चाहिए। काशपेटायरस से अभिप्राय कश्यपपुर (काश्मीर) से है और पेक्टापिका से पाखतुम है जो अफ़ग़ानिस्तान के पूर्व में है। अस्तु।

प्राचीनकाल से ही काश्मीर में राजाओं ने तिब्बत को अपने अधिकार में लाने के लिए कई बार प्रयत्न किया था। इन चीटियों का स्थान भी हेरोडोटस ने भारत के उत्तर में बतलाया है। यह जगह तिब्बत ही हो सकती है। इस अनुमान की पुष्टि में कई बातें कही जासकती हैं। यथा—

महाभारत में जो लोग पैपीलिका लाये थे उनका नाम खस दिया गया है। राजतरङ्गिणी के अनुसार खस-जाति काश्मीर के पासही रहा करती थी। युधिष्ठिर को भेंट दी गई वस्तुओं में पैपीलिका के साथ हिमालय के मधु और चमरों का भी उल्लेख है। चमर 'यक' नाम के तिब्बतीय पशुओं की पूँछ से बनाये जाते हैं। सन् १८६५ में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने कुछ लोगों को तिब्बत में अनुसन्धान करने के लिए भेजा था। उनमें से कुछ लोग नारी-खोरसम नामक जगह में जाकर बीमार पड़ गये। उन्हें वहीं ठहरना पड़ा। नारी-खोरसम में सोने की कई खानें हैं। वहाँ रहकर उन्होंने खान का काम देखा। १८६८ में एक और सज्जन वहाँ

गये। उन्होंने भी वहाँ का काम देखा। हेरोडोटस ने सोना निकालनेवाली चींटियों की जगह को मरुभूमि कहा है। इन लोगों का भी कहना है कि तिब्बत की यह जगह बहुत उजाड़ और बालुकामय है। यह जगह सोने के लिए प्रसिद्ध भी है। इस कारण जान पड़ता है, यही उन चींटियों का स्थान होगा। तब चींटियाँ कौन हैं? तिब्बती लोग? मालूम तो ऐसा ही होता है। जाड़े के दिनों में सोने की खान में काम करनेवाले तिब्बती लोग रुयेंदार चमड़ों के वस्त्र पहनते हैं। कोई आश्चर्य नहीं जो इसी कारण ये लोग जानवर समझ लिये गये हों।

तिब्बत में जाड़ा खूब पड़ता है। इस कारण तिब्बती लोग ज़मीन के अन्दर ६-७ फ़ुट डेरा गाड़ कर रहते हैं। हेरोडोटस की चींटियाँ भी ज़मीन के भीतर रहती हैं। अब इसका कारण समझ में आ सकता है। मेगास्थनीज़ ने लिखा है कि ये चींटियाँ जाड़े के दिनों में ही ज़मीन खोदती हैं और दिनों में उतना नहीं। प्लिनी नामक इतिहासकार ने भी लिखा है—"ये जाड़े में ही सोना निकालती हैं। भारत के लोग गरमी के दिनों में उसे ले जाते हैं।" तिब्बत के यात्रियों में से एक ने लिखा है—"जाड़ा खूब पड़ने पर भी तिब्बती शीत-ऋतु में ही काम करते हैं। गरमी के दिनों में उनके डेरों की संख्या जितनी रहती है उससे दूनी शीत-ऋतु में हो जाती है।" मेगास्थनीज़ ने यह भी लिखा है कि ये

चीटियाँ शिकार करके रहती हैं। तिब्बती भी 'यक' और दूसरे जानवरों को मार कर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। ये लोग शिकार खेलने के लिए कुत्ते भी रखते हैं। तेरहवीं सदी के ग्रन्थकार मारको पोलो ने इन कुत्तों के विषय में लिखा है कि ये गधे के बराबर ऊँचे होते हैं। दौड़ने और शिकार पकड़ने में ये बड़े ही तेज होते हैं। हेरोडोटस ने जिन चीटियों के विषय में लिखा है वे बहुत तेज और भयङ्कर होती हैं। वे शायद यही हों। सम्भव है कि यही कुत्ते फारिस भेज दिये गये हों, जिन्हें उन लोगों ने चीटियाँ समझा हो। हेरोडोटस को इनका हाल फारस से ही मालूम हुआ था।

नीआरकस नामक एक मनुष्य सिकन्दर के साथ भारत आया था। उसने लिखा है कि "यद्यपि मैंने चीटियाँ नहीं देखीं, पर उनकी खालें देखी हैं। वे चीत के बाल के सदृश होती हैं।" अच्छा इन खालों से क्या मतलब ? कुछ तिब्बती 'यक' के चमड़े और सींग पहनते हैं। 'यक' का चमड़ा ही वह खाल हो सकती है। महाभारत में भी लिखा है कि जो लोग युधिष्ठर के पास भेंट की चीजें लेकर आये थे उनमें से कुछ लोग चमड़े और सींग पहने हुए थे। उनका नाम कङ्क लिखा हुआ है। हो सकता है, वे लोग यही तिब्बती हों।

इन सब बातों से जान पड़ता है कि सोना निकालने वाली चीटियाँ यही तिब्बती ही हैं।

७०—कमला

(१)

"दादा, तुमने मुझे पुकारा था क्या?" घर में पैर धरते ही कमला ने अपने वृद्ध पिता शिवनाथ से पूछा। शिवनाथ ने क्षीण-स्वर से उत्तर दिया—"हाँ, कमला तू कहाँ गई थी।"

"मैं सरला के पास बैठी थी?"

शिवनाथ—थोड़ा पानी दे दो, फिर चली जाना।

कमला चली गई और थोड़ी देर में एक लोटे में पानी ले आई। कमला १५ वर्ष की बालिका है। इस संसार में एक वृद्ध पिता और पति वीरेन्द्र को छोड़ कमला का यदि कोई है तो उसकी सखी सरला है। दोनों में बड़ा स्नेह है। वे सदा एक साथ खेलती थीं। कमला पानी देकर फिर अपनी सखी सरला के पास चली गई। सरला बैठी रामायण पढ़ रही थी। कमला भी पास जाकर बैठ गई। कमला को देखकर सरला ने कहा—"देखो बहन, लक्ष्मणजी सीता को बन ले जा रहे हैं। बेचारी क्या जाने कि भगवान रामचन्द्र ने उसे त्याग दिया है। वह सोचती है कि रामचन्द्रजी ने मेरे कहने से मुझे बन भेजा है। भला बहन, भगवान ने उसे क्यों त्याग दिया?"

कमला—अयोध्यावासियों ने सीता पर अपवाद लगाया था, तभी तो बहन, रामचन्द्रजी को ऐसा करना पड़ा।

सरला—पर श्री रामचन्द्रजी तो जानते थे कि सीता पतिव्रता हैं।

कमला—भगवान तो जानते थे, पर लोग मानें तब न, उन्होंने कहा कि नहीं—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥

सरला—यह किसमें है?

कमला—यह रघुवंश में लिखा है। भगवान कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि सीता निरपराधिनी है पर लोक-निन्दा बड़ी होती है। देखो न, चन्द्रमा पर जो काला दाग है वह तो भूमि की छाया है। पर चन्द्र को सभी मलिन कहते हैं।

सरला—बहन, सच कहती हो। कोई कैसी ही क्यों न हो पर लोग निन्दा करने में नहीं चूकते, न जाने उन्हें ऐसा करने में क्या मिलता है।

कमला—सबका एक मन थोड़ा होता है। तुम एक ऐसा समझती हो, पर जब सब ऐसा समझें तब न।

सरला—भला इसमें समझने की कौनसी बात है? यह तो सब कोई जान सकते हैं।

कमला—नहीं बहन, सब कोई ऐसा नहीं जानते? तुम जैसी हो वैसी सब को समझती हो, पर तुम भूलती हो। संसार में हजारों प्रकार के मनुष्य होते हैं।

इतने में किसी ने पुकारा—"सरला"। सरला बोली—हाँ आती हूँ और उठकर कमला से पूछने लगी—"क्यों सखी, आज तुम तालाब न जाओगी ?"

कमला—दादा से पूछ लें, यदि वे कहेंगे तो चली चलूँगी।

सरला—तो मैं अभी आती हूँ।

यह कह कर वह चली गई। कमला घर के काम-धन्धों में लग गई। बाहर के दालान को साफ़ कर वह अपने बगीचे में आई। कमला ने बहुत से फूलों के झाड़ लगा रक्खे थे, वह खुद उन सबको प्रतिदिन पानी दिया करती थी। वहां जाकर उसने सब पौधों को पानी दिया। फिर वह एक जगह बैठ कर फूलों की माला बनाने लगी। अभी दिन की ढलती बेला थी, जुही, चम्पा, बेला, चमेली आदि फूल सब जी खोल कर खिल गये थे और उनकी भीनी भीनी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। पवन भी धीमे धीमे बह रही थी। कमला चुपचाप बैठी माला गूँथ रही थी। कभी कभी वह सिर उठाकर आकाश की ओर देखती थी। थोड़ी देर में वह माला गूँथ कर भीतर कमरे में ले गई। वहाँ उसको धर कर अपने पिता के कमरे में आई। कमला को देखते ही शिवनाथ ने पूछा—"कमला, सरला चली गई ?"

कमला—हाँ, अभी गई है।

शिवनाथ—तू आज तालाब नहीं गई ?

कमला—नहीं, अभी सरला आने को कह गई है। वह जब आवेगी तब उसी के साथ जाऊँगी।

शिवनाथ हाँ, कह कर चुप हो गये। कमला कमरे से निकल आँगन में आई, फिर घड़ा उठाकर बाहर निकली ही थी कि सामने सरला आती दीख पड़ी। दोनों तालाब गईं। घाट पर पहुँचते ही उन्हें विमला दीख पड़ी। सरला ने देखते ही हँस कर कहा—आओ बहन, आज तुम्हें देर हो गई है। विमला ने कपड़े धरते धरते कहा—अभी कहाँ, प्रतिदिन मैं इसी समय तो आती हूँ।

उसी घड़ी सूर्य डूब गये। सन्ध्या जान पक्षी कलरव करने लगे। तीनों सखियाँ उतर कर नहाने लगीं। नहा-धोकर अपने अपने घड़े में पानी भर कर गईं।

(२)

आधी रात का समय है। उस गम्भीर रजनी में सब निद्रित हैं। सब निश्चिन्त सो रहे हैं। केवल कमला जाग रही है। उस बेचारी को निद्रा नहीं आई, यह हम नहीं कह सकते! कमला चिन्ता में मग्न बैठी है। वह स्थिर नेत्र से आकाश की ओर देख रही है। जान पड़ता है कमला को अपनी सुधि भी नहीं है। वह न जाने क्या सोच रही है। थोड़ी देर में कमला के नेत्रों में जल भर आया। टपाटप आँसू की बूंदें गिरने लगीं। कमला ने आँसू पोंछ कर एक लम्बी साँस ली और कहा—हे भगवान, क्या तुम्हें

बियोगिनी कमला पर दया नहीं आती ! वीरेन्द्र को गये आज ४ वर्ष बीत गये पर उनका कुछ पता नहीं लगता, कोई नहीं जानता कि वे कहाँ गये और कहाँ रहते हैं । कमला भी नहीं जानती कि वे कब आवेंगे । यदि जानती होती तो कमला अपने हृदय को किसी न किसी तरह धीरज दिलाती । पर उनके आने का कौन ठिकाना । कदाचित समरभूमि में...बस, कमला का हृदय काँप उठा । "हे राम उन्हें कुशल पूर्वक लौटा दो उन पर कोई विपत्ति न आवे । दयासिन्धो परमात्मन् ! इस अभागिनी पर दया करो", कमला यह सोचते सोचते सो गई । कोई कितना भी दुःखी क्यों न हो, पर निद्रा देवी की गोद में सब सुख से सोते हैं । कमला के कमल से नेत्र बन्द थे, रह रह कर उसके ओंठ काँप उठते थे । ठण्डी ठण्डी पवन बह रही थी । आम के वृक्ष पर बैठा पिपीहा पी पी कर रहा था । उसकी मधुर ध्वनि वायु में फैल रही थी । क्रमशः वायु का बहना बन्द हो गया पिपीहा का पी पी रटना भी विलीन हो गया । सारा संसार निश्चल हो गया क्रमशः रात बीत गई और प्रातः कालीन वायु बहने लगी । रात जाते ही कमला उठ बैठी । कमला ने खिड़की खोलकर देखा कि आकाश में प्रातःकाल की लालिमा फैल रही है । शीघ्र हाथ-मुँह धोकर और अपने पिता के कमरे में जाकर उसने उसके लोटे में पानी भर दिया । पिता शिवनाथ बीमार थे, इसलिए कमला ने पानी गरम भी कर दिया ।

कमला शीघ्र नहा-धोकर अपने उद्यान में फूल तोड़ने चली गई। कमला सदा हँसती रहती पर उसकी हँसी में विषाद मिला रहता था। कमला प्रतिदिन शिवालय जाती। भगवान विश्वनाथ की पूजा करके वह अपने पिता को भोजन कराती, पिता के भोजनोपरान्त वह पार्वती के पास जाती। पार्वती वृद्धा थी, कमला उसके लिए भोजन बना देती और उसे खिला-पिलाकर घर लौटती। खा-पीकर वह दिनभर रामायण पढ़ती थी। कमला अपने उद्यान से फूल तोड़कर शिवालय को गई। जाते समय उसका बायाँ अङ्ग फड़कने लगा। वह भगवान् शिव को हाथ जोड़ कर कहने लगी—"प्रभो, आपही इस अभागिनी पर दया करें!" घर लौटते समय कमला का हृदय आप से आप न जाने क्यों काँप उठा।

(३)

सन्ध्या के समय वीरेन्द्रसिंह और हरीसिंह भागीरथी के तट पर बातचीत करते खड़े हैं। वीरेन्द्रसिंह का मन कुछ चिन्ता-कुल सा जान पड़ता है। हरीसिंह भी उदास से हैं। कुछ देर के बाद वीरेन्द्र ने हँसकर कहा—अच्छा तो अब जाता हूँ। हरीसिंह ने उदास मन से कहा—"तो क्या अभी जाओगे?"

वीरेन्द्र—हाँ, तुमने सुन तो लिया है कि कप्तान साहब कल रवाना होंगे।

हरीसिंह—सुनने में तो ऐसाही आता है।

वीरेन्द्र—यदि मैं आज जाऊँगा तो कल मिल सकता हूँ। आओ, एकबार मिललें, कदाचित् यह अन्तिम भेंट हो।

हरीसिंह—भगवान, न करे ऐसा हो। तुम शीघ्र विजयी हो लौटोगे।

वीरेन्द्र—युद्ध में किसी बात का निश्चय नहीं रहता। कौन कह सकता है कि हम फिर लौटेंगे।

हरीसिंह—नहीं ऐसा मत कहो। भगवान दयामय, तुम्हें कुशल रक्खेंगे।

वीरेन्द्र—मुझे अपनी चिन्ता नहीं है। युद्ध में मर जायँ इससे अधिक आनन्द की बात वीर क्षत्रिय जाति के लिए और क्या हो सकती है? पर मित्र, यदि मैं युद्ध में मारा जाऊँ तो तुम अभागिनी कमला पर दया-दृष्टि रखना—उसे शान्ति देते रहना।

हरीसिंह—भगवान दयामय हैं। वे कमला पर दया करेंगे। मित्र, तुम इसकी चिन्ता मत करो।

वीरेन्द्र—और क्या कहूँ? देखो, भूल मत जाना। अब आओ, एक बार और मिललें।

दोनों मित्र बड़ी देरतक गले से गला लगाये रहे। फिर वीरेन्द्र सिंह ने कम्पित स्वर से कहा—"अच्छा, तो अब मैं जाता हूँ। तुम कमला की रक्षा करना।" हरीसिंह का गला भर आया। उन्होंने उत्तर देना चाहा पर दे न सके। वीरेन्द्र घोड़े पर सवार हुए और पूर्व की ओर रवाना हुए। हरीसिंह उसकी ओर एकटक देखते

रहे। थोड़ी देर में वीरेन्द्र अदृश्य हो गये। हरीसिंह ने दीर्घ-निश्वास लिया और आकाश की ओर देखने लगे। सूर्य भगवान् पश्चिम की ओर आकाश में अस्त हो रहे थे। उनकी डूबती हुई किरणों से आकाश लाल हो रहा था। सायं-काल की श्याम छाया पृथ्वी पर धीरे धीरे फैल रही थी। पक्षी सन्ध्या जान कलरव कर रहे थे। हरीसिंह उदास मुँह से लौटने लगे। भागीरथी कलकल शब्द से बहरही थी। भागीरथी को देख कर हरीसिंह प्रणाम करने लगे—"भगवती वीरेन्द्र को कुशलपूर्वक लौटा दे। भागीरथी के कल-कलरव में हरीसिंह का शब्द मिल गया। क्या भागीरथी ने हरीसिंह की प्रार्थना सुनली ? इसे कौन जान सकता है ?

(४)

यह मध्याह्न काल का समय है। पवन बहती तक नहीं, सब वृक्ष निश्चल हैं। उनके पत्ते तक नहीं हिलते। सारी प्रकृति निस्तब्ध है। ऐसे समय में एक युवक शीघ्रता से जा रहा है। धूप के मारे उसका मुख लाल हो गया है। यह थका हुआ जान पड़ता है। पर वह किसी वृक्ष की छाया में विश्राम नहीं लेता। जब कभी पवन बहने लगती है तब उसका चित्त प्रफुल्लित हो जाता है और वह वेग से चलने लगता है।

क्रमशः वेला ढलने लगी। धूप कम हुई। सन्ध्या की सुखद वायु बहने लगी। पथिक का चित्त स्वस्थ हुआ। वह धीरे धीरे

चलने लगा। चलते चलते वह भागीरथी के तट पर पहुँचा वहाँ वह एक वृक्षकी घनी छाया में बैठ कर विश्राम करने लगा। भागीरथी कलकल शब्द करती हुई बह रही थी। भगवती को प्रणाम कर पथिक कहने लगा—"देवी, आशा नहीं कि मैं तुम्हें देख सकूँगा। पर, तुम दयामयी हो। तुम्हारी ही दया से आज मैं तुम्हें देख सका, पर हृदय की आशा को भी पूरी करो। कमला न जाने कैसी होगी। यह कौन जानता है कि वह जीती है या नहीं। भगवती तुम्हीं दया करो।" यह कहते कहते पथिक का गला भर आया। कमल-समान नेत्रों से आँसू की बड़ी बड़ी बूँदें गिरने लगीं—उसका हृदय काँपने लगा। धीरज धर वह वहाँ से उठा और उत्साह-पूर्वक हरिपुर की ओर जाने लगा। थोड़ी देर में हरिपुर दृष्टि में आया। गाँव को देखते ही पथिक के हृदय में भाँति भाँति की भावनाएँ उठने लगीं। पथिक ने देखा कि बहुत से बालक इधर-उधर दौड़ रहे हैं। कुछ हँस रहे हैं, कुछ ताली दे देकर एक लड़के को चिढ़ा रहे हैं। कई स्त्रियां घड़े में पानी भरके अपने अपने घर की ओर जा रही हैं। यही सब देखते देखते, पथिक एक गृह के द्वार पर जा खड़ा हुआ। द्वार भीतर से बन्द था। पथिक ने द्वार पर धक्का दिया। भीतर से किसीने कोमल स्वर से पूछा—"कौन है?" पथिक ने कम्पित और रूकते हुए स्वर से कहा—"मैं हूँ वीरेन्द्रसिंह।" किवाड़ तुरन्त खुल गये और वीरेन्द्र ने कमला को देखा। दोनों के नेत्रों में

जल भर आया। चार वर्ष के बाद वीरेन्द्र ने कमला और कमला ने वीरेन्द्र को देखा।

भगवान दयामय हैं। उन्होंने अभागिनी कमला पर दया की, अब कमला अभागिनी नहीं है। वह सौभाग्यवती है। उसने आज ही जो आशा की थी वह पूरी हुई। जान पड़ता है कि भगवान विश्वनाथ ने कमला की प्रार्थना सुनली।

७१—और तब ?

और तब ? इसी प्रश्न से कथा का आरम्भ होता है। कथा चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक, उसमें चाहे लौकिक भावों का विश्लेषण किया गया हो अथवा तत्वों का निरूपण, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें कथा-भाग की ही प्रधानता रहती है। उपन्यास के किसी भी पाठक से पूछिए कि उपन्यास है क्या, वह यही उत्तर देगा कि उपन्यास कथा है। कथाकार का पहला उद्देश यही होता है कि वह पाठकों की कौतूहल-वृत्ति की तृप्ति के ही लिए प्रयत्न करता है। जब वह एक घटना का वर्णन कर चुकता है तब पाठकों के हृदय में यह प्रश्न उठना चाहिए कि और तब क्या हुआ। यदि पाठकों को आने वाली बातों को जानने के लिए कोई कौतूहल नहीं हुआ, यदि उन्हें होने वाली घटनाओं का आभास मिल गया तो कथा का रस ही नष्ट हो गया। एक के बाद एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि पाठकों

के चित्त में सदैव औत्सुक्य बना रहे, आगे का वृत्तान्त जानने के लिए वे लोग व्यग्र ही रहें। मनुष्यों की इसी कौतूहल-वृत्ति के कारण प्राचीन काल से लेकर आज तक कथाओं की सृष्टि होती जा रही है। आरव्योपन्यास अथवा सहस्र रजनी चरित्र की शाहज़ादी में अन्य कितने ही गुण थे परन्तु उसकी प्राण-रक्षा उसके केवल इसी एक गुण से हुई कि वह कहानी कहने का ढङ्ग जानती थी। रात भर वह अपनी कहानी इस तरह कहती चली जाती थी कि श्रोता के हृदय में कौतूहल की बराबर वृद्धि होती रहे। और ज्योंही कथा का अन्त जानने के लिए, उसका अन्तिम परिणाम सुनने के लिए, श्रोता उद्ग्रीव हो जाता था त्योंही कथा को वहीं असमाप्त कर वह चुप रह जाती थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि कथा का अन्त जानने के लिए बादशाह को एक दो दिन नहीं, एक हज़ार दिन तक बराबर उत्सुकता से प्रतीक्षा करनी पड़ी। इतने दिनों तक जिस कौशल से शाहज़ादी ने बादशाह के औत्सुकता को नष्ट न होने दिया वही सभी उपन्यासकारों के लिए आवश्यक है। अपनी इसी निपुणता के कारण उपन्यासकार लोक-प्रिय होते हैं। कहा जाता है कि जब डिकेन्स के उपन्यास अंग्रेजी पत्रों में क्रमशः प्रकाशित होते थे तब सभी पाठक आगामी अङ्क के लिए बड़े व्यग्र रहते थे। भारतवर्ष में बंकिम बाबू के उपन्यास भी 'बंग-दर्शन' में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं। उनके उपन्यासों के लिए भी लोग वैसे ही व्यग्र

रहते थे। अतएव अच्छे उपन्यास का लक्षण यही है कि वह अपने कथाभाग को पाठकों के लिए सदैव कौतूहल-वर्धक बनाये रखता है। इसी प्रकार बुरा उपन्यास वह कहा जा सकता है जिससे पाठकों के हृदय में कौतूहल का वह भाव उदित ही नहीं होता। उपन्यासों की यह व्याख्या साहित्य की दृष्टि से कितनी ही निम्न कोटि की क्यों न हो—क्योंकि उसमें उपन्यास पर केवल कथा की दृष्टि से विचार किया गया है—परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि सभी उच्च कोटि के उपन्यासों में यह विशेषता अवश्य रही है।

अब हम उपन्यासों के कथा भाग का विश्लेषण कर देखें कि किस प्रकार उपन्यासकार अपने पाठकों की कौतूहल-वृद्धि करने में समर्थ होता है। मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि जो बात हम जानते हैं उसे जानने के लिए हम लोगों को कौतूहल नहीं होता। यह बात सभी जानते हैं कि नदी में जल होता है। इस लिए यदि कोई आकर हमसे कहे कि अमुक नदी में जल है तो हमें कौतूहल नहीं होगा। परन्तु मान लीजिए कि गर्मी के कारण सभी नदियाँ सूख गई हैं। उस समय यदि हम यह सुनें कि किसी नदी में जल है तो हमें अवश्य कौतूहल होगा। मतलब यह कि असाधारणता से कौतूहल का भाव उत्पन्न होता है। हम जैसा जानते हैं, जैसा सोचते हैं, जैसा देखते हैं, ठीक वैसी ही बात होने पर हमारा चित्त उसकी ओर कभी आकृष्ट नहीं होगा।

परन्तु यदि उसके विपरीत कुछ भी हुआ तो हमारा ध्यान उसकी ओर अवश्य जायगा। यही कारण है कि उपन्यासकार अपने कथा-भाग में केवल उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है जिनमें कुछ असाधारणता होती है। चार पाँच सौ पृष्ठों में उपन्यासकार किसी मनुष्य के १५,२० वर्षों का हाल बता जाता है। यदि उपन्यासकार यह चेष्टा करे कि वह अपने पात्र के जीवन के एक एक दिन की छोटी-बड़ी सभी घटनाओं को बतलाये तो कई हजार पृष्टों में भी उसका उपन्यास समाप्त नहीं होगा और उसमें कौतूहल की कोई सामग्री भी न रहेगी। इसलिए वह उसके जीवन की कितनी ही घटनाओं को छोड़ कर कुछ ही घटनाओं को वर्णन करता है। जिन घटनाओं को वह चुनता है उन्हीं में उसका नैपुण्य प्रकट होता है। घटनायें ऐसी होनी चाहिए जिनसे उपन्यास के पात्र के समस्त जीवन का हमें ज्ञान हो जाय और हमारे कौतूहल का भी भाव बना रहे। किन घटनाओं से व्यक्तित्व का विकाश होता है, किन से चरित्र की विशेषता प्रकट होती है, यह न जानने से छोटे छोटे लेखक कितनी ही असम्बद्ध बातें उपन्यास में लिख जाते हैं। सारांश यह कि उपन्यास में हम कालक्रम से घटनाओं का वर्णन करते हैं परन्तु उसके साथ ही महत्ता के विचार से ही हम कुछ ही घटनाओं को चुनते हैं और अवशिष्ट बातों को बिलकुल ही छोड़ देते हैं।

अब हमें असाधारणता पर कुछ विचार कर लेना चाहिए। कहना नहीं होगा कि उपन्यासकार कल्पना के द्वारा कितनी ही घटनाओं की सृष्टि करता है और पाठक उन घटनाओं पर बिलकुल विश्वास कर लेता है। सहस्र-रजनी-चरित्र में ऐसी कितनी ही घटनायें हैं जिन पर आधुनिक युग के सभी लोग विश्वास नहीं करेंगे। इसलिए यदि आधुनिक युग का लेखक उन्हीं घटनाओं के द्वारा पाठकों की कौतूहल-वृद्धि करना चाहे तो उसकी चेष्टा विफल होगी। घटनायें असाधारण होने पर भी ऐसी होनी चाहिए कि उनकी सम्भावनीयता में पाठकों को कभी संदेह न हो। यों तो संसार में सभी बातें सम्भव हैं परन्तु लेखक को वैसी ही घटनाओं का वर्णन करना चाहिये जिनके होने की अधिक सम्भावना है। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध लेखक स्टीवेन्सन साहब ने कुछ कहानियां लिखी हैं। उनका नाम उन्होंने रक्खा है 'नव-आख्योपन्यास। प्राचीन आख्योपन्यास की घटनायें अब हमें अतिरंजित मालूम पड़ती हैं। पर उन दिनों के लोगों के लिए ये घटनायें अतिरंजित नहीं, सर्वथा विश्वसनीय थीं। तत्कालीन लोगों की रुचि और विश्वास के आधार पर ही शाहज़ादी ने उन घटनाओं का वर्णन किया था। स्टीवेन्सन साहब ने वैसी ही विस्मयजनक घटनाओं का वर्णन किया है, परन्तु उनके होने की सम्भावना में पाठकों को संदेह नहीं हो सकता क्योंकि लेखक ने उनकी रुचि और विश्वास पर विचार कर उनकी सृष्टि की है।

उपन्यासों में सभी समय जीवन के आदि से लेकर अंत तक की घटनायें वर्णित नहीं होतीं, प्रायः जीवन के बीच की ही कुछ बात बतलाकर छोड़ दी जाती हैं। आदि और अन्त की बातें पाठक अपनी ही कल्पना के द्वारा बना लेते हैं। सच पूछिए तो उन बातों को जानने की उन्हें जरूरत भी नहीं होती। पाठकों के कौतूहल वृत्ति की तृप्ति जितनी बातों से हो सकती है, उनसे अधिक बातें उन्हें बतलाने से विरक्ति होती है। कथा-भाग की यह विशेषता किसी भी उपन्यास को चित्ताकर्षक बना लेती है। परन्तु पाठकों पर इसका स्थायी प्रभाव कभी नहीं पड़ता। उसके लिए तो आख्यान-वस्तु की विशेषता और चरित्र-सृजन की कुशलता चाहिए। उपन्यासकारों की महत्ता इसी पर अवलम्बित है।

आख्यायिका-लेखकों में पहला गुण होना चाहिए उदात्त कल्पना-शक्ति। घटना चाहे जैसी हो, वह अपनी इसी शक्ति के द्वारा विशेषता ला सकता है। हम अपने पाठकों के लिए यहाँ एक समस्या दिये देते हैं।—

हिन्दू-कन्या-पाठशाला में रमा उमा की छाया की तरह रहती थी। जहाँ उमा जाती वहाँ रमा जाती। जो उमा कहती उसे वह करती। रमा उमा की सहचरी थी और आज्ञानुवर्तिनी। उमा का भी उस पर बड़ा स्नेह था। वह अपनी इस सखी का साथ कभी नहीं छोड़ती थी। सच तो यह है कि उन दोनों का रूप-रंग, चाल-ढाल, रहन-सहन और स्वभाव भी एक समान था और

प्रेम भी उन लोगों में ऐसा था जो प्रायः सगी बहनों में भी नहीं पाया जाता। किन्तु इसी कारण उनकी मित्रता इतनी अधिक प्रसिद्ध नहीं हो गई। उमा के पिता पण्डित ओङ्कारनाथ जी एक कट्टर एवं उत्साही आर्यसमाजी थे। इन्होंने अपने ही उद्योग से अपने नगर में एक आर्यसमाज-सभा स्थापित कर ली थी। यह देख कर रमा के पिता रामकृष्ण शर्मा का धार्मिक आवेश भी जोर मारने लगा। ये कट्टर सनातन-धर्मी थे। इन्होंने भी नगर में एक सनातनधर्म-सभा की नींव डाली। प्रतिवर्ष दोनों सभाओं के वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से होने लगे। पर थोड़े ही दिनों में इस धार्मिक स्पर्द्धा ने द्वेष का रूप धारण कर लिया। यहाँ तक कि एक दिन मूर्त्ति-पूजा पर वाद-विवाद करते हुए इन दोनों में खासा झगड़ा हो गया। एक दूसरे को अपना परम शत्रु समझने लगे। पण्डित ओङ्कारनाथ नगर के प्रतिष्ठित वकील थे और रामकृष्ण शर्मा प्रतिष्ठित रईस। दोनों के पास काफी बल था। इसलिए किसी को प्रकट रूप से एक दूसरे पर आक्रमण करने का साहस नहीं होता था। पर गुप्त रूप से निन्दा किये बिना किसी को नींद नहीं आती थी।

इसी समय बारह वर्ष की अवस्था में अँगरेजी पढ़ने के लिए रमा ने हिन्दू-कन्या-पाठशाला में प्रवेश किया। उस समय उमा आठवें दर्जे में पढ़ रही थी। पहले ही दिन से इन दोनों में ऐसा स्वाभाविक आकर्षण हुआ कि एक दूसरे पर अनुरक्त हो गईं।

दोनों सदैव पास ही पास बैठतीं और खूब घुल-घुल बातें करतीं। यदि संयोग से किसी दिन कुछ झगड़ा भी हो जाता तो दूसरे दिन वह अपने आप निपट जाता। उन्होंने कभी एक दूसरे की किसी तीसरी लड़की से शिकायत नहीं की। दोनों एक मन और दो प्राण हो रही थीं। धीरे धीरे वे एक दूसरे के घर जाने-आने लगीं। पहले अभिभावकों की ओर से कुछ ऐसा यत्न भी हुआ कि यह मैत्री टूट जाय तो अच्छा। पर उसको कौन तोड़ सकता था! वह प्रतिरोध के कारण और भी दृढ़ होने लगी। यहाँ तक कि उसने धीरे धीरे उन दोनों घरानों की स्त्रियों में कुछ सौहार्द सा स्थापित कर दिया। स्त्रियाँ एक दूसरे के घर आने-जाने लगीं। फिर क्या था? कालान्तर में पण्डितजी और शर्माजी को भी अपना हठ छोड़ना पड़ा। दोनों के हृदय की कटुता जाती रही और दोनों ने ही अपनी अपनी भूल पर पश्चात्ताप किया। पक्षपात का स्थान उदारता ने ग्रहण कर लिया। दोनों ही रमा और उमा को साक्षात् लक्ष्मी का अवतार समझते थे, जिनके कारण उन्हें सहिष्णुता का आनन्द प्राप्त हुआ था।

कुछ समय के बाद रमा का विवाह इलाहाबाद के एक बड़े वकील के लड़के के साथ निश्चित हुआ। लड़के का नाम बालकृष्ण था। वह एम० ए० में पढ़ रहा था। विवाह की सभी बातें ठीक हो गई थीं। यहाँ तक कि दिन भी निश्चित हो गया। परन्तु न जाने क्या बात हो गई कि बालकृष्ण से रमा का विवाह

न हो सका, उमा का विवाह हुआ। रमा ने अपने पिता को उस दिन अपनी मा से यह कहते सुना—देखा, लड़की को बी० ए० पढ़ाने के शौक़ से इतने दिनों तक कुँवारी ही रक्खा और जब विवाह की चिन्ता हुई तब मुझी को धोखा दे कर वाजपेयीजी ने अपनी सारी कुलीनता प्रकट कर दी। खैर, मैं भी देखूंगा। विवाह के दिन रमा ने बालकृष्ण को देखा। उस समय उसके हृदय में न जाने एक कैसा भाव हुआ। उसने किसी तरह अपने हृदय के भाव को छिपा लिया। इसके कुछ ही दिन के बाद उसका विवाह आगरा, कालेज के एक प्रोफेसर के लड़के हरिकृष्ण के साथ हो गया और वह आगरा चली गई।

आगरे में कभी कभी उमा का पत्र आता था और तब उसकी आँखों के सामने एक हँसमुख युवक की सरल छवि आ जाती और वह एकान्त में उमा के जीवन की कल्पना किया करती। आगरे में हरिकृष्णजी का बड़ा परिवार था। उनसे बड़े तीन भाई और थे। एक छोटा भाई भी था। उनके लड़के-बच्चों के कारण सारे घर में दिन भर शोर-गुल मचा रहता था। उमा के पत्रों में रमा उसके शान्तिमय जीवन का परिचय पाती। धीरे धीरे १० साल बीत गये।

× × ×

क्रिसमस-सप्ताह भारतवर्ष में भी बड़े आनन्द का समय होता है। ईसाइयों का तो वह सबसे बड़ा त्योहार ठहरा। पर रेलवे-

किराये में कुछ रियायत हो जाने के कारण यात्रियों को देशाटन करने में विशेष सुभीता होता है। सरकारी दफ्तरों में लम्बी छुट्टी होने के कारण सर्वत्र सभा-समितियों की धूम मच जाती है। इसके अतिरिक्त इन दिनों का जलवायु शायद वर्ष भर में सर्वोत्तम होता है। इसीलिए रमा भी अपने पतिदेव एवं छोटे भाई के साथ दिल्ली से पुरी के लिए रवाना हुई। उसके पति बैरिस्टर हो चुके थे। बैरिस्टर साहब का सदैव सेकेण्ड क्लास में यात्रा करने का नियम था। पर वास्तव में सेकेण्ड क्लास की यात्रा थर्ड क्लास की यात्रा के समान मनोरञ्जक नहीं होती। न तो उसमें उतनी रापशाप, न हँसी-दिल्लगी और न लड़ाई-झगड़ा ही होता है। चढ़ने के समय तो प्रत्येक यात्री यही कहता है कि डिब्बा बिल्कुल खाली है, किन्तु दूसरे ही क्षण वह उसे ठसाठस भरा हुआ मालूम होने लगता है। रमा और उसके साथी डिब्बे में प्रायः चुपचाप से बैठे थे। कभी कोई समाचार-पत्र पढ़ता या कोई पुस्तक अथवा कभी खिड़की से मुँह निकाल कर सुन्दर और लहलहाते हुए खेतों का दृश्य देखने लगता। पर जब इससे भी जी ऊब जाता तब कुछ बात-चीत करने की कोशिश की जाती। बात ही बात में रमा को उमा की याद आ गई। रमा ने कहा—रामू (उसके छोटे भाई का नाम रामचन्द्र था, पर वह प्रेमवश अब भी उसको रामू रामू कहा करती थी) जरा टाइमटेबिल में देख तो सही कि इलाहाबाद से कौन कौन समय गाड़ियाँ जाती हैं। जब कल हम लोगों को

इलाहाबाद ठहरना ही है तब फिर मैं उमा से क्यों न मिल लूँ। रामचन्द्र टाइमटेबिल देखने लगा। और फिर बोला—एक गाड़ी शाम को ६ बजे और दूसरी दिन के १२ बजे जाती है और एक गाड़ी रात्रि के १० बजे और दूसरी दिन के १० बजे वहाँ से आती है।

रमा की आँखों से उमंग की किरणें सी निकलने लगीं। उसका चेहरा खिल उठा, जिससे उसके पति और भाई की स्थिरता भंग हो गई। उसका क़द मंझोला और शरीर सुडौल था। चैतन्यता भी उसमें काफ़ी थी। अवस्था बढ़ जाने पर भी उसके मानसिक आवेगों में रत्ती भर की कमी नहीं हुई थी। अब भी वह छोटी लड़कियों के समान हठीली थी। पतिदेव के साथ वाक्‌युद्ध करना तो उसका स्वभाव हो गया था। वह जो चाहती थी सो करा लेती थी। इसीलिए उसने निश्चयात्मक रूप से कहा—अच्छा, तो मैं आज ही शाम को उमा से मिलने जाऊँगी।

हरिकृष्ण के मुख से सहसा निकल पड़ा—उमा से मिलने, कहाँ? रमा ने कहा—झूँसी। हरिकृष्ण रमा के कार्यों में अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे, हाँ यदि वे सर्वथा अनुचित न हों। परन्तु रमा का यह निश्चय सुन कर वे कुछ उद्विग्न से हो उठे। उन्होंने दृढ़ता के साथ कहा—पर रात में लोगों से मिलने जाना तो ठीक नहीं।

"किन्तु उमा की गिनती लोगों में नहीं है।"

"यह ठीक है, पर हम लोग कुछ इलाहाबाद तो जा नहीं रहे हैं, यों ही १२ घन्टे वहां ठहरना है। मान लो, यदि हम वहाँ न ठहरते तो।"

रमा ने बीच ही में बातें काट कर कहा—मान कैसे लें? आदमी भी बड़े विचित्र होते हैं। इलाहाबाद तो जा रहे हैं, पर कहते हैं, मान लो, इलाहाबाद नहीं जा रहे हैं। यह कैसे सम्भव है कि मैं इलाहाबाद जाऊं और उमा से न मिलूं, जिसे मैंने १२ साल से नहीं देखा है। वह भी जानेगी तो क्या कहेगी।

"पर उसको इसका पता ही कैसे चलेगा।"

"यह खूब कहा। स्त्रियाँ पुरुषों के समान झूठ नहीं बोल सकतीं।"

हरिकृष्ण ने भी अट्टहास करके कहा—सुना रामू, यह लाञ्छना, पुरुष झूठे और स्त्रियाँ सची! यह कब से? लेकिन रामू, यह सब तुम्हारे बल पर है। यदि में तुम्हारी जगह होता तो फिर मैं देखता कि ये कैसे वहाँ जातीं।

रमा ने अपनी जगह से उठकर रामू की पीठ पर हाथ रखकर कहा—चलिए, रामू ऐसा शून्य हृदय नहीं है। उमा मेरी सब से प्यारी सखी है। कितने दिनों से उसे नहीं देखा है। एक युग हो गया है।

हरिकृष्ण चुप हो गये। उन्होंने सोचा—झगड़ा करने से क्या फ़ायदा, रमा तो अपना हठ छोड़ने वाली नहीं। इधर रमा

उमा की प्रशंसा के पुल बाँध रही थी। रामू बीच बीच में हाँ-हाँ करता जाता था। रमा बोली—झूँसी बहुत ही अच्छी जगह है। क्या ही अच्छा होता कि हम सब इलाहाबाद न ठहर झूँसी में ही ठहरते।

हरिकृष्ण ने एकाएक पूछा—लेकिन कम से कम रात्रि के समय तो वहाँ जाना ठीक नहीं। अँधेरी रात्रि में उसका मकान ढूँढ़ना ही मुश्किल हो जायगा। रमा ने तुरन्त उत्तर दिया—नहीं, नहीं, मकान ढूँढ़ना बिलकुल आसान है। उसने मुझे अपने मकान का फोटो भी भेजा था। पिछले पत्र में तो उसने झूँसी की प्राकृतिक छटा का वर्णन किया था। उसीका उपभोग करने के लिए उन लोगों ने वहाँ गंगा के किनारे रेलवे-पुल के पास एक छोटा सा बंगला बनवाया है। स्टेशन से कोई १० मिनट का रास्ता है।

हरिकृष्ण कुछ और प्रश्न करना चाहते थे। पर इतने में गाड़ी की चाल धीमी हो गई। इलाहाबाद का स्टेशन आ पहुँचा। उतरने की तैयारी होने लगी। अन्त में यही निश्चय हुआ कि हरिकृष्ण तो अभी से सीधे अपने मित्र सुबोधचन्द्र बोस के यहाँ चले जायँ और रमा और रामू झूँसी घूम कर रात्रि को वहीं वापस आ जायँ। चलते समय उन्होंने इतना बेशक कहा—देखो, रात्रि में वहाँ हर्गिज न ठहरना।

× × ×

जब तक रमा झूंसी स्टेशन पर नहीं उतरी तब तक उसके उत्साह का पारा बराबर ऊपर चढ़ता ही रहा। उसको ऐसा हर्ष हो रहा था, मानो उमा से उसका साक्षात् होगया हो। जिस उमा के साथ वह बारह वर्ष पहले खेला करती थी वही उमा उसकी आँखों के सामने नाचने लगी। उसने आध घंटे के बीच उन दिनों की कितनी बातें सोच डालीं। किन्तु ज्योंही उसने स्टेशन से बाहर निकल कर उमा के बंगले की खोज में क़दम बढ़ाया, त्योंही उसके हृदय में एक विचित्र प्रकार के भय और संशय का संचार होने लगा। वह सोचने लगी—मैं पहले पहल उससे क्या कहूँगी? कहीं वह पहले की तरह मुझसे प्रेम-पूर्वक बात-चीत न कर सकी अथवा मेरे हृदय में ही कुछ ग्लानि पैदा हो गई तो बड़ी कठिन समस्या होगी। उसने ज़ोर से कहा—रामू, तुम बात-चीत करने में बड़े चतुर हो। यदि मैं कुछ झिझक जाऊँ तो तुम बातचीत का सिलसिला न तोड़ना।

रमा के छोटे से हृदय में भयंकर हलचल मच गई। उसे ऐसा मालूम होने लगा कि शायद मुझे अपने जीवन में कभी ऐसे संकटापन्न कार्य का सामना करने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं उनकी बात मान जाती और यहाँ आने का दुस्साहस ही न करती। मान लो, यदि उमा ने मेरे साथ कुछ रूखा व्यवहार किया तो—हे ईश्वर, मेरे मन की उमा और वास्तविक उमा में कोई अन्तर न हो!

उसे एक एक क़दम उठाना कठिन हो रहा था। एक एक पल घंटों के समान बीतता था। हृदय में भीषण खलबली मची हुई थी कि इतने ही में रामू ने कहा—मुझे तो यही उमा का बँगला मालूम होता है। पुकार कर देखता हूँ कि कोई अन्दर है या नहीं? रमा ऐसी चौंकी जैसे कोई सोते से एकाएक जगा दिया गया हो। यद्यपि चारों ओर निर्मल चाँदनी छिटक रही थी, तथापि वहाँ की प्रगाढ़ शान्ति उसके हृदय को अधिकाधिक नीचे दबा रही थी। जो बँगला फोटो में उसे इतना अच्छा मालूम हुआ था वह अब ऐसा भद्दा मालूम हुआ कि उसने उसके बनानेवाले के प्रति भी उसके हृदय में कुछ अश्रद्धा सी पैदा कर दी। उसे यह मालूम था कि यह स्वयं उमा के पति के हाथों की कृति है। क्या यही इञ्जीनियरी का नमूना है? अच्छा हुआ जो मैंने अपने पति से यहाँ आने के लिए अधिक आग्रह नहीं किया। इसे देखकर वे क्या कहते? वह रामू, से कहने ही वाली थी कि चलो चलें, व्यर्थ ठहरने से क्या लाभ। इतने ही में धीरे से दरवाजा खुलने की आहट हुई। उस आवाज़ को सुनते ही उसका दिल और भी बैठ गया। वह चाहती थी कि अन्दर कोई न होता तो बड़ा अच्छा होता। क्या हरिकृष्ण उसकी इस इच्छा पर विश्वास कर सकते थे? और तब—

× × ×

और तब क्या होना चाहिए, इसका निर्णय-भार हमें मनस्तत्त्व के ज्ञाताओं पर छोड़ना चाहिए। कहा जाता है कि आख्यायिका-लेखक मनुष्यों के अन्तस्तल तक जाकर उनके सारे गुप्त भाव खींच लाते हैं। जिनमें यह शक्ति है वे कम से कम उमा की सखी के अज्ञात जीवन का रहस्य तो सोच ही सकते हैं। कथा-प्रेमियों के लिए यह कथा यहीं असमाप्त छोड़ दी जाती है। अधिक सम्भव यह है कि उमा अपनी सखी का जीवन देखकर बिलकुल निराश हो गई हो पर जिनमें कल्पना-शक्ति है वे क्या सखी का जीवन दूसरे ढंग से अङ्कित नहीं कर सकते।

